ऋग्वेद में लौकिक सामग्री

(Secular Matter in Ṛgveda)

डा० (श्रीमती) रमन पाल
प्रवक्ता संस्कृत विभाग
एम० एम० एच० कालेज गाजियाबाद

इण्डो-विजन प्राईवेट लिमिटेड
II ए २२० नेहरू नगर गाजियाबाद–२०१००१

ऋग्वेद मे लौकिक सामग्री

(Secular Matter in Ṛgveda)

लेखिका—डा० (श्रीमती) रमन पाल

१९८८

मूल्य—१५० रु०

ISBN—81 7105 024 7

प्रकाशक—इण्डोविजन प्राइवेट लिमिटेड

II ए २२० नेहरू नगर, गाजियाबाद ०१००१

दूरभाष ८–४६३२८

मुद्रक—तथागत प्रिंटिंग प्रेस

II सी ५१, नेहरू नगर, गाजियाबाद

किञ्चित्प्रास्ताविकम्

ऋग्वेद मे धार्मिक एव दार्शनिक चिन्तन ये दोनों ही विषय अत्यधिक चर्चा के विषय रहे हैं किंतु लौकिक सामग्री का अध्ययन प्राय उपेक्षित सा रहा है, यद्यपि प्राचीन भारत और भारतीय इतिहास की पुस्तको मे भारतीयो के सामाजिक सग-ठन का निरूपण किया गया है किंतु मात्र विहगम दृष्टि से।

भारत के इतिहास में वैदिक युग की सस्कृति का अपना अलग महत्त्व है। उत्तरकालीन पुराणो, महाकाव्यों और लौकिक साहित्य मे वर्णित कतिपय विश्वासो और प्रथाओ के बीज ऋग्वेद मे मिलते हैं। जब इन विश्वासों और प्रथाओं का विस्तृत अध्ययन करना होता है तो उनका वदिककालीन स्वरूप क्या था, वतमान से उनके स्वरूप मे कितना परिवतन हुआ इस सम्पूर्ण जानकारी और तुलनात्मक अध्ययन हेतु वदिक वाङमय का सास्कृतिक दष्टि से विश्लेषण निता त महत्त्वपूण है। इस देश के बहुसख्यक निवासी ऐसे धर्मों एव सम्प्रदायो के अनुयायी हैं, जो अपने मन्तव्यो दाशनिक सिद्धान्तो पूजापाठ की विधि और आचरण के नियमो आदि के लिये वदो से प्रेरणा प्राप्त करते हैं और उन्हें प्रमाण रूप में स्वीकार करते हैं।

अनेक विद्वानो ने ऋग्वेद का सास्कृतिक दष्टि से अध्ययन किया है। यद्यपि प्रो० घाटे ने 'घाटेज लैक्चस प्रान ऋग्वद' मे, प्रो० केगी ने दी ऋग्वेद में प्रो० मक्डानल और कीथ ने वदिक इण्डक्स ऑफ नेम्स एण्ड सब्जैक्टस' मे डॉ० जे मूर ने ओरिजनल सस्कृत टक्स्टस मे श्री रागोजिन ने वदिक इण्डिया मे एव जिमर ने आल्ट इण्डिशे लेबेन मे वदिक आर्यों की सामाजिक स्थिति का चित्र प्रस्तुत किया है किंतु उनकी कृतियो मे ऋग्वेद के लौकिक पक्ष का अध्ययन प्राय विहगम दष्टि से ही किया गया है इसके गम्भीर और समग्र अध्ययन का अभाव है। ऋग्वदिक साक्ष्यो के आधार पर लोक-सस्कृति से सम्बद्ध विषय-सामग्री प्रस्तुत अध्ययन की वण्य-सामग्री है।

जनसाधारण के उद्देश्य कार्य कलाप नतिक आचरण और उनकी विचार धारा से सम्बन्धित सामग्री 'लौकिक सामग्री कहलाती है। प्रस्तुत ग्रथ मे ऋग्वदिक जनसाधारण के जीवन के विविध पहलुओ पर प्रकाश डाला गया है। लौकिक सामग्री मे प्रमुखत वह सामग्री आती है, जिसका सम्बन्ध देवताओ से या दशन से नही है यथा—ऐतिहासिक, नतिक, मनोरञ्जन, जादू आदि। ऐतिहासिक सूक्तों मे आर्यों के विषय मे वर्णन प्राप्त होते हैं तथा दान स्तुतियो मे राजाओ की वश परम्पराओ का ज्ञान होता है। आचरण विषयक पर्याप्त सामग्री ऋग्वैदिक आर्यों के सदाचार और अनाचार को प्रकाशित करती है। उपदेशात्मक सूक्तो के अन्तर्गत अक्ष सूक्त मे जुआरी की मानसिक स्थिति की सुन्दर झलक प्राप्त होती है, जिसको

एक विशिष्ट काल मे नहीं अपितु सार्वकालिक स्थिति के रूप मे देखा जा सकता है। प्रहेलिकायें बौद्धिक व्यायाम के साथ साथ तत्कालीन सामाजिकों की रोचकता और हास्यप्रियता का परिचय देती है। जादू सम्बन्धी मत्रो मे निम्न स्तरीय जन जीवन के विश्वासो की झलक प्राप्त होती है। सस्कार सम्बन्धी सूक्तो मे उस काल की अन्त्येष्टि प्रथा पर प्रकाश पडता है।

प्रस्तुत शोध-ग्रन्थ को प्रारम्भ कराने का श्रेय डॉ० जयचन्द राय प्रधानाचार्य एम० एम० एच० कालेज को है जिनका निरन्तर प्रोत्साहन मेरी प्रेरणा का सम्बल बना। डॉ० महेश चन्द्र भारतीय, अध्यक्ष एम० एम० एच० कालेज गाजियाबाद से समय समय पर प्राप्त विचार सरणी डॉ० मोहम्मद इजराइल खा रीडर दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली के निर्देशात्मक-परामर्श और डा० कर्णसिह अध्यक्ष मेरठ कालेज, मेरठ का निर्देशन मेरे इस कार्य को सफल बना सके। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसधान और प्रशिक्षण परिषद् का वित्तीय अनुदान सहयोग अविस्मरणीय है। इण्डोविजन प्रा० लि०' ने इस पुस्तक को प्रकाशित किया इस सहयोग के लिये मैं इस सस्था की आभारी हू।

—रमन

अप्रतिम वात्सल्यमय एव मेरे प्रेरणास्रोत

परमपूजनीय पिताश्री

श्री जे० डी० सिंहल जी के

श्री चरणों मे

सादर समर्पित

विषयानुक्रमणिका

संकेत-सूची

अथर्व०)
अथ०) —अथर्ववेद

अ० पु०—अग्नि पुराण

अभि० शा०—अभिज्ञान शाकुन्तलम्

अत्रि स्म०—अत्रि स्मति

आ० ध० सू)
आप० धम०) —आपस्तम्ब धर्मसूत्र

ऐ० ब्रा० — ऐतरेय ब्राह्मण

गौ० धम० — गौतम धर्मसूक्त

त० ब्रा० — तत्तिरीय ब्राह्मण

त० स० — तत्तिरीय सहिता

निरु० — निरुक्त

नि० — निघण्टु

परा० स्म०—पराशर स्मति

बौ० धम०—बौधायन धमसूत्र

मनु-स्म० — मनुस्मति

महा० — महाभारत

म० म० — मत्रायणी सहिता

या० स्म० — याज्ञवल्क्य स्मति

वसि० ध० सू०—वसिष्ठ धममूत्र

वा० स० — वाजसनेयी सहिता

व० ध० सू०—वशेषिक धम सूत्र

श० ब्रा०—शतपथ ब्राह्मण

सा० भा०—सायण भाष्य

ऋ० पा० स०—ऋग्वेद मे पारिवारिक सम्बन्ध

दि०मिरे०—दि० मिरेकुलस एण्ड मिस्टीरियस इन ऋग्वेद

१ भूमिका

ऋग्वेद ऋचाओ का समुच्चय है। ये ऋचाय ऋग्वैदिक कवियो के भावो और विचारो की नसर्गिक अभिव्यक्तियाँ हैं। ऋक शब्द का अथ है—जिससे स्तुति की जाए।[1] इस प्रकार ऋग्वेद के नाम से ही इस वेद के विषय का आभास हो जाता है। ऋग्वेद मे ऋषि शब्द का प्रयोग प्राय सवत्र अन्त प्रेरित कवि के अर्थ मे ही हुआ है।[2] इस वेद की ऋचायें भावुक कवियो के हृदय से निर्बन्ध और वेग से स्फुरित अनुभूतिया हैं।

ऋग्वेद का वर्ण्यविषय—

ऋग्वेद के विषय के सम्बन्ध मे भिन्न भिन्न मत हैं। कुछ लोग इसमे साधारण प्रतिभा वाले लोगो की सीधी सादी और स्वाभाविक धार्मिक प्रार्थनायें मानते हैं और कुछ इसमे ईश्वरीय ज्ञान का होना स्वीकार करते हैं। ऋग्वेद के गहन और आलोचनात्मक अध्ययन मे प्रवृत्त होने पर इसके प्रतिपाद्य विषय को तीन भागो मे विभक्त कर सकते है धार्मिक दार्शनिक एव लौकिक।

(अ) **धार्मिक विषय**—धार्मिक ढग मे निश्चित देवो को सम्बोधित तथा उनका स्तवन करने वाले तथा उनमे धन सन्तति पशु आदि की प्राथना से युक्त सूक्त सम्मिलित है। जीवन के विकास की तथा वयक्तिक कल्याण कामना की इसी स्वाभाविक प्रवृत्ति ने प्राकृतिक पदार्थों और शक्तियो के प्रति श्रद्धा भाव तथा पूजावृत्ति को जन्म दिया।[3] इस प्रकार प्रकृति मे दिव्य शक्तियो की अनुभूति और दिव्य शक्तियो के प्रति पूजा भावना जीवन की पहेली को सुलझाने की स्वाभाविक प्रक्रिया थी। धम के अन्तगत एक ओर तो दिव्य अथवा अलौकिक शक्तियो पर निभर मानव की धारणाय आती हैं और दूसरी ओर इन शक्तियो पर निभर मानव कल्याण की वह भावना जो विभिन्न उपासना पद्धतियो मे व्यक्त होती है। ऋग्वेद हमारे समक्ष प्राकृतिक घटनाओ के मूर्त्तीकरण और उपासना पर आधारित विश्वासो की उत्पत्ति का एक आरम्भिक चरण प्रस्तुत करता है। इसी प्राचीनतम

---

१ निरुक्त १२।७

२ ।एन इन्स्पायड पोइट आर सेज मोनियर विलियम्स सस्कृत इगलिश डिक्शनरी
An Inspirsd poet or sage द्रष्टव्य वणक्रमानुसार।

३ ऋक १।८५।११ ५।११।१

४ the vivid imagination of the fresh aryan mind recognised some mysterious unseen powers This was essentially a correct vision a right and prophetic intuition of the human mind towards the solution of the riddle of existance
शकुन्तला राव शास्त्री एवसपायरेशन्स फ्रोम एशेन्श वर्ड प० २८।

सामग्री मे अधिकाश भारतीयो के धार्मिक विश्वासो के अविच्छिन्न विकास के चिन्ह देखे जा सकते हैं।[1]

(आ) दार्शनिक विषय

(क) दर्शन का अर्थ— दृश्यते अनेन इति दर्शनम् जिससे देखा जा सके वह दर्शन है। वस्तुत इस विश्व मे समस्त स्थूल एव सूक्ष्म पदार्थों को देखने के लिए मानव के नेत्र पर्याप्त नही है। समस्त पदार्थों का वास्तविक तात्विक स्वरूप जानने के लिए दर्शन शास्त्र की आवश्यकता पडी। डा० गणेश दत्त शर्मा के अनुसार— दर्शन वह साधन है जिसके द्वारा स्थूल सूक्ष्म भौतिक आध्यात्मिक अथवा जड चेतन जगत् के सत्यभूत तात्त्विक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त किया जाये।'[2]

ऋग्वेद मे दार्शनिक सूक्तो की सख्या स्वल्प है। दर्शन शास्त्र का मूल ही सन्देह एव जिज्ञासा की भावना मे होता है। ऋग्वेदिक ऋषि जिन देवताओ के प्रति स्तवनशील रहे उनके प्रति सशय की भावनाये ऋग्वेद के सूक्तो मे स्पष्ट रूप से मिलती है। मै कौन हूँ ? जीवात्मा और परमात्मा मे क्या सम्बन्ध है ? मृत्यूपरान्त क्या होना है ? ऋग्वेद मे भी इन प्रश्नो का रूप उभर कर आया है।

(इ) लौकिक-विषय

(क) लौकिक का अर्थ—लौकिक का अर्थ है— लोक से सम्बद्ध। लौकिक शब्द लोक से ठ प्रत्यय (सम्बन्ध अर्थ) लगाने मे बनता है। जनसाधारण के उद्देश्य उनके दुख सुख कार्य कलाप और उनकी विचारधारा से सम्बन्धित साहित्य लोक साहित्य कहलाता है। किसी भी समाज मे प्रचलित प्रथाओ से सस्कारो से, आचार विचारो से और रहन सहन के प्रकार से तत्कालीन सभ्यता का बोध होता है। ऋग्वेद देवोपाख्यान और धर्म की दृष्टि से सर्वोपरि ग्रथ है, किन्तु इन विषयो के अतिरिक्त उसमे अन्य सामग्री भी विद्यमान है जो तात्कालिक जन समाज से सम्बद्ध विषय का ज्ञान कराती है। इसमे ऋग्वेदिक आर्यों का दैनिक जीवन और सामाजिक प्रथाये आती है। लौकिक विषय से तात्पर्य है—ऋग्वेदिक जनसाधारण के जीवन के विविध पहलुओ का वर्णन। इसका उद्देश्य किसी विशिष्ट वर्ग की विचारधारा की गहनता को प्रस्तुत करना नही है। धर्म के अतिरिक्त लोक से सम्बन्धित साधारण दैनिक आचार विचार और प्रचलित प्रथाये लौकिक सामग्री के अन्तर्गत आती है।

ऋग्वेद मे लौकिक सामग्री को धार्मिक सूक्तो से सर्वथा अलग करना तो कठिन है किन्तु ऐसी सामग्री की यत्र तत्र प्रचुरता है जो तत्कालीन जनमानस की विचारधारा और स्तर का बोध कराती है।

---

१ ए० ए० मैक्डानल वैदिक माइथोलाजी (हिन्दी अनुवाद) पृ० २३।

२ डा० गणेशदत्त शर्मा—ऋग्वेद में दार्शनिक तत्व पृ० ६

घाटे महोदय ने लौकिक सूक्तों की परिभाषा करते हुए लिखा है कि—'लौकिक सूक्तो से हमारा अभिप्राय उन्ही से है जिनसे विशेष रूप से देवो को संबोधित न किया गया हो।"[1] उदाहरणार्थ उन्होने विवाह[2] और अन्त्येष्टि[3] संस्कारा से सम्बद्ध सूक्तों को प्रस्तुत किया है जिन्हे अंशत धार्मिक और अंशतः लौकिक कहा है।[4] इसी कथन की पुष्टि केगी महोदय ने भी अपनी पुस्तक मे की है। उनके अनुसार वैवाहिक और अन्त्येष्टि संस्कार से सम्बद्ध आंशिक रूप से लौकिक सूक्त सभ्यता के इतिहास मे एक महत्वपूर्ण भूमिका रखते हैं।[5]

अनेक विद्वानो ने ऋग्वेद का सांस्कृतिक दृष्टि से अध्ययन किया है। प्रो० घाटे[6] केगी[7] प्रो० मैक्डानल और कीथ[8] डा० जे० मूर[9] रागोजिन[10] और जिमर[11] ने अपनी अपनी पुस्तको मे वैदिक आर्यों की सामाजिक स्थिति का चित्र प्रस्तुत किया है। प्राचीन भारत और भारतीय इतिहास की पुस्तकों मे भी भारतीयो के सामाजिक सगठन का निरूपण किया गया है।

(ख) विषय का महत्त्व—ऋग्वेद इण्डो यूरोपियन जाति का प्राचीनतम ग्रथ है। यह भारतीय आर्यों के जीवन मात्र का ही प्राचीनतम परिचायक नही है अपितु मूल इण्डो यूरोपियन जाति का भी प्राचीनतम परिचायक है। वेद म प्रतिभासित आर्यों का सामाजिक जीवन प्राचीन भारतीयो का जो चित्र अंकित कर सकेगा वह किसी अन्य पुस्तक से सम्भव नही है। ऋग्वेदिक साक्ष्यो के आधार पर लोक संस्कृति से सम्बद्ध विषय सामग्री प्रस्तुत अध्ययन की वर्ण्य सामग्री है।

प्रस्तुत अध्ययन का एक अन्य दृष्टि से भी अपना पृथक महत्त्व है। उत्तर कालीन पुराणो महाकाव्यो और लौकिक साहित्य मे वर्णित कतिपय विश्वासो और प्रथाओ का बीज ऋग्वेद मे मिलता है। जब इन विश्वासो और प्रथाओ का विस्तृत अध्ययन करना होता है तो उनका वदिक कालीन स्वरूप क्या था? वतमान से

---

१ घाटे घाटेज लक्चस आन ऋग्वेद (हिन्दी अनुवाद) पृ० ९८।
२ ऋग्वेद १०।८४।
३ वही १०।१४ १८।
४ घाटे ज लक्चस आन ऋग्वेद (हिन्दी अनुवाद) प० ९८।
५ केगी० ए० दी ऋग्वेद पृ० ७४
६ घाटे घाटेज लेक्चस आन ऋग्वेद (हिन्दी अनुवाद)।
७ केगी० ए० दी ऋग्वेद।
८ ए० ए० मक्डानल और ए० बी० कीथ वदिक इण्डक्स आफ नेम्स एण्ड सबजक्टस दो भाग।
९ डा० जे मूर ओरिजनल सस्कृत टक्टस ५ भाग।
१० रागोजिन वैदिक इण्डिया।
११ जिमर आल्टइण्डिशे लेबेन।

उनके स्वरूप म कितना परिवतन हुआ ? इस सम्पूण जानकारी और तुलनात्मक अध्ययन हेतु वदिक वाङमय का सास्कृतिक दृष्टि से विश्लेषण नितान्त महत्त्वपूण है।

(ग) **विषय प्रतिपादन का प्रकार**—प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के विस्तृत और आलोचनात्मक अध्ययन को वर्णित करने से पूव समग्र विषय को सक्षेप मे रखना आवश्यक है जिसस लौकिक सामग्री के अध्ययन और प्रस्तुतीकरण का प्रकार सुग्राह्य हो सके। इसस पाठको को ऋग्वदिककालीन समाज की सभ्यता और सस्कृति जानने म सुगमता होगी।

विषय के महत्त्व और क्षेत्र की विशालता को देखते हुए तत्सम्बद्ध विषय सामग्री को अनक अध्यायो म विभक्त कर दिया गया है। सवप्रथम **ऋग्वेद** के प्रतिपाद्य विषय को तीन भागा म वर्गीकृत करके उसके धार्मिक और दाशनिक पक्ष को सक्षप मे वर्णित किया गया है जिससे उसका यह अश सवथा उपेक्षित न रह जाये। अन्तत **ऋग्वेद** का लौकिक विषय शोध प्रबन्ध का प्रमुख आधार निर्धारित किया गया है।

(घ) **विषयवस्तु का वर्गीकरण**—वस्तुत **ऋग्वेद** के अनेक सूक्तो म लौकिक और व्यवहार स सम्बध रखन वाले विषयो का रोचक वणन प्राप्त होता है। लोक सस्कृति से सम्बद्ध विषयो की उपलब्धि **ऋग्वेद** की विशिष्टता को सूचित करती है। प्राप्त सामग्री को विभिन्न अध्यायो मे विभक्त कर दिया गया है जिनका क्रमश सक्षप मे वणन इस प्रकार है—

(१) **ऋग्वेद मे ऐतिहासिक सामग्री**—यह एक विवादास्पद विषय है कि वेदमन्त्रो म ऐतिहासिक घटनाओ के सकेत हैं या नही। यास्क ने अपने **निरुक्त** मे इत्यैतिहासिका कहकर प्राचीन ऐतिहासिको के मतो को प्रस्तुत किया है। **ऋग्वेद** के विभिन्न भाष्यकारो ने (यथा सायण महीधर उवट) **ऋग्वद** मे व्यक्ति विशेषो के इतिहास को एक मत से स्वीकार किया है। सभी पाश्चात्य विद्वानो (यथा—मक्समूलर मक्डॉनल कीथ ग्रिफिथ ब्लूमफील्ड राथ, विल्सन गल्डनर हॉपकिन्स रागाजिन मेके डी और ओल्डनबग आदि) ने भी भारतीय विद्वानो के मत का समथन किया। समस्त इतिहास-पक्षी वेद मे व्यक्तिवाचक सज्ञाओ का होना स्वीकार करत हैं। वेदो मे इतिहास स्वीकार न करने वालो का एक पृथक वग है जो वद मे इतिहास मानने को अथ का अनथ करना कहते है वे व्यक्ति वाचक सज्ञाओ की अन्यथा व्याख्या करते हैं। वस्तुत यह मत वभिन्य स्वत पृथक रूप से एक अनुसधान का विषय है अत वणन विस्तार के भय से उसे छोड दिया गया है।

सम्पूण वदिक इतिहास को स्थानवाचक शब्दो के आधार पर नाम विशेष वाचक शब्दो के आधार पर और युद्धो के आधार पर वर्गीकृत किया जा सकता

है। ऋग्वेद मे कतिपय लौकिक सूक्त ऐसे हैं जिनमे ऐतिहासिक सन्दर्भ निहित हैं जिनका ऐतिहासिक आधार राजाओ और राजपरिवारो की विजय एव विजय यात्राओ के वर्णन हैं। ऋग्वेद मे आर्यों और अनार्यों का उल्लेख प्राप्त होता है। भारतीय विद्वानो ने ऋग्वेद मे वर्णित आर्य और दस्युओ का भेद जातीय न मानकर गुण कर्म स्वभाव पर आश्रित माना है। सोमाभिषवण करने वाले और इन्द्र के उपासक आर्य कहलाये एव इनसे भिन्न व्यक्तियो को दास और दस्यु सज्ञाओ से अभिहित किया गया। पाश्चात्य विद्वान आर्य और अनार्यों मे जातिगत भेद स्वीकार करते है। अनार्यों के राजाओ के नाम यथा शम्बर,[1] पिप्रु तुग्र और शुष्ण आदि प्राप्त होते हैं। अनार्य आर्यों के विरोधी रूप मे वर्णित हैं। आर्य अनार्यों को हराने अपनी बस्तियाँ बसाने और अपनी सभ्यता का प्रचार करने मे व्यस्त रहते थे। ऋग्वेद मे पणि भी आर्यों के विरोधी माने गये हैं। पणि कजूस निर्दयी और आसुरी बुद्धि वाले थे। अश्विनी देवो से उनकी बुद्धि को विनष्ट कर उनको उदार बनाने का आग्रह किया गया है। एक स्थल पर इनके समूल वध की कामना की गई है।[3] अन्यत्र इन्द्र से समस्त शत्रुओ के विनाश की प्रार्थना की गई है।

प्रथम मण्डल मे शत्रुओ के निन्यानवे नगरो को तोडने के लिए इन्द्रदेव की प्रशसा की गई है।[5] ऋग्वेद मे आर्यों का शत्रुओ को विनष्ट करने तथा वध करने के लिए अनेकश इन्द्र का आह्वान और परिणामत प्रशसा गान प्राप्त होता हैं।[6] ऋग्वेद मे वर्णित युद्ध प्रसगो मे दाशराज युद्ध सर्वप्रसिद्ध रहा। राजा सुदास की दस राजाओ के सघ पर प्रशसनीय विजय का वर्णन उल्लिखित है।[7]

दानस्तुतियो से भी ऐतिहासिक सन्दर्भ प्रकाश मे आते हैं।[8] यद्यपि इन सूक्तो का मुख्य विषय दानीय वस्तु तथा प्रदत्त राशि का उल्लेखमात्र है तथापि प्रसगवश उसमे दाताओ के कुल एव वश परम्परा सम्बन्धी नामो का वर्णन प्राप्त हो जाता है जो ऐतिहासिक सामग्री प्रस्तुत करता है।

इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टिकोण से ऋग्वेद मे राजाओ का वर्णन उनके विरोधियो की जातियाँ, उनके शमन का प्रयास सबका अनुशीलन एक पृथक गवेष

१ ऋग्वेद ७।१८।२०।
२ वही ३।५८।२।
३ वही १।१।१८४।२।
४ वही १०।२६।७
५ वही १।५४।६।
६ वही १।१००।१८, १।१०३।३ १।१७८।६ ७ ८।
७- वही ७।१८।१३ ७।१८।१५।
८ वही ५ ३०।१२ १५ ६।४७।२२ ७।१८।२२ २५ ८।११।१२।

णीय विषय है जिसका प्रतिपादन विस्तार से अगले अध्याय मे किया जायेगा।

(२) ऋग्वेद मे आचार सामग्री—मानव और पशु सदव आचरण मे लगे रहते हैं किन्तु दोनो के आचरण मे भिन्नता होती है। मानव मे इच्छा शक्ति वर्तमान होती है। वस्तुत व्यक्ति जिसे सकल्प और इच्छा शक्ति से प्रेरित होकर आरम्भ करता है वह आचार कहलाता है। मनुष्य की व्यावहारिक उत्कृष्टता ही आचार है। मानव जीवन मे आचार का बडा महत्त्व है। समाज का प्रत्येक वर्ग आचार के कारण ही अपनी जीविका चलाता है। आचार कर्तव्य भावना मे प्रेरित बुद्धि और तर्क से सम्बन्ध रखता है। ऋग्वेद मे देवो के आचरण को आदर्श माना गया है। अनेकश आचरण विषयक उल्लेख प्राप्त होते हैं। यथा—देव सत्य दान आदि व्रतो के पालक हैं।[1] उनके आचरणवत् आचरण करने वाला मानव श्रेष्ठ मानव हो जाता है।[2] सत्यपालक देवता मनुष्य के मध्य सत्य और असत्य को देखते हुए विचरण करते हैं अज्ञानी और असत्यवादी को दण्डित किया जाता है।[3]

आचार दो प्रकार का होता है—सदाचार और दुराचार। सदाचार मे सत्य अहिंसा दान और सामञ्जस्य तथा दुराचार मे चोरी व्यभिचार और जुआ जैसी कुप्रवृत्तियाँ आती हैं। ऋग्वेद म सत्योक्ति को रक्षक के रूप म स्वीकार किया गया है।[4] ऋग्वेद मे असत्यवादियो को सम्मान की दृष्टि स नही देखा गया। एक कथा म कहा गया है कि असत्यवादियो न इस अगाध नरक स्थान को जन्म दिया है।[5] सत्य की नौकाय शुभ कर्म करने वाले को पार कर देती है।[6] अहिंसा सद्वृत्ति का दूसरा रूप है। हिंसक अपने हिंसक कर्मो से स्वय मारा जाता है। ऋग्वेद मे अहिंसक व्यक्ति का अनुकरण करने का उल्लेख है। इन्द्रदेव से वाणी के माधुर्य हेतु प्रार्थना की गई है[7] जिससे वाणी से भी किसी की हिंसा न हो। सत्य और अहिंसापूर्ण जीवन मे दानशीलता अधिक उत्कृष्टता को प्रतिपादित करती है। ऋग्वेद मे दानी की प्रशसा की गई है।[8] उदारदाता कभी मृत्यु को प्राप्त

१ ऋग्वेद ५।६७।४।
२ वही ५।६७।२ ७।४६।३।
३ वही १ ।२ ।१
४ वही १ ।३७।२।
५ वही ४।५।५
६ वही ६।७।११।
७ वही १ ।१३४७ ८।१८।१३।
८ वही ५।६४।३।
९ वही २।२१।६।
१० वही १०।११७।३

नही होता वह कभी हानि व पीडा को प्राप्त नही करता।[1] विभिन्न पदार्थों का दान करने से विभिन्न पदो की प्राप्ति होती है।[2] अदानी व्यक्ति का कभी कल्याण नहीं होता समय पर कोई उसकी सहायता नही करता।[3] ऋग्वेद में कृपण व्यक्ति को दानशील बनाने और उसकी हृदयगत कठोरता के परिवर्तन हेतु प्रार्थना की गई है। ऋग्वैदिक समाज सामञ्जस्य की भावना से ओतप्रोत था। जन समुदाय मे समानता के साथ साथ सामूहिकता व्याप्त थी। सभी अपने विचारो की उन्नति के लिए पथक पथक रूप से स्वतन्त्र थे। किसी विशेष कार्य के प्रति घणा का भाव नही था इसलिए एक ही परिवार के सभी सदस्य अलग अलग कार्य करते हुए वर्णित हैं।[4] एक स्थल पर कहा गया है कि सौभाग्य प्राप्ति के लिए कोई छोटा बडा नहीं है।[5] ऋग्वेद सामूहिक भावना से ओतप्रोत है क्योंकि इसमे सामूहिक भावना की ऋचाये बहुलता से पाई जाती हैं। ऋग्वेद मे आचार की प्रशसा और अनाचार की निन्दा की गई है। अक्ष-सूक्त[8] मानव की स्वार्थपरायण वत्ति पर नतिक उपदेश व्यक्त करता है इसमे द्यूतकार के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का सजीव चित्रण मिलता है। द्यूतकार के मुख स ही अपनी आर्थिक और सामाजिक दुदशा की वयक्तिक अभिव्यक्ति होने के कारण यह सूक्त आत्मपरक काव्य का सुन्दर उदाहरण है। हमे ऋग्वद मे सामाजिक जघ यताओ और विकृतियो से पूण निष्ठाहीन मनुष्यो के प्रति असतोष जनित विक्षोभ से पूण उद्गार प्राप्त होते हैं। ऋणी जुआरी चोरी करने जाता है और अ तत वरुण देव से ऋण दूर करने का आग्रह करता है और कहता है कि वह दूसरो की कमाई का कभी भोग न करे।[9] ऋग्वेद मे चोरी के प्रति घणा यक्त की गई है और चोर को दण्डित करने का उल्लेख किया गया है।[11] यभिचार भी एक अनाचार ही है व्यभिचारी व्यक्ति की निन्दा की गई है।[12]

---

१ ऋग्वद १०।१०७।८।
२ वही १ ।१०७।६।
३ वही १०।११७।१।
४ वही ६।५३।७
५ वही, ९।११२।३।
६ वही ५।६०।५।
७ वही १।८९।८ १०।९०।७ ८ ।११९ ।६ ३।५९।३ ४।५० ६ ७।४१।१ आदि।
८ वही १०।३४।
९ वही १ ।३४।१०।
१ वही, २।२८।९।
११ वही ४।३८।५ ५।७९।९।
१२ वही ४।५।५।

इस प्रकार ऋग्वेद मे सामाजिक सदाचार और अनाचार का कोई व्यवस्थित रूप प्राप्त नही होता किन्तु उपलब्ध सामग्री से इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश पडता है ।

ऋग्वद मे मनोरजन—ऋग्वदिक समाज मे मनोरजन के कतिपय साधन थे जो तात्कालिक प्रवृत्तियो की अभिरुचि को प्रदर्शित करते हैं । घुडसवारी और घुडदौड मनोरजन के प्रमुख साधन थे । ऋग्वद मे अनेकश घोडों और उनकी सवारी के वणन प्राप्त होते हैं ।[१] आखेट विषयक प्रसग ऋग्वेद मे यत्र तत्र बहुत कम प्राप्त होते है । इससे पशु और पक्षी दोना के शिकार का परिचय मिलता है । जाल लिए हुए शिकारियो का उल्लेख मिलता है ।[२] अश्वमेध राजसूय और वाजपेय आदि यज्ञो मे आध्यात्मिक चिन्तन से सम्बद्ध प्रहेलिकाय मनोरजन हेतु आमत्रित व्यक्तियो के मध्य अथवा व्यक्ति के व्यामोहन हेतु व्याहृत थी ।[३] वदिक पहेलियाँ अधिकाशतया आध्यात्मिक पृष्ठभूमि पर आधृत है । यज्ञो के अवसर पर पर ये आध्यात्मिक चिन्तन म सहायक होती थी । बौद्धिक व्यायाम के साथ साथ प्रहेलिकायें धार्मिक अवसरो पर रोचकता और आकषण उत्पन्न करती थी । इनके अतिरिक्त वदिक काल मे मलो का भी आयोजन होता था और कलात्मक प्रति योगिताओ को इस उत्सव मे स्थान मिलता था । ऋग्वद मे उत्सव के लिए समन शब्द व्यवहृत है । समन मे कविगण प्रसिद्धि क लिए और धनुर्धारी अपनी धनुर्विद्या के प्रदशन हेतु जाते थ । यह धनेच्छको को काय की प्ररणा देता था और रात्रि पय त चलन वाला उत्सव था ।[४] सगीत की तीनो विधाओ का उल्लख ऋग्वद मे मिलता है । गायन वादन और नत्य मे भी ऋग्वदिक समाज की अभि रुचि दशनीय है । विविध वाद्य यन्त्रो का परिचय प्राप्त होता है । ऋग्वद म नतक के पर से उडती हुई धूल का वणन किया गया है ।[५] द्यूत तत्कालीन मनोरजन का प्रमुख साधन था । द्यूतकार जुआ खेलकर और पासो की क्रीडा देखकर निरन्तर उत्साहित होता था और सोमपान क समान हष को प्राप्त करता था ।

(४) **ऋग्वद मे नारी**—ऋग्वदिक नारी का समाज मे एक महत्त्वपूण स्थान

---

१ ऋग्वद १।१६२।७ १।१६२।१७ २।२७।१६ ५।६१।२ ३ ५।६१।१० ६।४७।३१ ८।६।३६ आदि ।
२ वही ३।४५।१ ।
३ वही १।१६४ १।६५।४ १।५८।७ ६।५६।५ १०।५३।११ १ ।१२१।१० आदि ।
४ वही २।१६।७ ६।६७।४७ ६।६६।६ ।
५ वही १।४८।६ ।
६ वही १०।७२।६ ।
७ वही १०।३४।१ ।

था। कन्या पत्नि और माता नारी के विभिन्न रूप ऋग्वेद मे वर्णित हैं। पितृ प्रधान समाज म पुत्र की कामना मवश्य याप्त है किन्तु क या के लिए हीनता और उपेक्षा का भाव कही प्राप्त नही होता। ऋग्वदिक कन्या अपने उत्तरवर्ती काल की अपेक्षा कही अधिक स्वतन्त्र और आत्मनिभर थी। वह स्वय अपने वर का स्वत त्रतापूवक चयन कर सकती थी। परिवार मे पत्नी का एक प्रमुख स्थान था। पत्नी जिस परिवार मे रहती थी यद्यपि वह उस परिवार म अय परिवार स आती थी तथापि अपने पति के घर का एक अभिन्न अग थी। ऋग्वद मे वधू का औपचारिक रूप से पितृ लोक से विच्छिन्न होकर पति लोक से सम्बद्ध हान का उल्लेख मिलता है।[1] विवाह के अवसर पर ही वधू को घर की साम्राज्ञी बनने का आशीर्वाद दिया जाता था।[2] ऋग्वद मे स्त्री को ही घर कहा गया है।[3] ऋग्वदिक पत्नी लक्ष्मी का स्वरूप थी जो अपने घर के लिए सदव कल्याणकारी कल्पित की जाती थी। वह परिवार मे उच्च स्थान रखती थी। देवो से अनकश पत्नी की और पत्नी से युक्त घर की याचना की गयी है। स्त्री अपने धार्मिक और सामाजिक दोना कत यो क प्रति पूणत सजग थी।

ऋग्वद मे विधवा विषयक स दभ अत्यल्प हैं तथापि उनके अस्तित्व का अल्प आभास अवश्य प्राप्त होता है। पति मरण के पश्चात भी विधवा स्त्री जीवित रहती थी और उसका मृत पति के भाई के साथ घनिष्टता का सम्बन्ध होता था। ऋग्वेद म कही भी विधवा का अपने पति के साथ सती होने का उल्लेख नही मिलता।

ऋग्वद म नारी का माता रूप सर्वोन्नत और स्पहणीय था। सम्पूण वेद म पुत्र की कामना प्रबल है अत पुत्र को जन्म दने वाली माता का परिवार म महत्त्वपूण स्थान स्वाभाविक ही है। स्त्री के लिए दशपुत्रवती[5] और वीर प्रसविनी होन की कामना की जाती थी। ऋग्वेद एक कत यशीला और वात्सल्यमयी मा का परिचय दता है। माता बड स्नह स अपन बालक को खिलाती थी और उसका लालन पालन करती थी। स्वय अपने हाथ से अपने शिशु के लिए कपडा बुनती थी। माता के लिए सवत्र आदर की भावना देखन को मिलती है।

---

१ ऋग्वद १०।८५।२ २४
२ वही १०।८५।४६।
३ वही ३।५३।४।
४ वही १।१४।७ ४।५६।४।
५ वही १०।८५।४५।
६ वही १०।८५।४४।
७ वही ५।१५।४ १०।४।३ १०।२७।१६।
८ वही ५।४७।६।

(५) **ऋग्वैदिक वैवाहिक और आन्त्येष्टिक पद्धतियाँ**—आर्यों मे संस्कार की परिपाटी अतीव प्राचीन है। ऋग्वैदिक आर्यों में भी वैवाहिक और आन्त्येष्टिक संस्कारो का होना पाया गया है। विवाह एक धार्मिक कृत्य था। गृहस्थ जीवन विवाह पर ही निर्भर था। अतः विधिवत् विवाह संस्कार करके गृहस्थ आश्रम मे प्रवेश करना प्रत्येक नर नारी का धार्मिक कर्तव्य माना जाता था। दशम मण्डल में विवाह सूक्त[1] इसका उदाहरण है। यद्यपि सम्पूर्ण सूक्त मे रचनागत एकवाक्यता का अभाव है तथापि वर्गों मे ऋचाये इस प्रकार संकलित है कि विवाह सम्बन्धी कुछ विषयो को एक साथ एकत्रित किया जा सकता है।

ऋग्वेद मे विवाह के अनेक प्रयोजन बताये गये है। इनमे एक प्रयोजन वीर एवं सुयोग्य सन्तान की प्राप्ति तथा सन्तान द्वारा अमरत्व की प्राप्ति है। ऋग्वेद की एक ऋचा में पत्नी द्वारा यह प्रार्थना की गई है कि उसके पुत्र शत्रुओं का नाश करें और पुत्री तेजस्विनी हो। एक अन्य ऋचा मे पत्नी द्वारा दस पुत्रो को जन्म देने हेतु प्रार्थना की गई है।[3] वैदिक आर्यों की यह मान्यता थी कि सन्तान तन्तु को न टूटने देने में मानव अमरत्व को प्राप्त करता है क्योंकि सन्तान अपना ही रूप होती है। धर्म पालन भी विवाह का प्रयोजन था।[5] इसके अतिरिक्त रति या ऐन्द्रिक सुख विवाह का एक अन्य प्रयोजन था।

विवाह द्वारा गृहस्थ आश्रम में प्रवेश कर वैदिक युग के स्त्री पुरुष सुन्दर पारिवारिक जीवन व्यतीत करते थे। ऋग्वेद मे इसका बड़ा स्पष्ट और सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया गया है। विवाहोपरान्त वर वधू को आशीर्वाद दिया जाता था कि कि दम्पती इस घर में रहें। कभी वियुक्त न हो। अपने इस घर में पुत्रो और पौत्रों के साथ खेलते हुए और मोद मनाते हुए पूर्ण आयु तक निवास करें।[6] पारिवारिक जीवन मधुमय हो इसलिए वधू को अघोरचक्षु अपतिघ्नी शिवा सुमना सुवर्चा वीरसू और समस्त द्विपदो तथा चतुष्पदो के लिए कल्याणकारिणी हो ऐसी कामना की गई है।

वैदिक युग मे विवाह संस्था का क्या स्वरूप था इस सम्बन्ध मे भी कतिपय संकेत ऋग्वेद मे विद्यमान है। पति वरण मे स्त्री की सम्मति को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। ऋग्वेद में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जो स्त्री स्वयं अपने मित्र

---

१ ऋग्वेद १०।८५।
२ वही १०।१५९।३।
३ वही १०।८५।४५।
४ वही ५।४।१०।
५ वही ५।२८।३, ८।३१।१, १०।८६।१०।
६ वही, १०।८५।४२।
७ वही १०।८५।४४।

(पति) का चनाव करती है व ो भन्न वध होती है।[1]

ऋग्वेद म प्राजापत्य स्वयवर राक्षस और आसुर विवाह के सकेत मिलत है। आधकाशत एक पति और एक पत्नीव्रत का प्रचलन था।[2] ऋग्वेद की एक ऋचा म दो प नियाँ रखने वाले पुरुष की उपमा एक घोड से दी गई है जो रथ की दोनो धुराओ के बीच मे दबा हुआ चलता है।[3] वैदिक युग विधवा विवाह की अनुमति प्रदान करता था। एक ऋचा के अनुसार विधवा अपन देवर से सन्तान की उ पत्ति कर सकती थी।

ऋग्वेद के दशम मण्डल मे अन्त्येष्टि सस्कार स सम्बद्ध सूक्त[4] मिलत हैं। इनके अध्ययन से ज्ञात होता है कि वदिक काल म शव-दहन की प्रथा प्रचलन म थी। मतक के शरीर को अग्नि को समर्पित कर दिया जाता था जिसस मतक एक नय शरीर को प्राप्त कर सके और अपने पूवजो एव पितरो से सम्बद्ध हो सक।[5]

(६) ऋग्वैदिक वेश भूषा एव प्रसाधन सामग्री—ऋग्वद के अनुशीलन से त कालीन वस्त्र परिधान परिधान विधि अलकरण भूषा सज्जा और केश सज्जा के विषय मे पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है। वदिक युग म विभि न प्रकार क ऊन म बने वस्त्र पहने जाते थे। वस्त्र निर्माण चम से भी किया जाता था। उस समय कपडा बुनने का शिल्प उ नत शा म था। कपडो पर कढाई भी की जाती थी सम्भवत इसके लिए स्वण का प्रयोग किया जाता था। ऋग्वद मे हिर ण्यान अत्कान का उल्लेख है[1] जिसका अथ सुवण स काढ गये परिधान ही किया गया है।

वदिक युग मे आभूषण पहनन की प्रथा थी वे स्वणनिर्मित रत्न मणि और मोती से बन आभूषण पहनते थे। विभि न अवयवो पर धारण किये जाने वाल भि न भि न आभूषण होते थे। यथा—कान मे धारण करने योग्य अलकरण कर्ण शोभना[11] और हिरण्यकण[12] तथा गल म धारण करने योग्य अलकरण मणिग्रीव[13]

१ ऋग्वद १०।२७।१२।
२ वही १।७।११ ७।२६।३ ८।१६।३६ १०।७५।२१।
३ वही १ ।१०।११।
४ वही १०।४०।२।
५ वही १ ।१४।१८।
६ वही १ ।१४।८।
७ वही १०।२६।६।
८ वही १०।१३६।२।
९ वही १०।२६।८।
१० वही ५।५५।६।
११ वही ८।७८।३।
१२ वही १।१२२।१४।
१३ व ी १।१२२।१४।

और निष्क[1] के नाम से जाने जाते थे।

ऋग्वैदिक युग मे केश विन्यास उपेक्षित नही था। ऋग्वेद मे एक स्त्री का उल्लेख है जो अपने केशो की चार वेणियां बनाये हुए थी। एक स्थान पर क्षुर शब्द का उल्लेख मिलता है।[2] जिसमे उस्तरा अर्थ अभिप्रेत है। इससे सकेत मिलता है कि पुरुष वर्ग मे दाढ़ी मूछ मुडवाने की प्रथा भी विद्यमान थी। विविध अवसरो पर सुगन्धित द्रव्य विशेषो को लगाने की प्रथा थी।

(७) ऋग्वेद में जादू राक्षस और पिशाच तथा रोग उनकी चिकित्सा—मत्र प्रयोग और जादू से सम्बन्धित ज्ञान यद्यपि अथर्ववेद का विषय है तथापि ऋग्वेद मे भी जादू का उल्लेख है यह कतिपय सदर्भों के आधार पर स्वीकार किया जा सकता है। वस्तुत तर्क न किये जा सकने योग्य व चामत्कारिक प्रभाव जो आश्चर्यजनक परिणाम उत्पन्न करते हैं जादू कहलाते है। रहस्यात्मक और चामत्कारिक कृत्य जादूगर के जादू का प्रभाव भी हो सकते है और ईश्वरीय शक्ति का परिणाम भी हो सकते हैं जो भक्तो की प्रार्थनाओ के परिणामस्वरूप होते है। ऋग्वेद मे दैवी शक्ति के प्रभाव से प्राप्त रहस्यात्मक और चामत्कारिक ऋचाये मिलती है। दशम मण्डल मे शत्रुओ का विनाश करने वाली एक जादुई शक्ति प्राप्त होती है।[5] ऋग्वैदिक दैवी चमत्कारो को विविध वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है यथा—ब्रह्माण्ड सम्बन्धी अद्भुत चमत्कार रोगो एव विकृतियो की रहस्यात्मक चिकित्सा तथा पुनर्युवाकरण एव बाझपन का निवारण आदि। इनका विस्तृत विवेचन सम्बद्ध अध्याय मे किया जायेगा।

ऋग्वेद मे दुरात्मा राक्षसो और पिशाचो का वर्णन मिलता है। राक्षस पश्वाकृति यथा—श्वान श्येन उलूक शुशुलूक, कोकयातु श्वयातु सुपर्णयातु एव गृध्रयातु आदि अनेक प्रकार के होते है।[6] विविध देवो की इनसे रक्षा हेतु प्रार्थनाये मिलती है। राक्षस पक्षी बनकर रात्रि मे विचरण करते हुए वर्णित है।[8] एक स्थल[9] पर पीतशृग महान पिशाचि को और सब राक्षसो को मारने के लिए

---

१ ऋग्वेद ५।१६।३।

२ वही १०।१४४।३।

३ वही २।१६६।१ ८।४।१६।

४ वही १।११ ७ २।५२ ५३ ३।५३ ७१ २४ ८।५७ ५।७८ ६।२८ ६।४ ।२६ ३१ १ ।५८ ८ आदि।

५ वही १०।१५६।४।

६ वही ७।१०४।२२।

७ वही १।७६।३ १।१२६।११ ८।६०।२० ६।३७।३ आदि।

८ वही ७।१०४।१८।

९ वही १।१३३।५।

द्वारा इन्द्र का आह्वान किया गया है। दुष्टात्माओं का एक वर्ग किमीदिन् कहलाता था। ऋग्वेद में अनेकश इनका वर्णन किया गया है।[1]

ऋग्वेद मे रोग और उसकी चिकित्सा विषयक सामग्री पर्याप्त रूप मे हमे प्राप्त होती है। बहुत से रोगवाचक और औषधिवाचक शब्द प्राप्त होते हैं।[2] चिकित्सक को भिषक कहा जाता था।[3] गर्भाशय सम्बन्धी रोगो का उल्लेख दशम मण्डल के एक सूक्त[4] में किया गया है। राजयक्ष्मा का भी उल्लेख है और उसके नाश के लिए दो सूक्त कहे गये हैं।[5] रोगनाशक ओषधि का वर्णन ऋग्वेद मे अनेकश प्राप्त होता है।[6] एक सूक्त मे विष और उसके प्रतिकार का उपाय बताया गया है।[7] इसके अतिरिक्त ऋग्वेद मे जल-चिकित्सा[8] सौर-चिकित्सा[9] वायु-चिकित्सा[10] मानस-चिकित्सा[11] और स्पर्श चिकित्सा[12] (मिस्मरेजम) का वर्णन किया गया है जो तत्कालीन निसर्गोपचार के प्राधान्य को पुष्ट करता है।

इस प्रकार ऋग्वेद मे प्राकृतिक और मानवीय सौंदय के बाह्य रूपों का समावेश ही नहीं हुआ है अपितु इन सबके शील सौंदय अथवा आन्तरिक सौंदय की भी अभिव्यजना मिलती है। ऋग्वेद प्राचीन युग की धार्मिक भावनाओं का चित्र पूणतया चित्रित करन मे तो सर्वथा अप्रतिम है किन्तु साथ ही साथ लौकिक विषयो से सम्बन्धित जो भी सामग्री ग्रथ मे सकलित है, उसके सविस्तार अध्ययन के लिए प्राचीन आर्यों की सामाजिक स्थिति को पूर्णरूपेण स्पष्ट करने हेतु उल्लिखित प्रकरणो मे प्रस्तुत किया गया है इससे ऋग्वेद का महत्त्व मानव-सभ्यता के इतिहास मे और भी अधिक कहा जा सकता है।

---

१ ऋग्वेद १०।८७।२४ ७।१०४।२ २३ १०।८७।२४ आदि।
२ वही १।२४।९ २।३३।४।
३ वही, २।३३।४।
४ वही, १०।१६२।
५ वही १०।१६१ और १६३।
६ वही १।११६।५ ३।३४।१० ४।३३।७ ५।४१।८ ६।४९।१९ ७।४।५ ८।२७।२ १०।१४५।१।
७ वही, १०।१६१।
८ वही १।२३।२०, ६।५०।७।
९ वही ६।५२।५ १०।३७।४।
१० वही १०।१८६।१ १०।१८६।३।
११ वही १०।१३७।४।
१२ वही १०।१३७ ७।

२ ऋग्वेद में ऐतिहासिक सामग्री

वेदों में इतिहास

अनेक विद्वान् वेदों को अनादि अपौरुषेय और ईश्वरकृत मानते हैं। जहाँ तक ब्राह्मण-ग्रन्थों, आरण्यकों, उपनिषदों और कल्प आदि वेदांगो का सबंध है, इतिहास के लिए उनका उपयोग करने मे किसी को भी विप्रतिपत्ति नहीं है, किन्तु यदि वेदो को अनादि और अपौरुषेय मान लिया जाये तो वैदिक संहिताओ को इतिहास के लिए प्रयुक्त करने का प्रश्न ही नही उठता। जो विद्वान् वेद मे इतिहास की कल्पना नही करते वे इतिहासविषयक वेदमत्रो का अध्यात्मपरक या अन्यथा अर्थ करके उन्हें इतिहासेतर प्रतिपादित करते हैं। उनके मतानुसार उनमे इतिहास की गवेषणा अर्थ का अनर्थ करना है। वेदो मे ऐतिहासिक घटनाओ और प्राचीन भारत के राजाओ के सम्बन्ध मे संकेत एव सूचनायें विद्यमान हैं यह न मानने वाले विद्वान् व्यक्तिवाचक शब्दो को किन्ही व्यक्तियो के लिए रूढ न मानकर उनका यौगिक अर्थ करते हैं।

वेदमत्रो मे ऐतिहासिक घटनाओ के कोई संकेत हैं या नही इस सम्बन्ध मे कतिपय प्राचीन आचार्यों के मन्तव्यो पर ध्यान देना आवश्यक है। आचार्य यास्क ने कतिपय वेदमत्रो मे इतिहास प्रदर्शित किया है।[1] ऋग्वेद का एक सूक्त[2] देवापि और शान्तनु विषयक ऐतिहासिक सूचनाओ के लिए उल्लेखनीय है जिसमे यह संकेत विद्यमान है कि देवापि शान्तनु के पुरोहित थे और शान्तनु ने देवापि को प्रचुर दान दिया। यास्क ने 'तत्रेतिहासमाचक्षते' कहकर यह स्वीकार किया है कि ऐसे सूक्तो व मन्त्रो में इतिहास विषयक सूचनायें विद्यमान हैं। यास्क ने 'इत्यैतिहासिका' कहकर प्राचीन ऐतिहासिक मन्तव्यो को उद्धृत किया है उनसे यह मत स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक मंत्र इतिहासपरक हैं यद्यपि यास्क ने इससे अपनी असहमति ही प्रकट की है। वृत्र के सम्बन्ध मे ऐतिहासिक सम्प्रदाय के प्राचीन आचार्यों का यह मत था कि त्वष्ट्रा असुर को ही वृत्र कहा जाता था परन्तु नैरुक्तों के मत मे वृत्र मेघ (बादल) की सज्ञा थी।[3] बृहद्देवता मे आचार्य शौनक ने भी वेदो के कुछ सूक्तो को इतिहास विषयक माना है।[4]

वेदो मे इतिहास है, इस कल्पना को सायण महीधर उव्वट और सभी पाश्चात्य विद्वानो ने अपनी पूरी शक्ति से सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। सायण ने अपने भाष्य मे सर्वप्रथम इस धारणा को बद्धमूल किया कि वेदो मे बहुत से मन्त्रो

---

१ निरुक्त ३।११।२।२४ ६।२२।

२ ऋग्वेद १०।९८।

३ तत् को वृत्र ? मेघ इति नैरुक्ता, त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिका।
निरुक्त २।१६।

४ बृहद्देवता ४।४६ ६।१०७, ८।११।

मे व्यक्ति विशेषों मे सम्बन्धित इतिहास है। अनेक पाश्चात्य विद्वान अपने दृष्टि कोण से वेदों या वैदिक ग्रन्थों पर अनुसन्धान कार्य करते रहे। इन विद्वानों मे मैक्समूलर कीथ ब्लूमफील्ड राथ ह्विटने ग्रिफिथ मैक्डानल मर्केंजी रागोजिन ओल्डनबर्ग के नाम उल्लेखनीय हैं। पाश्चात्य विद्वानो मे वैसे तो सभी इतिहास पक्ष के किसी न किसी रूप मे पोषक रहे परन्तु ओल्डनबर्ग ब्लूमफील्ड गैल्डनर हापकिन्स कीथ और मक्डॉनल आदि ने यथास्थान बहुत कुछ लिखा है। लडविग ने अपने ग्रन्थ मे (लुडविग्स ट्रांसलेशन आफ ऋग्वेद) मे यथावसर इतिहास पक्ष को उभारा है। मक्डानल और कीथ ने इस दिशा मे सबल कार्य किया है। उनका ग्रन्थ—वैदिक इण्डेक्स आफ नेम्स एण्ड सब्जैक्टस इतिहासवाद को पुष्ट करने वाली महान पुस्तक मानी जाती है। इसमे वेदो मे आने वाले सभी नामो का संग्रह कर दिया गया है साथ ही प्रत्येक व्यक्तिवादी नाम पर टिप्पणी और प्रमाणो को लेकर पुस्तक को सर्वांगपूर्ण बनाने का सम्पूर्ण प्रयास किया गया है।

(अ) इतिहास का वर्गीकरण

सभी इतिहासपक्षी यह स्वीकार करते हैं कि वेद मे व्यक्तिवाचक संज्ञाये है। व्यक्ति वाचक संज्ञाये स्थानवाचक और नामविशेष वाचक भेदो वाली हैं इसलिये वेदो मे व्यक्तियो के नाम दो प्रकार के है—पहला—नदी पहाड देश आदि के नाम और दूसरा— व्यक्तियो के नाम। व्यक्तियों के नाम भी दो प्रकार के हैं एक ऋषि लोग जो वेदमन्त्रो के कर्ता हैं और दूसरे विशिष्ट राजा महाराजाओ के नाम जो भिन्न भिन्न कालो मे महाभारत आदि इतिहासो मे वर्णित है।

इस प्रकार वैदिक इतिहास का वर्गीकरण निम्नत किया जा सकता है—

(१) स्थानवाचक शब्दों के आधार पर—ऋग्वेद मे अनेक नदियो, पर्वत आदि के नामो का उल्लेख है। ऋग्वेद मे २५ नदियो का उल्लेख है नदी सूक्त (ऋ० १० ७५) मे सिंधु नदी के अतिरिक्त गंगा यमुना सरस्वती शुतुद्रि परुष्णी असिक्नि मरुद्वृधा वितस्ता आर्जीकीया सुषोमा कुभा गोमती क्रुमु सुवास्तु ससतु श्वेत्या मेहत्नू और रसा नदियो के नाम आये है।[1] सरस्वती को नदीतमा कहा गया है।[2] ऋग्वेद मे विपाशा का उल्लेख विद्यमान है[3] जिससे

---

१ इम मे गंगे यमुने सरस्वती शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या।
असिक्न्या मरुद्वृध वितस्तयाऽऽर्जीकीये शृणुह्या सुषोमया॥
तृष्टामया प्रथमं यातवे सजूः सुसर्त्वा रसया श्वेत्या त्या।
त्वं सिन्धो कुभया गोमतीं क्रुमुं मेहत्न्वा सरथं याभिरीयसे॥
ऋक्० १०।७५।५ ६।

२ अम्बितमे नदीतमे देविनमे सरस्वति।
अप्रशस्ता इव स्मसि प्रशस्तिमम्ब नस्कृधि। वही २।४१।१६।

३ अच्छा सिन्धुं मातृतमामयासं विपाशमुर्वीं सुभगामगन्म। वही ३।३३।३।

प्राचीन काल मे इस नदी की सत्ता मे कोई सदेह नही रह जाता ।

ऋग्वेद मे केवल हिमालय पर्वत का उल्लेख है ।[1] मूजवत नामक एक पर्वतशिखर का भी उल्लेख किया गया है जहाँ सोम की प्रचुरता दिखाई गई है ।[2]

(ख) नामविशेषवाचक शब्दों के आधार पर

(१) **वेद मन्त्रों के द्रष्टा ऋषियों का नामगत आधार**—वेदो के प्रत्येक सूक्त और ऋचाओ के साथ उसके ऋषि और देवताओ के नाम दिये गये है । वैदिक ऋषियो मे गृत्समद विश्वामित्र वामदेव अत्रि भारद्वाज और वसिष्ठ प्रमुख हैं । ये छ ऋषि व इनके वशज ऋग्वेद के दूसरे तीसरे चौथे पाँचवे छठे और सातवें मण्डलो के ऋषि हैं आठवें मण्डल के ऋषि काण्व और अगिरस वशी थे । काण्व वश के ऋषि ही प्रथम मण्डल के पचास सूक्तो के ऋषि कहे गये हैं । प्रथम मण्डल के शेष सूक्तो के और अन्य मण्डलो के द्रष्टा विविध ऋषि थे जिन सबके नाम इन सूक्तो और मन्त्रो के साथ दिये गये हैं । इन ऋषियो मे मनु शिवि औशीनर प्रतर्दन मधुच्छन्दा और देवापि वैवस्वत के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं क्योकि इनके सम्बन्ध मे **पुराणो** और **महाभारत** से भी बहुत सी बातें ज्ञात होती है ।

(२) **राजाओं का नामगत आधार**—**ऋग्वेद** मे अम्बरीश[3] नहुष मान्धाता पुरुरवा[4] ऐल आदि अनेक राजाओ का उल्लेख है जिनके सम्बन्ध मे पौराणिक अनुश्रुति मे पर्याप्त और विशद वर्णन विद्यमान है । **ऋग्वेद** मे इनका उल्लेख प्राय दानस्तुति के प्रसग मे है इनके द्वारा निष्पादित किसी महत्वपूर्ण कार्य को सूचित करने के लिए ही किया गया है ।

दानस्तुतियो के माध्यम से भी अनेक राजा प्रकाश मे आते है । यथा—ऋग्वेद मे एक स्थान पर कानीत पृथुश्रवा द्वारा दिए हुए साठ हजार घोडा दो हजार ऊटो और दस हजार गाँयो का उल्लेख किया गया है ऋषि वशोश्य ने इस दान की भूरि भूरि प्रशसा की है ।

(ग) युद्धों के आधार पर

ऋग्वेद मे प्राप्त युद्धो मे दाशराज्ञ युद्ध सर्वप्रसिद्ध युद्ध है इसमे राजा सुदास

---

१ यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्र रसयासहाहु ।
यस्येमा प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ऋग्वेद १०।१ १।४।

२ सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो विभीदको ।
जागविर्मह्यमच्छान ॥ वही १ ।३४।१।

३ वही १०।६ ६।६८।

४ वही १।१००।१६ १।१२२।८ ।

५ वही १०।१३४ ।

६ वही १।६५।

७ षष्टि स स्राश्वस्यायुतासनमुष्ट्राणा विंशति शता ।
दशश्यावीना शता दशत्र्यरुषीणा गवा सहस्रा ॥ वही ८।४६।२२ ।

का इस राजाओं के समूह से युद्ध और उन पर प्रशंसनीय विजय का उल्लेख किया गया है।[1] आगे विस्तारपूर्वक इसका विवेचन किया जायेगा।

ऋग्वेद मे राजा अभ्यावर्ती और वचीवन्तों के राजा वरशिख के युद्ध का वर्णन मिलता है।[2]

इन्द्र द्वारा असुरो, दस्युओ और दासो को पराजित किये जाने का उल्लेख है। इन्द्र की शत्रु जातियो के उन राजाओ के नाम भी ऋग्वेद मे मिलते हैं जिनके पुरो को ध्वंस करके इन्द्र ने आर्यो के मार्ग को प्रशस्त किया। यथा—इन्द्र ने अपनी सेना के द्वारा दस्युओ का घात किया[3] अन्यत्र शम्बर के सौ पुरो के नष्ट किये जाने का उल्लेख है।[4]

इस प्रकार ऋग्वेद मे इतिहासविषयक सामग्री विद्यमान है। आर्य दास दस्यु पणि आर्यो और अनार्यो के युद्ध इनका ऋग्वेद मे क्या स्वरूप है? इसका विशद विवेचन आगे इसी अध्याय मे किया गया है। साथ ही विविध विद्वानो के मतो को प्रस्तुत करते हुए ऋग्वेद मे इनके वास्तविक चित्र को उपस्थित करने का प्रयास किया गया है। सायण ग्रिफिथ और विल्सन जैसे इतिहासपक्षिया के विचारो के साथ-साथ यथास्थान ऋषि दयानन्द के मत को भी प्रस्तुत किया गया है।

२ ऋग्वैदिक आर्य

ऋग्वैदिक वर्ण विभाजन प्रमुखत दो विभागो की सूचना देता है—आर्य और अनार्य। ऋग्वेद मे प्रयुक्त वर्ण शब्द के विभिन्न अर्थ हैं और विविध विद्वानो के द्वारा इससे विविध अभिप्रायो को ग्रहण किया गया है। आर्य वर्णम् और दास वर्णम की व्याख्याओ के आधार पर ही इनका अर्थ निर्धारण सम्भव है जो आगे विस्तार से किया जायेगा।

पाश्चात्य विद्वानो की यह प्रबल धारणा है कि आर्य विदेशो से भारत आये हैं इनका मूल निवास भारत भूमि न होकर अन्यत्र कही है। यहाँ के मूल निवासी दास और दस्यु हैं जिन्हे अनार्य कहा गया है। बाल गगाधर तिलक ने आर्यो का मूलस्थान भारतवर्ष न मानकर उत्तरी ध्रुव का कटिबन्ध माना है। कतिपय अन्य विद्वज्जनो के मत को भी प्रस्तुत करते हुए भगवतशरण उपाध्याय ने लिखा है[5] कि कुछ विद्वानो ने यह स्थान वहलीक और कुछ ने पामीरो मे निश्चित किया परन्तु साधारणतया आज ऐतिहासिको को जो मत मान्य है वह है कि

---

१ ऋग्वेद, ७।१८।७।८३।६ ७

२ वही ६।२७।४ ८।

३ वही १।१००।१८।

४ अध्ययवो य शत शम्बरस्य पुरो बिभेदाश्मनेव पूर्वी ॥

वही २।१४।६

५ भगवतशरण प्राचीन भारत का इतिहास पृ० २५।

भारतीय और 'जेन्दावेस्ता' मे उल्लिखित इरानी आर्य प्राचीन 'हिन्दू जर्मन' अथवा हिन्दू यूरोपीय जाति अर्थात् वाइरोज की एक विशिष्ट शाखा थे। मूल जाति की इस शाखा के पूर्वाभिमुख प्रसार के पहले सबका निवास स्थान एक ही केन्द्र मे था। वहाँ वे चिरकाल से बसे हुए थे। यह केन्द्र अनेक विद्वानो ने अनेक प्रकार से आका है। मक्समूलर के मत मे आर्यों का आदिम निवास मध्य एशिया मे था। बेन्फ उस स्थान को कृष्णसागर के उत्तर का प्रशान्त यूरोपीय मदान ठहराते हैं। गाइगर के मत मे यह स्थल मध्य और पश्चिमी जर्मनी था इसी प्रकार गाइल्स ने उसे आस्ट्रिया हंगरी और बोहेमिया की सम्मिलित भूमि ठहराया। उपर्युक्त मान्यता को मानने वाले विद्वान यह स्वीकार करते हैं कि आर्य भारत भूमि मे बाहर से आये हैं और यहाँ के मूल निवासी दास और दस्युओं के साथ निरन्तर इनका सघर्ष हुआ है ऋग्वेद इसका साक्षी है। इस पद्धति को मानने वाले विद्वान वेदो मे इतिहास की सत्ता को स्वीकार करते है। इसके विपरीत कुछ भारतीय विद्वान यह मानते हैं कि ऋग्वेद मे प्रयुक्त आर्य दास और दस्यु नाम‍ किसी जाति के बोधक न होकर उन व्यक्तियो का बोध कराते है जो इन शब्दो से प्राप्त गुणो और अवगुणो को धारण करने वाले है।[1] ये विद्वान वेदो मे इतिहास को स्वीकार नही करते हैं। ये दोनो विचारधाराये वेद मे प्राप्त वर्ण शब्द की व्याख्या से ही ज्ञात होती हैं।

मक्डानल ने एक ऋचा[2] की पाद टिप्पणी मे दासो को भारत का मूल निवासी' (Aborgines) कहा है।[3] और उन्हे आर्यों से भिन्न प्रतिपादित किया है। पीटर्सन के अनुसार भी दास अनार्य जाति है।[4] इसके अनुसार 'दास वर्ण' का अर्थ है—दी होस्टाइल कलर डार्क स्किन इन्होने दास और दस्युओं को आर्यो का शत्रु स्वीकार किया है चाहे वह राक्षस हैं अथवा मानव। विलसन के मतानुसार भी यहाँ वर्ण शब्द जाति का बोधक है।[6] प्रस्तुत ऋचा पर सायणकृत भाष्य मे कहा गया है—यश्च दासं वर्ण शूद्रादिकम्। यथा दासमुपक्षपयितारम्। अधर निकृष्टमसुरं गुहा गुहायां गूढ़स्थाने नरके वा अकः अकार्षीत्।

---

१ ए० सी दास ऋग्वैदिक इण्डिया पृ० १२२ २३।

२ यो दास वर्णमधर गुहाकः ऋग्वेद २ १२।४।

३ मक्डॉनल वैदिक रीडर प० ४८।

४ दी नान-आर्यन कलर वही प० ४८।

५ पीटर्सन हिम्स फ्रोम दी ऋग्वेद प० ११७।

६ हू कन्साइन्ड दी बेस सरवाइल ट्राइब टू दी केवर्न दे० २।१२।४ पर विलसन भाष्य।

७ देखिये प्रस्तुत ऋचा पर सायण भाष्य।

कतिपय स्थलों पर वर्ण का अर्थ रंग रूप या रस किया गया है।[1] आर्यंवर्णम्' पर विचार करने से ज्ञात होता है कि यहाँ भी 'वर्णम्' का अर्थ जाति (ट्राइब) से ग्रहण किया गया है। एक ऋचा[2] की व्याख्या में विलसन ने आर्यं वर्णम् को 'आर्य जाति' इस अर्थ मे ग्रहण किया है।[3] सायण ने 'आर्यं वर्णम्' से शूद्र के अतिरिक्त त्रैवर्णिकों का ग्रहण किया है—'दस्यून बाधकानसुरान् हत्वी हत्वा आर्य उत्तम वर्ण त्रैवर्णिक प्र आवत्। यथा कश्चिन्नो न प्रवेशयापालयत्। इस प्रकार आर्यों को दस्युविरोधियो के रूप मे चित्रित किया गया है। अन्यत्र[4] सायण ने 'वर्ण का अर्थ अनिष्टनिवारक' किया है।

इस प्रकार भिन्न भिन्न व्याख्याकारो ने दास वर्ण' का अनार्य जाति' काली त्वचा वाले और राक्षसादि एवं आर्य वर्ण' का आर्य जाति त्रैवर्णिक जाति और स्वाभावत श्रेष्ठ पुरुष आदि अर्थों का ग्रहण किया गया है।

वर्ण'-विभाजन को कतिपय पाश्चात्य विद्वानों ने रंग के आधार पर भी निर्धारित करने का प्रयत्न किया है। वे वर्णव्यवस्था का आधार रंग को स्वीकार करते हैं। आर्यों को श्वेत चर्मवाला और अनार्यों को कृष्ण त्वचा वाला कहा गया है।

प्रो मैक्समूलर ने एक ऋचा[5] को आधार मानकर कहा है कि[6] जब वर्ण शब्द जाति अर्थ का बोध कराता है तब दो जातियो के विषय मे कहता है—आर्य और अनार्य श्वेत वर्ण वाले और कृष्ण चर्म वाले। एन० के० दत्त ने रंगभेद को वर्णव्यवस्था का आकार घोषित किया है।[7]

---

१ ऋग्वेद १।७३।७ २।३।५ ९।९७।१५ ९।१०४।४ १०।१२४।७, १।११३।२ १।९२।१० १।९६।५ २।४।५ २।१।१२।

२ हिरण्यमुत भोग ससं न हत्वी दस्यू प्रार्यं वर्णमावत् ॥ वही ३।३४।९।

ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल के बारहवें सूक्त की चौथी ऋचा को पाश्चात्य विद्वान् दास और दस्युओ के काला रंग होने के विषय मे प्रमाण रूप से प्रस्तुत करते हैं।

३ And having destroyed the Dasyu he protected the Arya tribe देखिये ३।४९।९ पर विलसन भाष्य।

४ त्व सो मन्यु दासस्य श्चम्नन्त ते न आ दक्षन त्सुविताय वर्णम् ॥
ऋग्वेद १।१०४।२।

५ वही १।१७५।३।

६ मूल संस्कृत उद्धरण भाग १ अनु० रामकुमार राय पृ० १९७।

७ The foremost is the extreme divergence of the two types Aryan and non Aryan on the Indian soil not only in colour and language but in physical characteristics, specially colour एन० के० दत्त पृ० २१।

ऋग्वेद क अनुशीलन से ज्ञात होता है कि उसम ऐसी ऋचायें हैं जिनमें इन्द्र को युद्धो मे यजमान आय का रक्षक कहा गया है।[1] इसमे कृष्ण वण की त्वचा को काटकर शत्रुओ को मार देन का उल्लख है। सायण न इस ऋचा मे कृष्ण नामक असुर का सकत किया है जिसका वण काला था। विल्सन त्वच कृष्णामर न्धयत्' का अथ करते हैं— He tore off the black skin of the aggressor अन्य भारतीय विद्वान् रगभेद को इस दृष्टि स स्वीकार न करक व्यक्तियो क मन पर चढी काली मल की पत मानते है जो इन्द्र द्वारा विनष्ट कर दी गई।

ऋग्वेद म कृष्णामपत्वचम्[2] कृष्णयोनी[3] आदि शब्दो का प्रयोग प्राप्त होता है जिसका अथ पाश्चात्य विद्वानो क अनुसार— ब्लक ट्राइब्स किया गया है। एन० क० दत्त क मत मे—योरप मे विकसित होन वाली राष्ट्रीयता की अपेक्षा भारत मे जाति को विकसित करन मे महत्वपूर्ण कारणो के अन्तगय श्वेत वर्ण आर्यो का कृष्णवण अनार्यो के साथ होन वाले युद्ध क प्रमुख रहे।[4] मूर भी दस्यु को जाति के अथ मे ही ग्रहण करते है और रगभेद की धारणा को सुपुष्ट करते हैं।[5]

इस प्रकार कतिपय विद्वानो के मतानुसार जाति व्यवस्था का प्रारम्भ वण अथवा रग के भेद के परिणामस्वरूप हुआ। प्रारम्भ म वास्तव मे दो ही वर्ण थे गोरे (आय) और काले (अनाय)। भारतीय विद्वानो न ऋग्वेद म वर्णित आय और दस्युओ का भद जातीय न मानकर गुण कम स्वभाव पर आश्रित माना है। सोमाभिषवण' करके इन्द्र को समर्पित करन वाल आय कहलाय और जो सोमाभिषवण नही करते थे और इन्द्र की सत्ता मे विश्वास नही रखते थे व दास और दस्यु कहलाये। यहाँ तक कि वे मनुष्य कहे जान की भी योग्यता नही रखते थे।[6] रागोजिन न भी वदिक मनुष्य वग के दो विभाग किये है—सोम—अभिषवण करन वाल और दूसरे सोम न निकालने वाल।[7] उनके मतानसार सोम न निकालन वालो को शत्रु सज्ञा प्रदान की गई। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि दस्यु भी अपन गुण कम अथवा स्वभाव म परिवतन करके आय बन सकते थे। कतिपय अन्य भारतीय विद्वान यथा—दयानन्द सरस्वती आदि रग भेद की कल्पना का

१ ऋग्वेद १।१३०।८।
२ वही ९।४१ १।
३ वही २।२०।७।
४ एन० के० दत्त—ओरिजन एण्ड ग्रोथ आफ कास्ट इन इण्डिया प० ३४।
५ जे० मूर ओरीजनल सस्कृत टैक्स्ट भाग २ प० २८२।
६ ए० सी० दास ऋग्वैदिक इण्डिया प १२३।
७ जड ए० रागोजिन वदिक इण्डिया प० १७१।

निराधार घोषित करते हुए सम्बन्धित स्थलों की अन्यथा व्याख्या करते हैं। इस प्रकार वर्ण पद के रंग और वरण धातु से निष्पन्न मानकर 'वरण करना' अर्थों को स्वीकार किया जा सकता है। ऋग्वेद में प्रयुक्त 'वर्ण' पद विविध स्थलों पर एक विशिष्ट प्रकार के अर्थ को द्योतित करने वाला था जो कालांतर में जाति का पर्यायवाची होकर अन्ततोगत्वा जाति के रूप में ही परिणत हो गया।

३ आर्य और दस्यु—

आर्य और दस्यु में पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार जातिगत भेद है जबकि भारतीय विद्वद्गण इस भेद को गुणगत स्वीकार करते हैं। विविध ऋचाओं की व्याख्या करते हुए विविध विद्वानों ने आर्य और दस्यु के भेद को स्पष्ट किया है। इन्द्र आर्य के बल और यश को बढ़ाता है और दस्युओं के नगरों का विनाश करता है।[1] अन्यत्र[2] भी इन्द्र द्वारा दस्युओं को मारकर आर्यों की रक्षा का वर्णन प्राप्त होता है। एक ऋचा में ऋषि दयानन्द के अनुसार आर्य उत्तम जन हैं और दस्यु परद्रव्यापहारक हैं।[3] आर्य को यज्ञ कर्म करने वाले और दस्यु को कर्म न करने वाला मनुष्य कहा गया है।[4] आर्य सत्य अहिंसा और परोपकारादि व्रत को धारण करने वाले हैं जबकि दस्यु अव्रत है।[5]

आर्य और दस्युओं के परस्पर भेद को बड़े स्पष्ट शब्दों में बताया गया है। आर्य विद्वान नित्य यज्ञ करने वाले और सदाचरणशील है तथा दस्यु यज्ञ का विनाश करने वाले और यज्ञ न करने वाले हैं।[6] ग्रिफिथ उक्त ऋचा की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि आर्य वे हैं जिन्होंने सर्वप्रथम वेद की भाषा को बोला किन्तु दस्यु यहाँ के मूल निवासी हैं। आर्य सत्यवादी और ईश्वर के प्रति, इन्द्र के प्रति कृतज्ञ होते थे जबकि दस्यु ईश्वरोपासना से सर्वथा विमुख थे। विल्सन ने आर्यों का सम्माननीय और सभ्य जाति तथा दस्युओं को सम्भवतया भारत की एक असभ्य जाति स्वीकार किया है। सायण ने आर्यान् की व्याख्या विदुष तथा

---

१ स जातूभर्मा श्रद्दधान ओजः पुरो विभिन्दन्नचरद् वि दासीः।
विद्वान् वज्रिन् दस्यवे हेतिमस्यार्यं सहो वर्धया द्युम्नमिन्द्र ॥
ऋग्वेद, १।१०३।३।

२ हत्वी दस्यून् प्रार्यं वर्णमावत्। वही ३।३४।६।

३ अपावृणोर्ज्योतिरार्याय नि सव्यतः सादि दस्युरिन्द्र। वही २।११।१८।

४ त्वं ह नु त्यददमायो दस्यूँरेकः कृष्टीरवनोरार्याय। वही ६।१८।३।

५ सूर्ये दिवि रोहयन्तः सुदानव आर्या व्रता विसृजन्तो अधि क्षमि।
वही १०।६५।११।

६ वि जानीह्यार्यान्ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान् ॥
वही १।५१।८।

७ १।५१।८ पर ग्रिफिथकृत भाष्य।

विल्सन और ग्रिफिथ ने आय शब्द से ही की है। सायण ने दस्यव की व्याख्या तेषामनुष्ठातृणामुपक्षपयितार शत्रव किन्तु विल्सन और ग्रिफिथ ने दस्यु ही की है। इस प्रकार ये परस्पर विरोधी रूप मे चित्रित किये गये हैं एक दूसरे के शत्रु हैं।

एक ऋचा[1] मे सायण ने दस्यून्' का अथ बाधकानसुरान् किया है। विल्सन और ग्रिफिथ—दोनो विद्वान् दस्यु को दस्यू ही स्वीकार करते हैं। ऋषि दयानन्द सरीखे भारतीय विद्वान ने आर्यं वर्णम्' का अर्थ उत्तम गुण कर्मस्वभावम् धार्मिकम् जनम् स्वीकर्तव्यम् और दस्यून' का अथ साहसिक कम करने वाले चोर आदि किया है।[2]

अश्विनी देवों को सम्बोधित कर कहा गया है कि वे खेत मे धान्य का वपन करते हुए मानव के लिये अन्न रस का दोहन करते हुए और शत्रु को तीक्ष्ण हथियार से विनष्ट करते हुए आर्यो के लिये विशाल प्रकाश का स्थान बनाते आये हैं।[3] प्रस्तुत ऋचा मे सायण आर्याय का अर्थ 'विदुषे और दस्यु' का अर्थ उपक्षय-कारिणमसुरपिशाचादिकम् करते है। म्यूर विल्सन और ग्रिफिथ न दस्यून और आर्याय का अथ दस्यु' और आय ही किया है।

एक ऋचा मे आय भाव से दस्युओ का सहार करने वालो की स्तुति का उल्लेख किया गया है। सायण न आर्येण की व्याख्या आयभावन और दस्यून की उपक्षपयितृन् की है। आर्येन' को विल्सन न आय द्वारा ग्रिफिथ न आय के साथ तथा दस्यून् को दोनो न दस्यु ही स्वीकार किया है।

एक अन्य ऋचा[5] मे इन्द्र की स्तुति मे कहा गया है कि उन्होंने आर्यो के जलों को दस्यु को नही दिया है। इसमे विदित होता है कि आर्य और दस्यु दोनो परस्पर भिन्न है। सायण ने आय नाम की व्याख्या 'आर्य सम्बन्धी उदकम् और दस्यव को शत्रु उपक्षपयित्र' कहा है। विल्सन व ग्रिफिथ ने आय नाम को आय और दस्यव को दस्यु अर्थ मे ही ग्रहण किया है।

एक ऋचा[6] मे यह उल्लख प्राप्त होता है कि अग्नि ने आय व्यक्ति के लिए ज्योति प्रदान की है और दस्युओ को स्थान से निकाल दिया है। सायण ने आर्याय को कर्मवते जनाय और दस्यून को कर्महीनान् कहा है जबकि विल्सन

---

१ येनमा विश्वा च्यवना कृतानि यो दास वर्णमधर गुहाक। ऋग्वेद २।१२।४।

२ देखिये प्रस्तुत ऋचा २।१२।४ पर दयानन्द भाष्य।

३ यव वृकेणाश्विना वपन्तेष दुहन्ता मनुषाय दस्रा।
अभि दस्यु बकुरेणा धमन्तोरु ज्योतिश्चक्रथरार्याय ॥ ऋग्वेद, १।११७।२१।

४ सनेम ये त ऊतिभिस्तरन्तो विश्वा स्पृध आर्येण दस्यून्। वही २।११।१९।

५ अह शुष्णस्य श्नथिता वधयम न यो रर आय नाम दस्यवे ॥ वही १०।४९।३।

६ त्व दस्यू रोकसो अग्न आज उरु ज्योतिर्जनयन्नार्याय ॥ वही ७।५।६।

और ग्रिफिथ परम्परानुसार दोनो को आर्य और दस्यु अर्थ में ही ग्रहण करते हैं।

एक ऋचा[1] मे मन्यु को अमित्रहा वृत्रहा और 'दस्युहा कहा गया है। सायण ने दस्युहा का अर्थ—'दस्यु उपक्षपयिता शत्रु किया है। प्रस्तुत ऋचा मे विल्सन ने दस्यु का अर्थ शत्रु' किया है जबकि किसी अन्य मन्त्र की व्याख्या मे उन्होने ऐसा अर्थ नही किया है। ग्रिफिथ ने दस्यु को 'दस्यु' ही कहा है।

उपयुक्त सम्पूर्ण विवरण से स्पष्ट होता है कि आर्य और दस्यु दो पृथक पृथक सत्ता थी। भारतीय मनीषियों ने उन्हे गुणगत आधार पर पृथक किया है किन्तु पाश्चात्य विद्वान् इसे जातिगत विभाजन स्वीकार करते हैं।

४ आय

ऋग्वेद की ऋचाओ मे स्वतन्त्र रूप से भी आय शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है। वहाँ उससे क्या तात्पय है? इसका विशद विवेचन आगे किया जायेगा। प्रो० मक्समूलर[2] ने आर्य जाति की पृथक जाति के रूप मे सत्ता का खण्डन किया है। आर्यों से उन्होने अपना तात्पय आर्य भाषाओ के बोलने वालो से बताया।

सम्प्रति ऋग्वदिक मन्त्रो की व्याख्याओ के आधार पर आय कौन हैं? और उनके क्या गुण है? इस पर विचार किया जायेगा। कुल ११ ऋचाओ मे स्वतन्त्र रूप से आय शब्द का प्रयोग किया गया है।

एक ऋचा[3] मे श्रेष्ठ कम के सम्पन्न किये जाने का उल्लेख है। सायण आर्या का अथ श्रेष्ठानि कल्याणानि करते हैं।

एक ऋचा[4] मे श्रेष्ठ ज्योति की याचना की गई है। इसमे सायण ने आयम् का अथ श्रेष्ठम् विल्सन ने सवश्रेष्ठ (एक्सीलेंट) और ग्रिफिथ ने आय ही किया है।

---

१ अमित्रहा वृत्रहा दस्युहा च विश्वा वसून्या भरा त्वं न। ऋग्वेद १०।८३।३।

२ I have declared again & again that if I say Aryan I mean neither blood nor bones nor hair nor skill, I mean simply those who speak an Aryan Language To me an ethnologist who speaks of Aryan race Aryan blood Aryan yes and hair is as great a sinner as a linguist who speaks o a dolichecephalic dictionary of a branchycephalic grammar प्रो० मक्समूलर उद्धृत डॉ० निरूपण विद्यालकार भारतीय धर्मशास्त्र मे शूद्रो की स्थिति पृ० ५१।

३ सूय दिवि रोहयन्त सुदानव आर्याव्रता विसृजन्तो अधिक्षमि ॥

ऋग्वेद १०।६५।११।

४ प्रैषामनीक शवसा दविद्युतद्विदत्स्व र्मनवे ज्योतिरायम् ॥ वही १०।४३।४।

नवम मण्डल की एक ऋचा[1] मे निष्पन्न सोम का श्रेष्ठ यजमानों के घर की ओर प्रवृत्त होने का उल्लेख किया है प्रस्तुत ऋचा मे प्रयुक्त आर्या शब्द की व्याख्या करते हुए सायण लिखते हैं—'आर्याणां श्रेष्ठानां यजमानानाम्'। विल्सन आर्या का अर्थ – सम्माननीय (पूजक) करते हैं और ग्रिफिथ ऋचा की पादटिप्पणी मे धामान्यार्या के अर्थ को अस्पष्ट बताते हैं।

एक स्थान पर[2] आर्य शब्द का अर्थ सायण ने भद्र' विल्सन ने समृद्ध (प्रोसपरियस) और ग्रिफिथ ने उदार (नोबिल) किया है। प्रस्तुत ऋचा आर्यों का आदर्श वाक्य प्रतीत होती है। यदि गुणकृत आधार पर आर्यों और दस्युओं का विभाजन कर तो म त्र मे कथित गुणो के आधार पर अनार्यों को भी आर्य बनाया जा सकता है।

एक ऋचा[3] मे आर्य की वृद्धि करने वाले अग्नि देव की स्तुति की गई है। इसमे आर्यस्य की व्याख्या सायण न उत्तमवर्णस्य विल्सन ने आर्यों के सहायक और ग्रिफिथ ने आर्य ही की है। विल्सन ने पादटिप्पणी मे स्पष्ट किया है कि यहाँ आर्य से तात्पर्य आर्य जाति के सदस्य से है जो अनार्यों के विरोध मे है।

अन्यत्र एक ऋचा म इन्द्र द्वारा आर्य की गौओं को तृत्सुओं से लाकर देने का उल्लेख किया गया है। सायण ने आर्यस्य की व्याख्या कर्मशीलस्य की है। ग्रिफिथ और विल्सन दोनो आर्य को आर्य ही मानते हैं।

एक ऋचा[5] मे इन्द्र द्वारा ऊर्ण और चित्ररथ नामक राजाओ को जो सरयू नदी के किनारे निवास करते थे और स्वय को आर्य कहते थे किंतु इन्द्र के प्रति विमुख थे वध का उल्लेख किया गया है। प्रस्तुत ऋचा से ऐसा ज्ञात होता है कि निश्चित रूप से इन्द्र के प्रति श्रद्धा भाव आर्य का प्रमुख गुण होना चाहिये और जो आर्य न होकर स्वय को आर्य कहता था इन्द्र उसका वध कर देते थे। सायण ने आर्या की व्याख्या— आर्यो अ यत्वाभिमानिनो स तावपि। इन्द्र विषयभक्ति श्रद्धारहितावित्यर्थ की है। ऋषि दयानन्द इस ऋचा के भाष्य मे राजाओ की सत्ता स्वीकार न करते हुए दो रथो का वर्णन करते हैं। उन्होने रथो का नाश और आर्यो (उत्तम गुणकर्म और स्वभाव वाला) के पालन का उल्लेख किया है।

प्रथम मण्डल के एक सूक्त मे अग्नि को कहा गया है कि सभी देवताओं ने

---

१ एते धामान्यार्या शुक्रा ऋतस्य धारया। वाज गोम तमक्षरन्॥
ऋग्वेद ९।६३।१४।

२ इन्द्र वर्धन्तो अप्तुर कृण्वन्तो विश्वमार्यम्। अपघ्नन्तो अराव्ण।
वही ९।६३।५।

३ वही ८।१०३।१।

४ वही ७।१८।७।

५ उत त्या सद्य आर्या सरयोरिन्द्र पारत। अर्णाचित्ररथावधी॥ वही ४।३०।१८।

६ त त्वा देव सोऽजनयन्त देव वैश्वानर ज्योतिरिदार्याय। वही १।५९।२।

तुझे आर्य के लिए ज्योतिरूप ही उत्पन्न किया है। सायण आर्याय का अर्थ विदुषे मनवे यजमानाय वा' विल्सन सम्मानीय ऋषि के लिये' और ग्रिफिथ आय के के लिए करते है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि इन्द्र आर्य की रक्षा करता है। एक अन्य ऋचा' म भी य ी कहा गया है कि इन्द्र ने युद्ध मे आय की रक्षा की है मनुष्या के लिये अव्रतो का नाश कर दिया गया है और कृष्ण की कृष्ण-त्वचा को काटकर मार दिया गया है। सायण ने आय का एक भिन्न ही अर्थ किया है— सर्वैर्गन्तव्यम् अर्थात् आय की सभी व्यक्तियो से गमनीयता द्योतित करना चाहते है। विल्सन आय को आय ही किंतु अव्रतान्' का अथ धार्मिक सस्कारो का उल्लघनकर्त्ता करते हैं। ग्रिफिथ आय को आय और अव्रतान्' को नियमहीन (ला लस) मानते हैं।

सम्पूण विवरण यह स्पष्ट करता है कि विभिन्न विद्वानो ने आय के विभिन्न अथ किये है। सायण आय को एक जाति स्वीकार न करके श्रेष्ठ, कल्याण प्रय यजमान भद्र उत्तम वण कमशील सबके द्वारा गमनीय आदि अथ करते है। यद्यपि विल्सन आय को जाति मानते है किन्तु विविध स्थलो पर अर्थो का वभिन्य भी किया है जसा कि उपयुक्त ऋचाओ मे व्याख्या के अन्तगत स्पष्ट किया गया है। ग्रिफिथ अधिकाश स्थलो पर 'आर्य' ही अथ करते हैं। इस प्रकार आय पाश्चात्य विद्वानो के मत म एक जाति विशेष का द्योतक है और भारतीय विद्वद्गण उसे प्रमुखत उपासक अथ म ग्रहण करते है। यथा—दयानन्द सरस्वती उत्तम गुण कम वाल को आय कहते ह।

४ दस्यु

दस्यु एक सदिग्ध व्युत्पत्तिवाला शब्द है'। दस्यति नाशयति परपदार्थानिति दस्यु तस्करो वा। दस्यु की सिद्धि दसु उपक्षये धातु से यजिमनिशुन्धिजनि भ्यो युत् स यु प्रत्यय लगाकर होती है। निरुक्त' मे कहा गया है—दस्यु दस्यते क्षयार्थात् उपदस्यन्त्यस्मिन् रसा उपदासयति कर्माणि। यास्काचाय यज्ञादि श्रेष्ठ कार्यो मे विघ्नोपादक को और जिसमे रस अथवा उत्तम गुणो का अश कम होता है— दस्यु मानते है। व दिक इण्डक्स के लखको के अनुसार यह शब्द ऋग्वेद मे अनेक स्थलो' पर स्पष्टत अतिमानवीय शत्रुओ के लिए व्यवहृत हुआ है। अन्यत

---

१ इन्द्र समत्सु यजमानमार्य प्रावत् मनवे शासदव्रतान् त्वच कृष्णामरन्धयत्।
ऋग्वेद १।१३०।८

२ वदिक इण्डक्स भाग १ पृ० ३४७।

३ निरुक्त ७।२३।

४ वदिक इण्डक्स भाग १ पृ० ३४७।

५ ऋग्वेद १।३४।७, १।१००।१८ २।१३।६।

अनेक स्थलो पर मानव शत्रुओ सम्भवत आदिवासियो को भी दस्यु नाम से व्यक्त किया गया है। उन स्थलो पर यही आशय रहा है कि दस्यु आर्यो का विरोधी है और आर्यगण उन्हे देवो की सहायता से पराजित करते हैं।[1]

कीथ और मकडानल के अनुसार दस्यु शब्द ईरानी बन्हु 'दख्यु' के समान है जो एक प्रान्त का द्योतक है। जिमर के विचार को प्रस्तुत करते हुए उन्होने कहा है कि जिमर के अनुसार इसका मूल अर्थ शत्रु था जिससे ही ईरानियो ने आक्रामक देश विजित देश प्रदेश आदि आशय विकसित कर दिये जबकि भारतीयो ने 'शत्रु' अर्थ सुरक्षित रखते हुए इसमे दानव शत्रुओं का आशय भी सम्मिलित कर लिया। राथ का विचार है कि 'मानव शत्रु' का अर्थ देवो और दानवो के कलह का ही स्थानान्तरण है।[2]

जैसा कि पहले वर्णन किया जा चुका है कतिपय विद्वानो ने भाषागत आधार पर भी आर्य और दस्यु मे भेद किया है। दस्यु विषयक वर्णन करते समय मनु[3] लिखते हैं कि मुख बाहु ऊरु तथा चरणो से उत्पन्न होने वालो (ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र) से जो जातियाँ बाहर हैं वे चाहे म्लेच्छो की भाषा बोलते हो या आर्यों की भाषा बोलते हो दस्यु कहे जाते हैं।

दस्यु के लिये विविध विशेषणो का प्रयोग किया गया है जो उसकी विशेषताओ को स्पष्ट करते हैं। दस्यु को अशिव कहा गया है। अश्विनी अहितकारी दस्यु की माया को विनष्ट करने वाले है।[4] सायण 'अशिव' का अर्थ दुःखकारी और दस्यु का अर्थ उपक्षपयिता करते हैं। दयानन्द सरस्वती दस्यु का उत्कोच और अशिव का सबको दुःख देने वाले अर्थ करते हैं।

एक ऋचा[5] मे दस्यु के अनेक विशेषणो का प्रयोग किया गया है। दस्यु को **अन्यव्रतम्**—व्रतभिन्न अर्थात् सत्य अहिंसा आदि से भिन्न असत्य हिंसा तथा स्वार्थसाधन आदि सकल्प रखने वाला **अमानुषम्**—मानवीय भावनाओ से रहित **अयज्वानम्** यज्ञ न करने वाले और **अदेवयुम**—दिव्य गुणो से रहित कहा है। सायण के अनुसार इसकी व्याख्या निम्नत की गई है—**अन्यव्रतम् व्यतिरिक्तकर्माणम्** अतएव **अमानुष मानुषाणामिन्द्रयाजिनामप्रियम् अयज्वानम् अयष्टारम् अदेवयुम अदेवकामिनम् पापिनम**। विलसन ने प्रस्तुत विशेषणो का अर्थ क्रमश अन्य व्रतो का

---

१ ऋग्वेद १।५१।८ १०३।३ ११७।२१ २।११।१८ १९ ३।३४।९ ६।१८।३ ७।५।६ १०।४९। ।

२ वही व वैदिक इन्डेक्स भाग १ पृ० ३४९।

३ मुखबाहूरुपज्जाना या लोके जातयो बहि ।
म्लेच्छवाचश्चार्यवाच सर्व ते दस्यव स्मृता ।। मनु० १०।४४।

४ भिनन्ता दस्योरशिवस्य माया अनुपूर्व वृषणा चोदयन्ता। ऋग्वेद १।११७।३।

५ अन्यव्रतममानुषम यज्वानमदेवयुम्।
अव स्व सखा दुधुवीत पर्वत सुघ्नाय दस्यु पर्वत ।। वही ८।७०।११।

करने वाले म ,ष्य के शत्रु यज्ञ न करने वाले और देवार्चन न करने वाले किया है। ग्रिफिथ ने दस्युओं को यज्ञ न करने वाले अमानवीय और नास्तिक कहा है।

एक ऋचा[1] में दस्यु को मायावान् और अब्रह्मा विशेषण दिये गये हैं। यहाँ दस्यु को मायावी और अज्ञानी कहा गया है। सायण प्रस्तुत मन्त्र में मायावान् कपटी' और अब्रह्मा' का अर्थ नास्तिक करते हैं। शक्तिशाली राजा इन्द्र ज्ञानादि का प्रसार करके दस्यु के अब्रह्मत्व और अज्ञान का नाश करता है।

इसी प्रकार अन्यत्र[2] भी अग्नि द्वारा दस्यु के विनाश का वर्णन किया गया है। उक्त ऋचा में दस्युओं को अक्रतून् ग्रथिन मृध्रवाच अश्रद्धान् अवृधान् अयज्ञान् और अयज्यून् आदि विशेषणों से युक्त कहा गया है। सायण द्वारा प्रस्तुत ऋचा की व्याख्या में कहा गया है—

अक्रतून् अयज्ञान ग्रथिन अल्पकान् मृध्रवाच हिंसित वचस्कान् पणीन् पणिनामकान् वार्धुषिकान् अश्रद्धान् यज्ञादिषु श्रद्धारहितान् अवृधान् स्तुतिभिरग्नि मवर्धयत अयज्ञ न् यज्ञहीनान् तान् दस्यून् वधाय कालस्य नेतृन् अग्नि प्र प्र अत्यन्त नि विवाय नितरां गमयेत्। तदेवाह अग्नि पूर्व मुख्य सन् अयज्यून अयजमानान् अपरान् अधःयान चकार।

विल्सन ने इस ऋचा को स्पष्ट करते हुए लिखा है—हे अग्नि तू उन दस्युओं को पूर्णतया बन्धन में ले ले जो धार्मिक कृत्यों को नहीं करते जो बकवादी और हिंसित वचनों को बोलने वाले हैं जो कृपण नास्तिक अग्नि का सम्मान न करने वाले और यज्ञादि न करने वाले हैं।

इसी प्रकार ग्रिफिथ भी दस्युओं को निर्बुद्धि विश्वासहीन अमधुर वाणी बोलने वाले बकवादी अर्चनहीन अग्नि की उपासना से विहीन कहते हैं।

उक्त मन्त्रों से भिन्न ऋचा[3] ५।२९।१ में भी दस्यु के लिए मृध्रवाच विशेषण का प्रयोग किया गया है। प्रस्तुत विशेषण के आधार पर ही पाश्चात्य विद्वान् भाषा की दृष्टि से दस्यु को आर्यों से पृथक जाति के रूप में सिद्ध करते हैं।

दस्युओं के लिये यह मृध्रवाच उपाधि दो स्थलों पर प्रयुक्त हुई है। यद्यपि ऋग्वेद में मृध्रवाच शब्द पाँच स्थलों पर प्रयुक्त हुआ है। वैदिक इण्डक्स के लेखकों ने मृध्रवाच् का अर्थ हकलाना अथवा 'अस्पष्ट वाणी वाले किया है।

१ ऊतिभिस्तमिषणो द्युम्नहूतौ नि मायावानब्रह्मा दस्युरर्त। ऋग्वेद ४।१६।९।
२ न्यक्रतून् ग्रथिनो मृध्रवाचः पणीरश्रद्धाँ अवृधाँ अयज्ञान्।
प्र प्र तान् दस्यूँरग्निर्विवाय पूर्वश्चकारापराँ अयज्यून्॥
वही ७।६।३।
३ अनासो दस्यूँरमृणो वधेन नि दुर्योण आवृणङ् मृध्रवाचः। वही, ५।२९।१०।
४ वैदिक इण्डक्स भाग १ पृ० ३४९।

म्यूर कहते है कि' इस शब्द का अर्थ इतना अस्पष्ट है कि यह निश्चित नही किया जा सकता कि दस्यु विषयक वाणी विकार का ही प्रतिपादन करता है। इस उपाधि का अन्यत्र आर्यों के लिये भी व्यवहार हुआ होने के कारण इसका अर्थ सम्भवत आक्रामक वाणी वाले ही हो सकता है।

यह व्याहृति ऋक० ८।१८।१३ मे आर्य के लिये ऋक० ७।६।३ मे पणियो के लिये और ऋक १।१७४।२ ५।३२।८ १०।२३।५ मे आक्रामक लोगो के लिये प्रयुक्त हुई है कीथ और मक्डॉनल ने विविध विद्वानो के मतो को पादटिप्पणी म स्पष्ट किया है।[२] राथ क अनुसार इसका आशय अपमानजनक वाणीवाला है और जिमर इसी दृष्टिकोण का प्रबल समर्थन करते है। हिलेब्रान्ट इसमे शत्रु की भाषा बोलने वाला आशय देखते है और यह मानते है कि पुरुगण भाषा की दृष्टि से भरतो से भिन्न थे। वैदिक इण्डेक्स म ही निष्कर्ष रूप म कहा गया है कि— इस प्रकार यह शब्द दस्युओ के लिये भी व्यवहृत हो सकता है क्योंकि शत्रु की विचित्र भाषा या तो आर्यो अथवा आदिवासियो की ही भाषा रही होगी।

दस्युओ का मृध्रवाच विशेषण अनास क साथ आया है।[३] अनास का दो रूपो मे विग्रह किया गया है—अन् आस अ नास। पद पाठ और सायण दोनो इसे मुख विहीन (अन् आस) के रूप मे ग्रहण करते है। सायण अनास' की व्याख्या करते हुए लिखते है—आस्यरहितान्। आस्यशब्देन शब्दो लक्ष्यते। अशब्दान मूकान। विल्सन अनास का अर्थ वाणीविहीन करते हैं। ग्रिफिथ अनास' का अनुवाद नासिका विहीन करते है। पादटिप्पणी मे ग्रिफिथ ने लिखा है कि अनास का विग्रह अ नास करके नासिका विहीन अथवा चपटी नाकवाला है किंतु सायण क अनुसार— अन आस भी किया जा सकता है जिसका अर्थ मुख विहीन वाणीविहीन असभ्यता से बोलना है। व्याकरण की दृष्टि से अनास का विग्रहण अन आस' ही समीचीन है जिसका अर्थ है आस्यरहितान। ऋषि दयानन्द अनास का अर्थ अविद्यमानास्यान करते हैं।

इस प्रकार इन विग्रहो के आधार पर दस्यु एक वास्तविक जाति के लोग रहे होंगे ऐसा कुछ विद्वान् निश्चित करते है।

एक ऋचा म दस्यओ और शिम्युओ का इन्द्र द्वारा मरुतो के साथ मिलकर मारे जाने का वर्णन है। दयानन्द सरस्वती दस्यून का अर्थ 'दुष्टान' और शिम्यून का अर्थ शान्तान प्राणिन' करते है। ग्रिफिथ दस्यु और शिम्यु की टिप्पणी करते हुए लिखते है कि ये स्वदेशीय विरोधी जाति के लोग हैं। सायण ने 'दस्यून' का अर्थ

१ म्यूर ओरीजनल संस्कृत टैक्स्ट भाग २ पृ० ३७६।

२ वैदिक इण्डेक्स भाग १ पृ० ३४९ (पादटिप्पणी)।

३ ऋग्वेद ५।२९।१०।

४ दस्यूञ्छिम्यूंश्च पुरुहूत एवैर्हत्वा पृथिव्यां शर्वा नि बर्हीत्॥ वही १।१००।१८।

उपक्षपयितन शत्रून' और शिम्यून का अर्थ सम्मयितन् बाधकारिणो राक्षसादीन किया है।

एक अन्य ऋचा[1] मे कहा गया है कि इन्द्र ने अपनी भुजाओं में वज्र धारण किया और दस्युओं को मारकर उनके लौहमय नगरों को भी नष्ट कर दिया। सायण के अनुसार यहाँ दस्यून से तात्पर्य असुरान' से है। दयानन्द सरस्वती दस्यून को भयकरान चोरान कहते हैं। ग्रिफिथ पुर' का अर्थ नगर' न करके किला करते हैं।

अन्यत्र[2] भी दस्यु के नगरों का उल्लेख किया गया है। दस्यु शम्बर के नगरों को नष्ट करने का आग्रह किया गया है। सायण ने अन्य स्थानों के समान ही यहाँ भी दस्यु का अर्थ उपक्षपयिता किया है किन्तु इसे असुर शम्बर का विशेषण माना है। अर्थात् सायण के मत मे शम्बर एक असुर का नाम है। विल्सन भी इसी मत के समर्थक हैं। उन्होंने प्रस्तुत ऋचा की टिप्पणी मे कहा है कि 'शम्बर एक असुर ही है। ऐसा प्रतीत होता है कि दस्यु और असुर दोनो पर्यायवाची हैं। इसलिए सम्भवत दस्यु नास्तिक और हिन्दू विरोधी तत्त्व के रूप मे माना जा सकता है जो भारत मे ही निवास करते थे। ग्रिफिथ पुर' का अर्थ नगर न करके किला ही करते है। दयानन्द जी अपने भाष्य मे शम्बर' का अर्थ मेघ और दस्यु का परद्रव्यापहारक दुष्ट करते है।

म्यूर ने अपने दस्यु सम्बन्धी दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए लिखा है[3] कि उन्होंने एक अनुसन्धित्सु की दृष्टि से दस्यु और असुर विषयक सम्यक विवरण का ऋग्वेद मे अध्ययन किया किन्तु उन्हे अनार्य अथवा स्वदेशीय मूल निवासी कहा जा सके ऐसा कोई तत्त्व प्राप्त नही हो सका। साथ ही वे पुन लिखते हैं कि हमे यह नही विस्मृत करना चाहिए कि यदि दस्यु आर्यो की भाँति आचरण करते उनके समान धार्मिक कृत्य आदि सम्पन्न करते तो उन्हे भी आर्य नाम दिया जा सकता था।

म्यूर ने मक्समूलर को उद्धृत करते हुए लिखा है कि मक्समूलर दस्यु राक्षस और यातुधान पर टिप्पणी करते हुए लिखते है कि दस्यु का साधारण अर्थ है— शत्रु। विशेषतया जहाँ यह कहा गया है कि इन्द्र ने दस्यु का विनाश कर आर्यो की रक्षा की। यहाँ दस्यु' का अर्थ शत्रु है।

एक अन्य ऋचा[5] मे भी इन्द्र द्वारा दस्युओं के मारे जाने का वर्णन है। इसी लिये शत्रुओं का विनाश करने वाले मरुतो वाले इन्द्र को मित्रता के लिए आम

१ प्रात यदस्य वज्र बाह्वोर्धु हत्वी दस्यून् पुर आयसीर्नितारीत् ॥ऋग्वेद २।२०।८।
२ त्व शतान्यव शम्बरस्य पुरो जघन्था प्रतीनि दस्यो ॥ वही ६।३१।४।
३ म्यूर ओरिजनल संस्कृत टेक्स्ट्स भाग २ पृ० ३८७।
४ म्यूर द्वारा उद्धृत वही, पृ० २८९।
५ इन्द्रो यो दस्यूरधराँ अवातिरन् मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे।ऋग्वेद १।१०१।५।

ञित किया गया है । दयानन्द सरस्वती ने 'दस्यून्' का अर्थ सहसा परपराय् तृ न किया है ।

अन्यत्र[1] ऐसा ही उल्लेख किया गया है । इन्द्र ने शक्तिशाली वीरो के साथ आक्रमण करते हुए भी अन्त में अकेले ही चढ़ाई करके धनी दस्यु वत्र का अपने प्रचण्ड वज्र से वध किया । यहाँ दस्यु को धनी और यज्ञ विरोधी कहा गया है । सायण ने धनिन दस्यु का अर्थ बहुधनोपेत चोर किया है । विल्सन धनी असम्य अर्थ करते है साथ ही अयज्वान' का अनुवाद यज्ञ विरोधी' करते है । विल्सन टिप्पणी मे लिखत है कि वस्तुत वृत्र दस्य का साहित्यिक अर्थ — डाकू किन्तु प्रत्यक्षतया उसका प्रयोग आर्यों के विरोधी के रूप मे हुआ है जो भारत की असम्य जातियो मे मे थे । ग्रिफिथ धनिन दस्यम् पर टिप्पणी करते हुए लिखते है कि—वत्र का अर्थ सायण के अनुसार डाकू है वर्षा का नियामक । दस्यु शतानो का एक वर्ग है । ईश्वर और मनष्य का शत्रु, और कही इस शब्द का अर्थ असम्य भी किया गया है ।

म्यूर[2] ने भी लिखा है कि दस्यु शब्द वेद मे कहीं सभ्य व्यक्ति के लिये आया है साथ ही भारत के मूल निवासी असम्य जातियो से भी इसका अर्थ ग्रहण किया गया है ।

डा० निरूपण विद्यालकार ने प्रो० राथ के मत को उद्धृत किया है ।[3] राथ ने दस्यु शब्द के दो अर्थ किये हैं—१ अतिमानवीय वर्ग जो ईश्वर और मनष्यो से द्रोह करता था और इन्द्र व अग्नि जिस पर आधिपत्य करते थे । २ एक असभ्य विरोधी और दुष्टात्मा जन-समूह ।

ऋग्वेद मे एक स्थल पर दस्य के लिए अपृणत' विशेषण का प्रयोग किया गया है । अग्नि को सम्बोधित करके कहा गया है कि हे अग्न ! अत्रि ऋषि का दान कर देने वाले दस्यओ को पराजित कर तथा आक्रमण करने वाले मनुष्यो को भी पराजित करे । अपृणत' की व्याख्या सायण ने अददत (दान न देना) की है । विल्सन ने अपृणत को असभ्य जन-समूह किया है ।

इस प्रकार समग्र ऋग्वेद म दस्य विषयक सामग्री का विवचन करन पर दस्य विविध विशेषणो से यक्त प्राप्त होता है । प्रमुख रूप से दस्यु के अब्रह्म अव्रत अयज्ञन अमानुष अदेवयु अयज्वा और मायावान् आदि विशेषण आय है इससे स्पष्ट होता है कि वे भारत मे आने वाले गौरवर्ण आर्यो के विरोधी हैं । ये कृष्ण वर्ग चपटी नाक वाले अस्पष्ट भाषा भाषी व्यक्ति है । पाश्चात्य विद्वान दस्यु को

१ वधीर्हि दस्यु धनिन धनेन एकश्चरन्नुपशाकेभिरिन्द्र । ऋग्वेद १।३३।४ ।
२ म्यूर ओरीजनल संस्कृत टक्टस भाग २ पृ० ३६६ ।
३ डा० निरूपण विद्यालकार भारतीय धर्मशास्त्र में शूद्रों की स्थिति पृ० ५६ ।
४ आदग्ने अपृणतोऽत्रि सासह्या, दस्यनिष सासह यान्नृन् । ऋग्वेद ५।७।१० ।

भारत की मूल निवास करने वाली जाति मानते हैं। वस्तुत दस्यु के लिये प्राप्त विशेषणो के आधार पर दो विचारधारायें प्राप्त होती है—प्रथम विचारधारा पाश्चात्य विद्वानो और उनके मत के परिपोषको की हैं जो दस्यु को भारत की मूल निवासिनी जाति मानते हैं और द्वितीय उन भारतीय विद्वानो की है जो दस्यु को जाति न कहकर अवगुणयुक्त व्यक्ति का वाचक मानते हैं। भारतीय विद्वान् गुणकृत आधार पर दस्यु का विवेचन करते है। मक्समूलर ने स्वय दस्यु को शत्रु अर्थ मे ग्रहण किया है। म्यूर की विचारधारा अपने मे अस्पष्ट-सी है वे दोनो ही पक्षो का समर्थन करते प्रतीत होते है।

कतिपय विद्वान (यथा-योगी अरविन्द आदि) दस्यु को अन्धकार और अज्ञान का पर्यायवाची मानते हैं। अत उनके मत मे ऐतिहासिक व्याख्या करना अनुचित है। सम्पूर्ण चक्र दित्य अदित्य सत्य-अनत प्रकाश-अन्धकार के मध्य चलता है। अत उनके मत मे दस्यु को जाति मानकर चलना नितान्त भ्रामक है।

६ आर्य और दास

आर्य और दस्यु की भाँति ही आर्य और दास भी परस्पर विरोधी रूप मे ऋग्वेद मे दिखाई देते है। कुल १५ मन्त्रो मे आर्य और दास का इकट्ठा प्रयोग किया गया है। ऋग्वेद मे दास तो आर्य के विरोधी हैंही, किन्तु आर्य स्वय आर्यों के विरोधी चित्रित किये गये हैं। दुष्ट स्वभाव वाले दासो के अतिरिक्त आर्य भी जो बुरे कार्य करते हो वध के अधिकारी कहे गये हैं। इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि जो हिंसा करना चाहते है अथवा हमारा अनिष्ट चिंतन करते है उनके ऊपर अपने वज्र को गिराओ। शत्रु चाहे आर्य हो अथवा दास उनका अपने दुर्धर्ष बल द्वारा सहार कर दो।[1] षष्ठ मण्डल[2] मे भी इन्द्र को दस्यु और आर्य दोनो प्रकार के शत्रुओ को दण्ड देने का वर्णन किया गया है। यहाँ दास की व्याख्या सायण ने दासा उपक्षपयितृन कर्मविरोधिनो बलप्रभृतीनसुरान और आर्य की व्याख्या आर्या आर्याणि कर्मानुष्ठातृत्वेन श्रेष्ठानि की है। एक अन्य ऋचा[3] मे भी इष्ट देव से आर्यों और दास शत्रुओ को मारने की अनुनय विनय की गई है। इससे स्पष्ट होता है कि सम्भवत दुष्ट दास के वध की याचना के साथ-साथ दुष्ट कार्य कर्त्ता की चाहे वह वश से आर्य भी क्यों न हो वध की याचना ऋग्वेद मे की गई है। इससे यह भी प्रतीत होता है किसी जाति विशेष के प्रति घृणा का भाव ऋग्वेद पुष्ट नही करता।

---

१ अन्यिच्छ जिघ सतो वज्रमिन्द्राभिदासत ।
दासस्य वा मघवन्नार्यस्य वा सनुतर्यवया वधम् ।। ऋग्वेद १०।१ २।३।

२ त्वं ताँ इन्द्रोभया अभित्रादासा वत्राण्यार्या च शूर। वही, ६।३३।३।

३ दासा च वत्रा हतमार्याणि च सुदासमिन्द्रावरुणावसावतम्। वही ७।८३।१।

इन्द्र देव से प्राथना की गई है कि आप अनेका द्वारा आहूत अनेकश पूजित हो जो मनुष्य हमसे युद्ध करना चाहे चाहे वह आय हो दास हो अथवा असुर हम उसे पराजित कर सक ।[१] यहा सायण आय का अथ सवणिक दास का कमकर शूद्र और अदेव का देवादन्य असुर करते है । एक ऋचा[२] मे अग्नि द्वारा शत्रुआ की सपत्ति का अधिकार करने का और दासो तथा आर्यो कृत उप द्रवो के प्रशमन का वणन किया गया है । प्रस्तुत ऋचा मे भी आर्यो के आर्यो और दासो दानो प्रकार के शत्रुओ का वणन प्राप्त होता है । अ यत्र[३] भी दवकृपा से दास और आय दानो प्रकार के शत्रुआ को जीतने का उल्लेख किया गया है ।

एक ऋचा[४] मे इन्द्र और अग्नि को आर्यो और दासो द्वारा किये गये उप द्रवो का विनाश करने वाला कहा गया है । विल्सन आय और दास' को पवित्र और अपवित्र अथ मे ग्रहण करते है ।

उपयुक्त सम्पूण ऋचाय यह प्रमाणित करती है कि आर्यो के केवल दास ही नही आय भी शत्रु थ और बुरे काय करने वालो के वध मे कोई जातिगत भेद मान्य नही था सबके प्रति समदृष्टि की सूचना प्राप्त होती है ।

विघ्नोत्पादक दास आदि को श्रेष्ठ और धमपरायण बना देने की प्राथना की गई है । इन्द्र देव धार्मिक कृत्या का विरोध करने वाले और उसके नाश क कारण भूत दासो को आय अर्थात् धर्मात्मा और सदाचारी बना देते है ।[५] सायण के अनु सार उक्त ऋचा की व्याख्या मे कहा गया है—**यथा स्वस्या दासानि कमहीनानि मनुष्य जातानि आर्याणि कमयुक्तानि अकरो** । इससे स्पष्टतया विदित होना है कि आय और दास का अन्तर जातिविषयक न होकर कमगत आधार पर प्रतिष्ठित है ।

एक ऋचा[६] म आय शब्द इन्द्र के लिए व्यवहार मे लाया गया है । इसमे कहा गया है कि जब आय इन्द्र दास वृत्रादि का वध करने की इच्छा करता है तब सूय अपन रथ को आकाशमाग पर अग्रसर करता है । यहाँ सायण आय का अथ अभिज्ञ और दासाय का अथ उपक्षपयित्रे वृत्रादये करते है । विल्सन आय

---

१ यो नो दास आयो वा पुरुष्टुतादेव इन्द्र युधय चिकतति । ऋग्वेद १०।३८।३।
२ समन्या पव या वसूनि दासा वृत्राण्यार्या जिगथ । वही ६।६०।६ ।
३ साह याम दासमाय त्वया यजा सहस्कृतन सहसा सहस्वता । वही १०।८३।१ ।
४ हतोवृत्राण्यार्या हतो दासानि सत्पती । हतो विश्वा अपद्विष । वही ६।६०।६ ।
५ यया दासा यार्याणि वृत्रा करो वज्रिन्सुयुका नाहुषाणि । वही ६।२२।१० ।
६ वि सूर्यो मध्ये अमुचद्रथ दिवो विददासाय प्रतिमानमाय ।
दृळ्हानि पिप्रोरसुरस्य मायिन इन्द्रो व्यास्यच्चकृवाँ ऋजिश्वना ॥
वही १०।१३८।३ ।

का अर्थ इन्द्र करते हैं किन्तु ग्रिफिथ आर्य' ही कहते हैं । ऋक० १०।८६।१९[1] मे इन्द्र अपने उपासकों (आर्यों) को देखते हुए और शत्रुओं (दासो) को भगाते हुए यज्ञ मे आगमन करते दिखाये गये है ।

एक स्थान पर[2] पुन आर्य इन्द्र के लिए आया है । शत्रुओं के लिए भयकर तथा श्रेष्ठ इन्द्र शत्रुओं को (दासो को) अपने वश में करता है । इसमे सायण आर्य का अर्थ स्वामी और 'दासम्' का अर्थ 'दासकर्माण जनम्' करते हैं ।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि इन्द्र दासो को अपने वश में रखते हैं । आर्यो के रक्षक इन्द्र हैं अत इन्द्र से आर्यो के शत्रु दासो को विनष्ट करने की प्रार्थना की गई है । ऋक[3] मे कर्मो को विनष्ट करने वाली सभी प्रजाओं को यज्ञादि कर्म करने वाले आर्य यजमान के लिये नष्ट करने की प्रार्थना की गई है ।

दासो के नगरो तक के विनाश की भी सूचना ऋग्वेद मे मिलती है । एक ऋचा मे इन्द्र द्वारा विनाश किये गये नगरो का वर्णन प्राप्त होता है जो दासो के थे । इसमे पुर का अर्थ नगर है । विल्सन इसी को आधार मानकर कहते हैं कि नगर वर्णन यह सकेत देता है कि दास पूर्णत असभ्य नही कहा जा सकता जबकि पुर से तात्पर्य ग्राम अथवा छोटे ग्राम से भी लिया जा सकता है । ऋक १०।६९।६ दासो की सम्पत्ति की भी परिचायिका है ।

आर्यो और दासो का भेद स्वामी सेवक भाव से भी है । ऋक मे दास सेवक की परिचर्या करता है ऐसा वर्णन आया ।[5] सम्भवत सेवक के रूप मे कार्य करने वाला दास कहलाता था । आर्य पद का अर्थ स्वामी किया गया है । विल्सन ग्रिफिथ और मैक्डानल ने भी दास का अर्थ सेवक (स्लेव) किया है ।

उपर्युक्त विवेचन से आर्य और दास का पारस्परिक अन्तर एवं साम्य स्पष्ट होता है । आर्य सदाचारी श्रेष्ठ स्वामी विद्वान और ईश्वर की उपासना मे लीन आदि गुणो से युक्त व्यक्ति आर्य कहलाते हैं । इसके विपरीत यज्ञादि कर्मो मे विघ्न उत्पन्न करने वाले सेवक कार्य करने वाले विनाशकारी दास कहलाये । प्रस्तुत निष्कर्ष सायणानुसारिणी व्याख्या का परिणाम है । विल्सन ने आर्य और दास को आर्य और दास ही माना है किन्तु ऋक ६।६०।६ मे जैसा कि पीछे वर्णित किया गया है आर्या और दासानि का अर्थ पवित्र तथा अपवित्र भी

---

१ अयमेमि विचाकशद्विचिन्वन्दासमार्यम् । ऋग्वेद १०।८६।१९ ।

२ इन्द्रो विश्वस्य दमिता विभीषणो यथावश नयति दासमार्य । वही ५।३४।६ ।

३ आभिर्विश्वा अभियुजी विषूचीरार्याय विशोऽव तारीर्दासी । वही, ६।२५।२ ।

४ स जातभर्मा श्रद्दधान ओज पुरो विभिन्दन्नचरद्वि दासी ।
विद्वानवज्रिन दस्यवे हेतिमस्यार्य सहोवर्धया द्युम्नमिन्द्र । वही, १।१०३।३ ।

५ अर दासो न मीढुष कराण्यह देवाय । भूर्णयेऽनागा ।
अचेतयदचितो देवो अर्यो गृत्सं राये कवितरो जुनाति । वही ७।८६।७ ।

किया है। ऋक १।१०३।३ मे विल्सन ने दासो को पूर्ण असभ्य कहने मे भी कुछ सकोच अनुभव किया है। निरन्तर असभ्य (बारबरस) कहने पर भी प्रस्तुत ऋचा की व्याख्या मे विल्सन स्वीकार करते हैं कि दास पूर्णत असभ्य (होल्ली बारबेरस) नही हैं। विल्सन अधिकाशत जातिगत भेद को स्वीकार करते हैं किन्तु उन्होने भी आर्य और दास मे भेद को १०।६६।६ मे स्पष्ट करते हुए क्रमश एक को पूजक और दूसरे को पूजक का शत्रु कहा है। यह भेद निश्चित रूप से गुणकृत है। ग्रिफिथ ने दो ऋचाओ[1] के आधार पर आर्य और दास दोनो को जाति माना है। श्रीअरविन्द[2] दास को सेवा अर्थ मे नही विनाश या क्षति अर्थ मे ग्रहण करते हैं।

इस प्रकार आर्य और दास परस्पर पृथक् पृथक है।

७ दास

ऋग्वेद मे दास शब्द अनेक ऋचाओ मे स्वतन्त्र रूप से आया है जो उसकी स्थिति को किसी सीमा तक निर्धारित करता है।

दासो को सम्पत्ति का स्वामी कहा गया है। एक ऋचा[3] मे दास की सपत्ति को इन्द्र की कृपा से बाट लेने का उल्लेख किया गया है। उक्त ऋचा मे **दासस्य** का अर्थ सायण ने **दासनामकस्य शत्रो** किया है दास' शब्द यहाँ सज्ञा बनकर आया है ऐसा प्रतीत होता है। ग्रिफिथ इस अर्थ से सहमत नही हैं। वे दास को किसी व्यक्ति का नाम नही मानते। दास की व्याख्या कुछ भी रही होगी यह नि सन्देह कहा जा सकता है कि इसमे दासो की सम्पत्ति का उल्लेख मिलता है। ऋक० १०।६९।६ से भी दासो की सम्पत्ति का आभास मिलता है।

एक ऋचा मे दासो की प्रजा का बोध होता है। सायण ने **विश** का अर्थ **प्रजा** किया है। विल्सन **दासी प्रजा** को नीच (दास) जनसमूह कहते है। ग्रिफिथ दासी का अनुवाद दास जाति करते है। दयानन्द इन सभी से भिन्न **दासी विश** को सेवा करने वाली प्रजा मानते है। इस प्रकार प्रस्तुत ऋचा दासो की प्रजा के अस्तित्व को यत्किंचित् प्रतिपादित करती है।

ऋग्वेद मे दासो के नगरो का वर्णन आया है। इन्द्र से यत्र तत्र उन नगरो के विध्वस करने की याचना की गई है। दासो का नगरो का स्वामी अधिपति होना प्रतीत होता है। एक ऋचा मे कहा गया है कि वृत्र को मारने वाले और शत्रुओ के नगरो को तोडने वाले इन्द्र ने कृष्णासुर की सभी स्त्रियो को मार

१ ऋक० ६।२५।२ ६।३३।३।

२ श्री अरविन्द वेदरहस्य भाग १ अनुवादक आचार्य अभयदेव पृ ३३३।

३ अपि वृश्च पुराणवद व्रततेरिव गुष्पितमोजो दासस्य दम्भय।
वयं तदस्य सभृत वस्विन्द्रेण वि भजेमहि नभन्तामन्यके समे॥

ऋग्वेद ८।४०।६।

४ स वृत्रहेन्द्र कृष्णयोनी पुरन्दरो दासीरैरयद्वि वही, २।२०।७।

वाला। सायण 'वृत्रहा' को वृत्र का मारने वाला और 'पुरंदर' को शम्बर के नगरों को विनष्ट करने वाला 'कृष्णयोनी' को निकृष्ट जाति और 'दासी' को यज्ञ का विनाश करने वाली आसुरी सेना को विनष्ट करने वाला कहा है। ऋषि दयानन्द वृत्रहा का अर्थ मेघस्य हन्ता करते हैं। ग्रिफिथ उक्त ऋचा की पाद टिप्पणी मे लिखते है कि यह अनिश्चित है कि यहाँ भारत के मूल निवासियों से तात्पर्य है अथवा वायु के राक्षसो से जो काल मेघो मे रहते है।

ऋक्० ४।३२।१०[1] मे इन्द्र के उन पराक्रमो का वर्णन किया है जो उन्होंने आनन्दित होकर आक्रमण करके दास के नगरों को तोड़कर किया। इसमे पुर का अर्थ नगर ही किया गया है। अन्यत्र[2] इन्द्राग्नी को शत्रुओं के नब्बे नगरों और दास की पत्नियों का विनष्ट करने के लिए स्मृत किया गया है। इसके अतिरिक्त भी कई स्थलो[3] पर दासो के नगरो का वर्णन ऋग्वेद मे मिलता है।

दासो के वध का भी वर्णन किया गया है। एक ऋचा मे इन्द्र ने विनाश करने वाले कुलितर पुत्र शम्बर को बहुत बड़े पर्वत के ऊपर से नीचे पटक कर मार दिया, ऐसा वर्णन आया है। सायण ने दासम् का अर्थ उपक्षपयितारम् किया है। शम्बर कुलितर का पुत्र प्रतीत होता है। सायण दासम और कौलितरम को शम्बर का विशेषण मानते है। इसी प्रकार विल्सन भी दासम का विशेषण मानते है और गुलाम (स्लेव) अर्थ करते है। ग्रिफिथ दासम को दास ही कहते है। ऋषि दयानन्द का भाष्य इन सबसे भिन्न है। वे कौलितरं दासम् का अर्थ अत्यन्त कुलीन सेवक करते है और शम्बर को मेघ कहते है। इस ऋचा मे इन्द्र शम्बर के वध करने वाले कहे गये है।

अगली ऋचा[5] मे इन्द्र का चक्र के अरो की तरह जुड़कर रहने वाले तेजस्वी दास के अर्थात् विनाशक शत्रु के पाच लाख सैनिको को मारने वाला कहा गया है। इसमे सायण दास का अर्थ लोकानामुपक्षपयितु करते हैं। वे वर्चिन को असुर मानते है। ग्रिफिथ ने दासस्य वर्चिन का अर्थ असुर वर्चिन किया है। ऋषि दयानन्द इन सबसे भिन्न दासस्य का अर्थ सेवकस्य और वर्चिन का अर्थ बहुवर्चीतस्य करते है।

एक ऋचा[6] मे नमर पुत्र नार्मर असुर को अन्न प्राप्ति हेतु मारने के लिये इन्द्र

---

१ प्र तं वोचाम वीर्या या मन्दसान आरुजः। पुरो दासीरभीत्या ऋक्० ४।३२।१०।

२ इन्द्राग्नी नवतिं पुरो दासपत्नीरधूनुतम्। साकमेकेन कर्मणा। वही ३।१२।६।

३ ऋक्० १।१०३।३ १।१३१।४, १७४।२ ६।२०।१०।

४ उत दासं कौलितरं बृहतः पर्वतादधि। अवाहन्निन्द्र शम्बरम्। वही ४।३०।१४।

५ उत दासस्य वर्चिनः सहस्राणि शतावधीः। अधि पञ्च प्रधीरिव।
वही ४।३०।१५।

६ यो नार्मरं सहवसुं निहन्तवे पृक्षाय च दासवेशाय चावह। वही २।१३।८।

से प्राथना की गई है। इसमे सायण ने दास और दस्यु को सम्मवत पर्यायवाची ही मान लिया है। विल्सन भी 'दासवशाय' को दस्यु का विनाश अर्थ मे ग्रहण करत हैं। दयानन्द सरस्वती नामर को राक्षस या असुर न मानकर इसका अग्नि अर्थ करत है। सहवसु का अर्थ वसुभि सह वतमानम और दासवशाय का अर्थ दाता सेवका विशन्ति यस्मिन तस्मै करत है। ऋक ८।७०।१०[1] मे इन्द्र अपन वज्र से दासो को मारत हैं ऐसा उल्लेख किया गया है। सायण दास का अर्थ उपक्षयित रमस्नद्रुहिणम पाप वा करत हैं।

१।१७४।७ ऋचा[2] मे इन्द्र ने दासो क लिये पृथ्वी को शय्या बना दिया। सायण दास का अथ प्रात्युपक्षयथि्लेऽसुराय करत हैं। विल्सन भी यहाँ दास का अर्थ असुर करत है। ऋक ६।४७।२१ मे इन्द्र द्वारा दो दासो वर्चिन और शम्बर के मारे जाने का उलख है।[3] विल्सन और ग्रिफिथ दोनो वर्चिन और शम्बर को दास ही मानत हैं। दयानन्द सरस्वती वर्चिन्' का अथ देदीप्यमान करके उसे शम्बर का विशेषण मानत है और शम्बर का अथ मेघ करत है। एक अन्य स्थल पर दाम वध की ओर सकेत किया गया है। अन्यत्र[4] भी दास वध का उल्लेख मिलता है।

दास शब्द सेवक अर्थ मे भी आया है। १०।६२।१०[6] ऋचा मे दासा शब्द सवक अथ मे ग्रहण किया गया है। १।९२।८ ऋचा मे अनेक भत्यो से युक्त धन को प्राप्त करने की आकाक्षा है। यहाँ दास का अथ भत्य' किया गया है। विल्सन दास प्रवगम का अथ गुलामो के जत्थे करत है। दयानन्द सरस्वती दासानां सेवकानाम प्रवर्गा समूहा अर्थ करत हैं। ८।४६।३२ ऋचा मे बल्बूथ नामक एक दास का वणन मिलता है। सायण भी बल्बूथ को एक दास मानत हैं। विल्सन सायण का समथन करत हैं।

इस प्रकार उपयुक्त विवरण से ज्ञात होता है कि दास को सायण ने उप क्षपयिता भत्य' एक स्थल पर (२।१३।८) दस्यु का पर्याय और कहीं कहीं दास का सज्ञावाची भी स्वीकार किया है। विल्सन के अनुसार दास असुर गुलाम असभ्य (निकृष्ट) विनाशक और धार्मिक कृत्यो का विरोधी तथा विघ्नकर्ता भी

---

१ मध्ये वसिष्व तुविनृम्णोर्वोनि दास शिश्नयो हथ। ऋग्वेद ८।७०।१०।
२ रयत्कविरिन्द्राकसातौ क्षा दासायोपबहणी क। वही १।१७४।७।
३ अह दासा वषभो वस्नयन्तोदव्रजे वर्चिन शम्बर च। वही ६।४७।२१।
४ सप्त यत्पुर शर्म शारदीदर्द्दासी पुरुकुत्साय शिक्षन्। वही ६।२०।१०।
५ देवासो मन्यु दासस्य श्चम्नन्ते न आ वक्षन्त्सुविताय वणम। वही १।१०४।२।
६ उत दासा परिविष स्मद्दिष्टी गोपरीणसा। यदुस्तुर्वश्च मामहे।
वही १०।६२।१०।
७ शत दासे बल्बूथे विप्रस्तरुक्ष आ ददे। वही ८।४६।३२।

है । विल्सन दास को दस्यु भी मानते हैं । ग्रिफिथ दास को एक जाति स्वीकार करते हैं । ऋषि दयानन्द दास का अर्थ 'सेवक' लेते हैं ।

वैदिक इण्डक्स के लेखकों के अनुसार[1] दास भी दस्यु की भाँति ऋग्वेद मे कभी कभी दानवी प्रकृति के शत्रुओ का द्योतक है किन्तु अनेक स्थलों[2] पर इस शब्द से आर्यों के मानव शत्रुओ का भी आशय है । आगे कहा गया है कि अधिकांशत दासो को सेवक अथवा दास बना लिया जाने के कारण ऋग्वेद[3] के अनेक स्थलों पर दास का आशय साधारण दास ही है । कीथ और मैक्डॉनल ने लुड विग के विचार को प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि कुछ स्थलो पर आर्य शत्रुओ के लिये ही शत्रु के आशय मे दास शब्द व्यवहृत हुआ है किन्तु यह अनिश्चित है । जिमर और मेयर[5] के अनुसार 'दास' का अर्थ मूलत सामान्य रूप से शत्रु था ।

८ दास और दस्यु

ऋग्वेद मे दास और दस्यु केवल ४ ऋचाओ मे इकट्ठे प्रयुक्त हुए हैं । दास और दस्यु परस्पर भिन्न हैं अथवा अभिन्न इस पर विचार करना अपेक्षित है । ऋग्वेद मे दास और दस्यु को पाश्चात्य विद्वान अभिन्न मानते हैं । कतिपय स्थलो पर दास और दस्यु का इस प्रकार प्रयोग हुआ है जैसे इसमे कोई अन्तर नही है । दास और दस्यु के नगरो को इन्द्र ने ध्वस्त किया है । इस प्रकार दोनो का वर्णन लगभग एक-समान होने से ये अभिन्न ही प्रतीत होते हैं ।

ऋक० १।१०३।३[6] मे कहा गया है कि बिजली के अस्त्र धारण करने वाला तथा बल पर आश्वस्त रहने वाला यह इन्द्र शत्रु की नगरियो को तोडता हुआ विचरण करता है । 'हे ज्ञानवान तथा वज्र को धारण करने वाले इन्द्र ! इस दस्यु पर आयुध फेंक और श्रेष्ठ पुरुष के बल और यश को बढा । इस ऋचा मे सायण ने 'दासी पुर' का अर्थ दस्युसम्बन्धीनि पुराणि और दस्यवे का अर्थ उपक्षयकारिणे शत्रवे किया है । दयानन्द सरस्वती क्रमश दासी शीला नगरी और दुष्टकर्मकर्त्र' अर्थ करते हैं । विल्सन ने दस्युओ के नगर और 'दस्यु ही अर्थ किया है । ग्रिफिथ उक्त ऋचा पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं कि सायण के

---

१ वैदिक इण्डेक्स भाग १ पृ० ३५६ ।

२ ऋग्वेद ५।३४।६ ६।२२, १० ३३।३, ६०।६ ७।८३।१ १०।३८।३ आदि ।

३ वही ७।८६।७ ८।५६।३ १०।६२।१० ।

४ वैदिक इण्डक्स भाग १ पृ० ३५७ ।

५ वही ।

६ स जातूभर्मा श्रद्दधान ओज पुरोविभिन्दन्नचरद् वि दासी ।
विद्वान् वज्रिन् दस्यवे हेतिमस्याऽऽर्य सहो वर्धया द्युम्नमिन्द्र ।
ऋग्वेद १।१०३।३ ।

के अनुसार दस्य के नगरो का तात्पय वस्तुत दस्यओ के निवास-स्थान थे जो अनार्यों के रहने के स्थल हैं।

एक स्थल पर दास और दस्युओ का साथ साथ उल्लेख किया गया है। इन्द्र से कहा गया है कि उन्होने दस्युओ को सभी से नीचा दिखाया और दासभाव से युक्त प्रजाओ को निन्दनीय बनाया।[1] सायण इसम **दासी विश** का अर्थ **कर्महीना मानुषी प्रजा** और **दस्यून** का अर्थ **गुणान् अवमान हीनान्** करत है। दयानन्द क्रमश **दानशीला प्रजा** और **दस्यून** ही करत हैं। विल्सन **'दासी विश'** को निम्न जाति की प्रजा स्वीकार करत है। उक्त ऋचा म दास और दस्यु का पार्थक्य ही प्रतीत होता है। ऐसा विदित होता है कि इन्द्र ने दस्युओ को सभी गुणो से हीन किया है और कर्मों की दृष्टि से हीन मानुषी प्रजा को गर्हित किया है। अर्थात इन्द्र न दस्यओ को दास अर्थात बलहीन करके अपनी प्रजा बनाया।

एक अन्य ऋचा[2] मे स्पष्ट कहा गया है कि दास स्त्रियो का हथियार बना कर इन्द्र से लडने आया। इन्द्र यह सोचकर कि ये दुबल सेनाये मेरा क्या करगी युद्ध हेतु दस्य के सम्मुख जा खडा हुआ। लगभग यही अथ सायण विल्सन और ग्रिफिथ स्वीकार करत हैं। सायण **दास** का अथ **उपक्षपयिता** करते है। दास का अथ दयानन्द **सेवक इव मेघ** करत हैं।

प्रस्तुत ऋचा भी दास और दस्यु के ऐक्य की पोषक न होकर उनके पार्थक्य का ही प्रतिपादन करती है।

अन्यत्र भी एक ऋचा[3] मे सायण ने **दस्यु** को **उपक्षपयता** और दास को **उपक्षपयितव्य** कहा है। दस्य दूसरा को पीडा दने वाला होता है जबकि दास का अथ स्वय मे पीडित होना है इसलिये दास तो दस्य अर्थ मे **ऋग्वेद** म व्यवहृत है किंतु दस्यु दास अथ मे नही इससे स्पष्ट होता है कि दास और दस्य दानो भिन्न हैं।

ऋग्वद मे दस्य के साथ तो वध ज्ञापक श [illegible] का समास दिखाई दता है किंतु दास के साथ नही यथा—**दस्युघ्ना**[4] **दस्युतहणा**[5] **दस्युहत्याय** दस्युहत्ये

१ विश्वस्मातसीमधर्मां इन्द्र दस्यून विशो दासीरकृणरप्रशस्ता।
ऋग्वद ४।२८।४।

२ स्त्रियो हि दास आयुधानि चक्र कि मा करन्नबला अस्य सेना।
अन्तह्यख्यदुभे अस्य धेने अथोप प्रैद्युधये दस्यमिन्द्र ॥ वही ५।३०।९।

३ वही १०।२२।८।

४ वही ४।४६।२।

५ वही १।५१।६ १।१ ३।४।

६ वही १०।९९।७।

आदि । संस्कृत काल मे भी ये दोनो शब्द एकार्थक नही हैं । दस्यु दूसरे को क्षीण करता है जबकि दास स्वत क्षीण है । इस प्रकार उपयुक्त विवरण दास और दस्यु को भिन्न भिन्न सिद्ध करता है । ऋग्वेद मे दास और दस्यु शब्दों का प्रयोग पृथक पृथक रूप मे ऋचाओं मे अनेक बार आया भी है ।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि पाश्चात्य विद्वान् दास और दस्यु की अभिन्नता स्वीकार करते है । डॉ० वी० वी० काणे दास और दस्यु को पर्यायवाची और समानार्थक शब्द मानते हैं ।[1] मूर भी दास और दस्यु की अभिन्नता का प्रतिपादन करते है ।[2] उनके अनुसार दास और दस्यु दोनो ही वेद मे विभिन्न प्रकार के शत्रुओ के लिए प्रयोग किये गये हैं यथा—(असुर राक्षस) दास और दस्यु भारत की मूल असभ्य जाति के परिचायक हैं ।

मूर ने प्रो० बफ के मत को उद्धृत करते हुए लिखा है कि दस्यु और दास दोनो आर्यों के विरोधी रूप को प्रस्तुत करते हैं । नि सन्देह यह कहा जा सकता है कि संस्कृत भाषा भाषी जाति स्वयं को आर्य कहती थी और दास व दस्यु उनसे शासित थे ।[3]

एक ऋचा मे सायण ने **दासप्रवर्गाय** पद की व्याख्या मे **दासानां दस्यूनाम्**' कहकर दास और दस्युओ को पर्यायवाची शब्द स्वीकार किया है । उन्होने दास का अर्थ दस्यु ही किया है । इससे इन दोनो के ऐक्य का आभास होता है । वस्तुत दास और दस्यु दोनो शब्दो की निष्पत्ति दसु उपक्षये धातु से स्वीकार करने पर भी दोनो उपक्षपयिता रूप म उपस्थित होते है ।

इस प्रकार दास और दस्यु की एकता और भिन्नता दोनो ही पक्षो मे प्रमाण प्राप्त होते है परन्तु ऋग्वैदिक साक्ष्यो के आधार पर यह कुछ प्रबल रूप से कहा जा सकता है कि ये दोनो भिन्न है ।

९ पणि

ऋग्वेद मे दस्युओ से समता वाले पणि लोगो का अस्तित्व ऋचाओ के अध्ययन से स्पष्ट प्रतीत होता है । पणि शब्द व्यवहारार्थक √पण धातु (पण् व्यवहारे स्तुतौ च) से निष्पन्न हुआ है । इसका निरुक्तिगम्य अर्थ है व्यवहार करने वाला व्यापार से जीविका चलाने वाला । यास्क ने पणि का वणिक अर्थ किया है—**पणिर्वणिग् भवति** ।[5] व्याकरण के अनुसार 'वणिक शब्द √पण धातु से इज प्रत्यय तथा पकार को वकार मे परिवर्तन से निष्पन्न माना जाता है ।

---

१ काणे **हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र** भाग पृ० २६ ।

२ मूर **ओरीजनल संस्कृत टैक्स्टस** भाग २ पृ० ३६४ ।

३ मूर द्वारा उद्धृत **ओरीजनल संस्कृत टैक्स्टस** भाग २ पृ० ३६७ ।

४ ऋग्वेद २।१३।८ ।

५ निरुक्त २।१७ ।

(पश्चेरिओवइश व उणादि सूत्र) वस्तुत पणि किसे कहते हैं यह निश्चय कर सकना बड़ा कठिन है। वैदिक इण्डक्स के लेखकों[1] ने लिखा है कि रॉथ के अनुसार यह शब्द √पण (विनिमय) धातु से व्युत्पन्न हुआ है और पणि एक ऐसा व्यक्ति होता है जो बिना किसी प्राप्ति के अपना कुछ नही देता था अत इसे ऐसा कृपण व्यक्ति कहते थे जो न तो देवो की उपासना करता था और न पुरोहितो को दक्षिणायें देता था। जिमर और लुडविग[2] ने इसी दृष्टिकोण को स्वीकार किया है। लुडविग का विचार है कि पणियो के साथ युद्ध के प्रत्यक्ष सन्दर्भों की व्याख्या यह मान लेने से हो जाती है कि यह लोग ऐसे आदिवासी व्यवसायी होते थे जो काफिलों मे चलते थे और आवश्यकता पड़ने पर अपनी वस्तुओ की सुरक्षा हेतु उन आक्रमणो के विरुद्ध युद्ध करने के लिए भी तयार रहते थे जिन्हे (आक्रामको को) आर्यगण स्वभावत सर्वथा उचित मानते रहे होगे।

पणियो को वदिक गायको के पूज्य देवो की उपासना न करने वाले लोगों के अतिरिक्त कुछ अन्य मानना आवश्यक नही है। पणि शब्द का आशय इतना विस्तृत है कि इसके अन्तर्गत आदिवासी अथवा आक्रामक आर्य और साथ ही दस्युगण भी आ जाते है। फिर भी हिलेब्राट[3] का विचार है कि इनसे स्ट्राबो के पनियनो जसी एक वास्तविक जाति का आशय है और यह लोग बृबु (दास) से सम्बद्ध थे।

अविनाशचन्द्र दास पणियों को 'आर्य' कहते है जो व्यापारी वर्ग मे सम्बद्ध है[4] जो केवल स्थल पर ही नही अपितु जल द्वारा भी व्यापार करते थे।

वस्तुत पणि ऋग्वेद मे एक ऐसे व्यक्ति वर्ग का द्योतक प्रतीत होता है जो सम्पन्न होता था किन्तु देवो को हवि अथवा पुरोहितो को दक्षिणाय नही देता था। आगे पणियो के स्वरूप पर प्रकाश डालने के लिये तत्सम्बन्धी सन्दर्भों पर दृष्टिपात करना आवश्यक है।

पणि नितान्त स्वार्थी थे। वे अत्यधिक कृपण थे इसीलिए ऋग्वेद मे हिना मे वे घृणा के पात्र दिखाई देते हैं। प्रथम मण्डल[5] मे इन्द्र से बहुत से धन की याचना करते हुए कहा गया है कि वह उपासको के साथ पणि जसा व्यवहार न करे। सायण पणि का अर्थ व्यवहारी करते है। विल्सन कजूस अर्थ करते है और टिप्पणी मे लिखते है कि इन्द्र उपासको से उपहार लेने मे पणियो की भाँति कृपण न हो। उक्त ऋचा मे पणि का उपमान स्वरूप प्रस्तुत किया गया है।

१ वदिक इण्डक्स भाग १ पृ० ४७१।
२ वदिक इण्डक्स भाग १ पृ ४७१।
३ वही पृ० ४७२ पर उद्धृत।
४ ए० सी दास ऋग्वदिक इण्डिया पृ० १८८।
५ चकमाण इन्द्र भूरि वाम मा पणिभू रस्मदधि प्रवृद्ध। ऋग्वेद १।३३।३।

इसमे विदित होता है कि पणि धन के विषय म अत्यधिक अपयश प्राप्त और घृणास्पद व्यक्ति है। ऋचा ५।६१।८[1] मे पणि' को लोभी और प्रशंसनीय कहा है। ऋचा ५ ३४।७[2] इन्द्र के द्वारा कजूस वणिक (पणि) के अन्न के लूटने का वणन किया गया है। आगे कहा गया है कि इन्द्र दाता के लिये उत्तम धन प्रदान करता है। इसमे सायण पणि का अर्थ वणिक इव लुब्धक ' करत है। एक स्थल[3] पर पणि को अदानशील और लोभी कहा गया है। सायण और विल्सन का मत एक ही है और दोनो यही अर्थ मानते हैं। ग्रिफिथ पणि के लिये लिखते हैं— जो कोई उपहार नही देता।

ऋचा ८।६४।२[4] मे इन्द्र से अदानशील और अयाज्ञिक (पणि) को पाँव से कुचलने का अनुरोध किया गया है। इस ऋचा मे पणियो के लिए अराधस श द का प्रयोग किया गया है जिससे प्रतीत होता है कि धन सम्पन्न होने पर भी व इसका उपयोग यज्ञानुष्ठान के लिए कभी नही करते थे। इसलिए वह यज्ञ कर्ता की दष्टि म अत्य त कृपण थे। ऋग्वद मे पणि की धन सग्रहण और यज्ञविरोधिता का स्पष्ट प्रमाण प्राप्त होता है।[5] यहाँ सायण पणि का अथ वणिक इव न करक पणिम्पणिकलुब्धक ' करते है। इन्द्र देव से प्राथना की गई है कि उनके पास गौ अश्व आदि जो स्थायी धन हैं वह सब सोमाभिषवणकर्ता और दक्षिणादाता यजमान को प्रदान करे पणि जसे अयज्ञिक का नही।[6] अन्यत्र भी पणि को कजूस कहा गया है। विल्सन पणि का अथ शत्रु और ग्रिफिथ यापारी (यापार करने वाला) करते हैं।

उषाए भी भोजन देने वालो को धन देने के लिये जगाती हैं और न जागने वाले कजस वनिय (पणि) मोत रहत है।[8] १।१२४।१० ऋचा मे भी उषाओ से

१ उत घा नेमो अस्तुत पुमा इति ब्रवे पणि । स वरदेय इत्सम ।
ऋग्वद ५।६१।८ ।

२ समी० पणरजति भोजनमुखे वि दाशुषे भजति सूनर वसु । वही ५।३४।७ ।

३ पणी यक्रमीरभि विश्वानराज नराधस । वही १०।६०।६ ।

४ पण पणीरराधसो नि वाधस्व महा असि । नहि त्वा कश्चन प्रति ।
वही ८।६४।२ ।

५ वय विद्धि वा जरितार मत्या विप यामहे वि पणि हितावान ।
वही १।१८०।७ ।

६ यमिन्द्र दधिष त्वमश्व गौ भागम ययम् ।
यजमान सु वति दक्षिणावति तस्मिन तघहिमा पणौ । वही, ८।९७।२ ।

७ ककुह चित्वा कवे म द तु धृष्णवि दव आ त्वा पणि यदीमहे ।
वही ८।४५।१४ ।

८ उच्छन्तीरद्य चितयन्त भोजान नाधोदेयायोषसो मघोनी ।
अचित्रे अन्त पणय ससन्त्वबुध्यमानास्तमसो विमध्ये ।। वही ४।५१।३ ।

दाताओ को जगाने और अज्ञानी दान न देने वाले कजूस वणिको को न जगाने का अनुरोध किया है ।[1] इसमे सायण 'पणय' का अर्थ पणय इतिलुब्धकाप्रबुद्धमाना मायावीनकुर्वाणा अदानशीला अस्मच्छत्रव करते हैं ।

पूषन देव स पणि (लोभी) को दानशील बनाकर उसके हृदय को कोमल बनाने की प्रार्थना की गई है । इसम सायण पणि का अथ वणिक करते हैं । ऋचा १।१५१।९ मे कहा गया है कि पणि मित्रा वरुण के देवत्व और ऐश्वय को प्राप्त नही कर सके ।[2] प्रस्तुत ऋचा मे सायण पणि का अथ 'असुर करते हैं ।

उपयु क्त विवरण से ज्ञात होता है कि पणि ऋग्वदिक काल मे अपनी कृप णता और दुगु णो के कारण पर्याप्त घणा क पात्र हो गये थे । एक ऋचा[3] मे पणियो को अक्रतु (अच्छ कर्मों से वचित) ग्रथिन (बहुत बोलने वाले) मध्रवाक अश्रद्ध अव्रध और अयज्ञ कहा है । इसी ऋचा मे पणि को दस्यु भी कहा गया है । सायण इस ऋचा का अथ करते है—अक्रतून अयज्ञान ग्रथिनो जल्पकान मध्रवाचो हिंसितवचस्का र पणीन पणिनामकान वाधु षिकान अश्रद्धान यज्ञादिषु श्रद्धारहितान अवृधान स्तुतिभिरविनमवधयत अयज्ञान यज्ञहीनान तान दस्यून यथा कालस्य नेतृ र अग्नि प्र प्र असरन्त विविवाय नितरां गमयेत् । ग्रिफिथ के अनुसार पणियो के विशेषणो का क्रमश अर्थ है—निबु द्धि विश्वासहीन अमधुर वाणी वाले कृपण और उपासना रहित । दस्यु का अथ दस्यु ही किया है । विल्सन ने ऋचा का अथ किया है कि अग्नि उन दस्युओ को हराये जो ईश्वर पूजा न करने वाले बकवादी कृपण श्रद्धाहीन सम्मान न करने वाले और अयाज्ञिक है । अग्नि उन्ह पराजित कर द जो धार्मिक सस्कार नही करते । इस ऋचा म विल्सन भी पणि को दस्यु ही कहत है । हिलेब्राट का विचार है कि ग्रथिन शब्द से लगातार निकल र ी एसी वाणी का तात्पय है जो समझी न जा सके जबकि मध्रवाच का अथ शत्रु की भाषा बोलने वाला है जिससे यद्यपि सदव अनिवायत अनार्यों का ही स दभ नही है ।[4]

पणि लोग रुपया उधार पर देते थे । किसी भी तरह धन सग्रह उनका प्रधान काय था । ऋग्वद[5] म इनके लिए 'बेकनाट श द का प्रयोग किया गया है । यास्क वकनाट की व्याख्या याज खाने वाला व्यक्ति करते हैं ।[6] बेकनाट खलु कुसी

---

१ आघ्णिस त चिदाघण पूष दानाय चोदय । पणश्चिद्वि म्रदा मन ।

ऋग्वेद ६।५३।३ ।

२ न वा द्यावो हभिनो न सि धवो न देवत्व पणयो नानशुर्मघम ।

३ यक्रतून ग्रथिनो मध्रवाच पणीरश्रद्धा अवृधा अयज्ञान् ।
प्र प्र ता दस्यूरग्निर्विवाय पूवश्चकारापरा अयज्यून् । वही ७।६।३ ।

४ वदिक इण्डक्स भाग १ पृ ४७२ पर उद्धृत ।

५ इ द्रो विश्वान बकनाटा अहद श उत क्रत्वा पणी रभि । ऋग्वेद ८।६६।१० ।

६ निरुक्त ६।२६ ।

विनो भवति द्विगुणकारिणो वा द्विगुणादायिनो वा द्विगुण कामयन्ते इति वा। इससे यह विदित होता है कि अधिक सूद पर कम रुपया देकर इसे द्विगुणित करने की स्पृहा पणियो के मन मे रहती थी और इनका सूदखोर होना ही इनके सामाजिक तिरस्कार का प्रधान कारण था।

पणि आर्यों के पशु धन को चराते थे। इनका गौओ को छिपाकर रखने का उल्लेख ऋग्वेद[1] मे मिलता है। प्रस्तुत ऋचा म सायण 'पणि का अर्थ पणिनाम कोऽसुरो' करते हैं जबकि विल्सन पणि का अथ पणि ही करते हैं। कतिपय स्थलो पर पणि निश्चित रूप से ऐसे पौराणिक व्यक्तियो और दस्यो के रूप म आते हैं जो गायो को रोक रखते थे। पणियो द्वारा गुहा मे रखे हुए उत्तम गौ रूपी खजाने को देवों द्वारा उत्तमता से प्राप्त करने का वणन किया गया है।[2] पणियों द्वारा गायो मे तीन प्रकार से रखे गये गुप्त धन को देवों ने जाना।[3] यहाँ भी सायण पणियो को असुर ही मानते हैं। एक ऋचा मे अन्यत्र पणियो स पदस्विनी गौओ की प्राप्ति का उल्लेख आता है। इस ऋचा मे ग्रिफिथ सम्भवत पणि का अथ मेघ[4] करते है किन्तु सायण पणि को असुर ही स्वीकार करते है। ऋक १।६२।३ मे ग्रिफिथ पणि का अथ कजूस करते हैं।[5] अन्यत्र[6] भी पणि द्वारा गौए छिपाकर रखने का पौराणिक आख्यान प्राप्त होता है। दशम मण्डल का १०८ वा सूक्त सरमा (इन्द्र की दूती) और पणि का सवाद प्रस्तुत करता है। ग्रिफिथ ने सरमा को इन्द्र दूती और पणि को एक असुर रूप म माना है जिसने गौओ को छिपा लिया है। पादटिप्पणी मे ग्रिफिथ लिखथ है कि रसा यहाँ एक पौराणिक झरने के रूप मे है जो वातावरण और पृथ्वी के चारो ओर बहता रहता है। उन्होने कहा कि १।११२।१२ ऋचा और ५।५३।९ म रसा पजाब की कोई नदी विदित होती है। विल्सन पणियो को बल असुर के अनुचर स्वीकार करते है और सरमा को इन्द्र की दूती ही मानते हैं जो पणियो स बृहस्पति की गौए वापस लाने गई थी ये रसा का अथ आकाशीय नदी करते हैं।

सूक्त १०।१०८ से यह स्पष्ट होता है कि पणि इन्द्र को नही जानते थे इसीलिये पणि सरमा से प्रश्न करते है कि जिस इन्द्र की दूती के रूप मे तुम आई

---

१ दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन निरुद्धा आप पणिनेव गाव। ऋग्वेद १।३२।११।
२ अभिनक्षन्तो अभि ये तमानशुर्निधि पणीना परम गुहा हितम।
वही २।२४।६।
३ त्रिधा हित पणिभिगुह्यमान गवि देवासो घृतम न्वविन्दन्। वही, ४।५८।४।
४ स सुक्रतुर्यो विदुर पणीना पुनानो अक पुरुभोजस न। वही ७।९।२।
५ बळस्य नीथा वि पणेश्च मन्महे वया अस्य प्रहुता आसुस्तवे।
६ वही १०।६७।६, १०।१०८ आदि।

हो वे इन्द्र कसे हैं ? उनकी सेना किस प्रकार की है। उनकी शक्ति कसी है ?[१] एक स्थल पर इन्द्र द्वारा प्रस न होकर पणि आदि असुरो से उनकी गायें एव धन छीनकर अगिराओ को प्रदान करने का उल्लेख है।[२]

ऋग्वेद मे एक स्थान[३] पर पणि को निदयता के कारण भेडिया कहा गया है। उसके नाश की प्रार्थना की गई है। इन्द्र के साथ तजस्वी सोम द्वारा पणि के बल पूवक बिरोध का वणन किया गया है। इन्द्रदेव ने अगिराओ सहित पणियो को मारा था।[४] सायण इस मन्त्र मे पणियों को बल' नामक असुर के अनुचर मानत हैं। इन्द्र के सहायक कुत्स से डरकर पणि सौ सेनाओ सहित भाग खडा हुआ।[५] यहाँ भी सायण पणि को असुर कहत हैं। इस मन्त्र से पणियो का इन्द्र विरोधी होना प्रकट हाता है।

अश्विनी देवो से उपासक पणिया की बुद्धि को समाप्त कर उदारता की याचना करत है। ऋचा ३।५८।२ मे कहा गया है कि व्यापारी की (बहुत लाभ उठाने की) इच्छा को हमसे दूर कर क्षीण करो। सायण **पणमनीषां** का अथ आसुरी बुद्धि करत है। अन्तत पणियो के समूल वध की कामना की गई है।[८]

इस प्रकार 'पणि' व्यक्तियो का उनके गुणो पर आधत एक विशिष्ट वग है जिनके लिये अक्रतु ग्रथिन मध्रवाक अश्रद्ध अवृध और अयज्ञ सम विशेषणो का प्रयोग किया गया है। इन्हे आदिवासी व्यवसायी भी कहा गया है जो बिना किसी प्रति प्राप्ति के अपना धन नही देत थे। सायण ने पणि को असुर माना है। कही कही उन्होन पणि का अथ व्यवहारी किया है। एक स्थल पर वे पणि को दस्यु भी कहत है जिसका ऊपर निर्देश किया जा चुका है। विल्सन के अनुसार कजस अथ किया गया है। ग्रिफिथ भी पणि के इसी अथ के पोषक है। हाँ हिलेब्राट पणि का आशय एक वास्तविक जाति के रूप मे अवश्य स्वीकार करत है।

---

१ कीदृङ्ङिन्द्र सरमे का दशीका यस्येद दूतीरसर पराकात्।
आ च गच्छान्मित्रमेना दधामा था गवां गोपतिनो भवाति ॥
ऋग्वेद १०।१०८।३।

२ आदङ्गिरा प्रथम दधिरे वय इद्धाग्नय शम्या ये सुकृत्यया।
सव पण समवि दन्त भोजनमश्वावन्त गोमन्तमा पशु नर ॥ **वही** १।८३।४।

३ **वही** ६।५१।१४।

४ अय दव सहसा जायमान इन्द्रेण युजा पणिमस्तभायत्। **वही** ६।४४।२२।

५ त्व विप्रभिर्वि पणी रशायस्त्वोत इत्सनिता वाजमर्वा। **वही** ६।३३।२।

६ शतरपद्रन्पणय इन्द्रात्र दशोणये कवयेऽर्कसातौ। **वही** ६।२०।४।

७ जरेथामस्म, वि पणमनीषा युवोरवश्चकृमा यातमर्वाक्।

८ अस्मे ऊषु वषणा मादयथामुत पणीर्हतमूर्म्या मदन्ता। **वही** १।१८४।२।

१० आर्यो अनार्यों के युद्ध

ऋग्वेद के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वैदिक जन छोटी छोटी टोलियाँ बनाकर रहते थे। आर्यों और अनार्यों के युद्धो का परिचय ऋग्वेद से मिलता है जिसका विवेचन आगे किया जाऐगा। वस्तुत युद्ध व्यक्तिगत अथवा जातिगत ईर्ष्या लडाई झगडे और विचारो की असमानता का परिणाम थे। ऋग्वेद से अनेक टोलियो अथवा जातियो का परिचय मिलता है।

(अ) जाति बोधक शब्दो का निरूपण— जातियो के द्योतनार्थ ऋग्वेद मे पञ्चजना[1] पञ्चमानुषा[2] पञ्चचर्षणय[3] पञ्चकृष्टय और पञ्चक्षितय[5] शब्दों का प्रयोग किया गया है। यहाँ पञ्च से क्या तात्पय है यह अत्यन्त अनिश्चित है। निरुक्त मे औपम यव के मत को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि पाँच के अन्तगत चारो वण और निषाद्गण आते हैं।[6] सायण भी इसी मत के पोषक प्रतीत होते हैं।[7] राथ के अनुसार इससे पृथ्वी के समस्त लोगो का आशय है।[8] जिमर इस आशय का विरोध करते है। वैदिक इण्डेक्स के लेखको ने इनके निष्कष को प्रकाशित किया है। जिमर के अनुसार पञ्चजना से केवल आर्यों का आर विशेषन उन अनु द्रुह्यु यदु तुवश आर पुरु आदि पाँच जाति के लोगो का तात्पय है जिनका ऋग्वेद मे एक अथवा सम्भवत दो सूक्तो मे साथ-साथ और एक अ य सूक्त[11] मे इनमे से केवल चार का ही उल्लेख है। जिमर यह भी स्वीकार करत है कि इस याहुति का बाद म अधिक सामान्य आशय मे व्यवहार किया गया हो सकता है इन जातियो का सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(आ) प्रमुख जातियाँ

(क) अनु—ग्रासमन और राथ[12] इस शब्द मे अनाय लोगो के नाम का आभास स्वीकार करत है कि तु जिमर इसे अनु जातीय विशेष लोगो का बोधक

---

१ ऋग्वे ३ ३७।६ ६।८ ६।१४।४ ८।३२।२२ ६।६५।२३।
२ वही ८ ६।२।
३ वही ५।८६।२ ६।१०।१६ ७।१५।२।
४ वही २।२।१० ३।५३।१६ ४।३८।१०।१०।,०।४ ११६।६।
५ वही १।७।६ १७६।३ ५।३५।२, ६।४६।७ ७।७५।४ ७६।१।
६ निरुक्त ३।८।
७ द्रष्टव्य ऋक० १।७।६ पर सायण भाष्य।
८ द्रष्टव्य सेंट पीटसबग कोश (वण क्रम के स्थान पर)।
६ वैदिक इण्डक्स भाग १ पृ० ४६६ ४६८।
१० ऋग्वेद १।१०८।८।
११ वही ८।१०।५।
१२ द्रष्टव्य सट पीटसबग कोश (वर्णक्रमानुसार)।

शब्द मानते हैं।[1] जिसका द्रुह्यु[2] तुर्वश यदु[3] और पूरुस[4] के साथ उल्लेख किया गया है। अनु और द्रुह्यु का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध था। ऋग्वेद[5] में एक स्थल पर इनके उल्लेख द्वारा यह निष्कर्ष निकलता है कि ये परुष्णी मे रहते थे।

(ख) द्रुह्यु—जातिविशेष का नाम है। ऋग्वेद मे अनेकश इसका उल्लेख है। एक स्थल[6] पर द्रुह्यु अनु तुर्वश और यदु का एक वचन मे प्रयोग आया है। एक अन्य स्थल पर केवल पुरु और द्रुह्यु का उल्लेख आता है। अन्यत्र[7] द्रुह्यु शब्द का प्रयोग यदुओं तुर्वशों अनुओं और पुरुओं के साथ बहुवचन मे किया गया है जो यह व्यक्त करता है कि यही ऋग्वेद की प्रसिद्ध पाँच जातियाँ थीं[8]

(ग) यदु—एक जाति का नाम है। ऋग्वेद[10] मे अनेक बार और सामान्यतया तुर्वश के साथ साथ इसका उल्लेख है। सुदास के विरुद्ध महायुद्ध मे इस जाति ने भाग लिया था।

(घ) तुर्वश—ऋग्वेद मे अनेकधा[11] एक जाति के लोगों के द्योतक रूप मे आता है—सामान्यतया यदु के सम्बन्ध मे उल्लेख किया गया है। यह दोनों ही शब्द सामान्यतया एक वचन मे ही बिना किसी सम्बन्धात्मक अव्यय के तुर्वश यदु अथवा यदु तुर्वश[12] के रूप मे आते है। एक बार तुर्वश का बहुवचन मे यदुओं[13] के साथ और एक बार अकेले[14] ऐसे स्थल मे आया है जिसमे इसका एकवचन रूप भी

१ वैदिक इण्डेक्स भाग १ पृ० २२।
२ ऋग्वेद ७।१८।१४।
३ वही ८।१०।५।
४ वही १।१०८।८।
५ वही ८।७४।१५ ७।१८।१४ की तुलना मे।
६ वही ८।१०।५।
७ वही ६।४६।८।
८ वही १।१०८।८।
९ वैदिक इण्डेक्स भाग १ पृ० ३८५।
१० ऋग्वेद १।३६।१८ ५४।६ १७४।९ ४।३०।१७ ४५।१ ५।३१।८ ६।४५।१ ८।४।७ ७।१८ ९।१४ ४५।२७ ९।६१।२ १०।४९।८।
११ १।३६।१८ ५४।६ १७४।९ ६।२०।१२ ४५।१ ८।४।७ ७।१८ ९।१४ ४५।२७ १०।४९।८।
१२ वही ५।३१।८।
१३ वही १।१०८।८।
१४ वही ८।४।१ ८।७।१८।

प्रयुक्त हुआ है। एक स्थल पर ही युगलरूप मे (तुर्वशा-यदु) प्रयुक्त हुए हैं।[१] अन्यत्र[२] 'यदुस् तुवश् च आता है। एक ऋचा[३] मे तुर्वश[४] अकेले प्रयोग मिलता है जबकि अन्यत्र[५] तुर्वश और याद्व का प्रयोग प्राप्त होता है।

इन तथ्यो के आधार पर हॉपकिन्स ऐसा स्वीकार करते[५] हैं कि तुर्वश एक ऐसी जाति के लोगो का नाम है जिसका एक वचन उसके राजा का द्योतक है। हॉपकिन्स तुवश को यदु राजा का नाय मानत हैं। वस्तुत तुर्वश और यदु अलग अलग किन्तु घनिष्ठतया सम्बद्ध जातियाँ थी। यदु और तुवश के युगल रूप सम्भवत यही द्योतित करते हैं।

प्रमुख रूप से तुवश ने सुदास के विरुद्ध युद्ध मे भाग लिया।[६] एक स्थल[७] पर तुर्वश और यदु द्वारा सुदास के पिता दिवोदास पर किए गए आक्रमण का सन्दर्भ मिलता है।

(ड) पूरु ऋग्वेद मे एक जाति के लोगो और उनके राजा का नाम है। एक ही ऋचा[८] मे इनका अनु द्रह्यु तुवश और यदु के साथ उल्लख किया गया है। एक स्थल पर भरतो की अग्नि की पूरुओ पर विजयी होने की प्रशस्ति है। अनेक स्थलो पर पूरुओ की शत्रुओ पर विजय का सन्दभ द्रष्टव्य है।[१] पूरु कुत्स और उनका पुत्र त्रसदस्यु पूरुओ के महान् राजा थे। स्पष्टत पूरुओ का सरस्वती नदी के तट पर रहने का उल्लख किया गया है।[११]

(इ) अन्य जातियां

इन पाँचो जातियो के अतिरिक्त अन्क जातियाँ आयमण्डल मे निवास करती थी। यथा—

---

१ ऋग्वद ४।३०।१७।

२ वही १०।६२।१०।

३ वही १।४।७७।

४ वही ७।१९।८।

५ वैदिक इण्डक्स भाग १ पृ० ३१६।

६ ऋग्वेद ७।१८।६।

७ पुर सदा इत्थाधिये दिवोदासाय शम्बरम। अध त्य तुर्वशं यदुम।

वही ६।६१।२।

८ वही, १।१०८।८।

९ वही ७।८।४।

१० वही १।५९।६ १३१।४ १७४।२, ४।२१।१० ३८।१ ६।२०।१०, ७।५।३, १९।३।

११ वही ७।९६।२।

(क) तृत्सु—तृत्सु बड़े पराक्रमी वीर और पुरुषार्थी थे सम्भवत यह जाति परुष्णी नदी के तट पर निवास करती थी। दिवोदास और उनके प त्र सुदास तृत्सुओ के सर्वप्रसिद्ध राजा हुए। दिवोदास ने यदु और तुर्वशो के विरुद्ध युद्ध लड़े। ऋग्वेद मे शम्बर तुर्वश और यदुओ पर दिवोदास की विजय का वर्णन किया गया है।[1] दिवोदास ने महान असुर शम्बर के भी नब्बे नगरो को ध्वस किया।[2]

(ख) भरत—यह एक महत्वपूर्ण जाति के रूप म उल्लिखित है। ऋग्वेद मे यह तीसरे और सातवे मण्डलो मे सुदास और तृत्सुओ के साथ सम्बद्ध किया गया है।[3] छठे मण्डल मे इन्हे दिवोदास के साथ सम्बद्ध किया गया है। एक स्थल[4] पर भरतगण भी तृत्सुओ की भाँति पूरुओ के शत्रु हैं। लुडविग तृत्सुओ और भरतो को समीकृत करते हैं जबकि जिमर तृत्सुओ और भरतो को परस्पर शत्रु घोषित करते है।[5]

इनके अतिरिक्त ऋग्वेद मे क्रिवि[6] वचीवन्त[7] और नहुष[8] आदि जातियो का परिचय प्राप्त होता है। इनके साथ ही साथ अन्य अनेक छोटी छोटी जातियाँ सप्तसिंधु मे निवास करती थी।

(ई) युद्ध विषयक प्रसग

ऋग्वैदिक सूक्तो मे शत्रुओ से रक्षणार्थ अपने इष्टदेवो से की गई प्रार्थनाये प्राप्त होती हैं जिनसे विदित होता है कि जन समुदाय आपसी युद्धो मे निरन्तर रत था। एक ऋचा मे इन्द्र से आक्रोश करने वाले सब शत्रुओ के विनाश और हिंसको के सहार की प्रार्थना की गई है।[10]

प्रार्थनायें विविध देवो के निमित्त प्रत्यर्पित है किन्तु विशेषत युद्ध मे अग्रणी देवाधिदेव इन्द्र की प्रशसा की गई है क्योकि इन्द्र देव उनके शत्रुओ के विनाश म सहायक है। ऋग्वेद म मूल निवासियो की अपेक्षा वैदिक आर्य अधिक बलशाली और पराक्रमी प्रतीत होते हैं। अनार्य लोग अपने पराक्रमी शत्रुओ का सामना

---

१ पुर सद्य इत्थाधिये दिवोदासाय शम्बरम। अध त्य तुर्वश यदुम।
ऋग्वेद ६।६१।२।

२ वही १।१३०।७ ६।२६।५।

३ वही ३ ५३।९ ७ ८।४ ३३ ६।

४ वही ६।१६।४, ५।

५ वही ७ ८।४।

६ वैदिक इण्डेक्स भाग २ पृ० ९५।

७ ऋग्वेद८।२०।२४।

८ वही ६।२७।५।

९ वही १।३१।११ ६।२२।१० ४६।७ १ १८०।६ ७।९५।२।

१० सर्व परिक्रोश जहि। जम्भया कृकदाश्वम्। वही १।२९ ७।

करने में अपर्याप्त रहे तथापि ऋग्वेद मे उनके आत्मसमर्पण का वृत्तान्त अधिगत नही होता। अपनी सामर्थ्यानुसार उन्होंने शत्रुओं का हर सम्भव दशा मे विरोध किया। ऋग्वेद मे आर्यों और अनार्यों के परस्पर युद्धों के प्रसग प्राप्त होते हैं।

प्रथम मण्डल मे सग्राम के शुरू होने पर सकडो शुभ कर्म करने वाले इन्द्र की शत्रुओं के ९९ नगरों को तोड़ने हेतु प्रशसा की गई है।[1] अन्यत्र दस्युओं और शिम्यूओ पर प्रहार करके उनके समूल विनाश का वर्णन किया गया है।[2] आर्यों ने अपनी रक्षा के लिए शत्रुओ के नगरो को तोडने के लिए और उन पर आयुध फेंकने के लिए इन्द्र का आह्वान किया है[3]

पुनश्च इन्द्र द्वारा शत्रुओ के वध का और उनके शस्त्रास्त्रों को विनष्ट करने का वर्णन किया गया है। इन्द्र शत्रुओ को मारकर युद्ध को रोकते थे तब उनके पराक्रम की प्रशसा करने के लिये ऋषि उनके स्तोत्र गाते थे।

एक सूक्त[4] मे शत्रुओ के साथ भयावह युद्ध और उसके परिणामस्वरूप श्मशान बने हुए युद्ध क्षेत्रो मे हिंसा करने वाली सेनाओं का वर्णन किया गया है। एक स्थल[5] पर प्रजा का नाश करने वाले दस्युओ को दण्डित करने एव उनके साधनभूत अस्त्रादि के विनाश की कामना की गई है।

युद्धो का पर्याप्त वर्णन चतुर्थ मण्डल के १६ वें सूक्त मे किया गया है जिसमे शत्रुओ के विनाश की याचना के साथ साथ इन्द्रदेव के सरक्षण की कामना भी दृष्टिगत होती है।

एक स्थल पर दुष्टो के दमन और एक श्रेष्ठ आर्य के अधीन सब प्रजाओ के स्थापन का प्रसग प्राप्त होता है। आर्यों द्वारा शत्रुओं को परास्त करने और उनकी सारी प्रजा को दास बना लेने का तथा शत्रु सेना के विनाश का वर्णन

---

१ ऋग्वेद, १।५४ ६।

२ दस्यूञ्छिम्यूश्च पुरुहूत एवैर्हत्वा पृथिव्या शर्वा नि बर्हीत्।
सनत् क्षेत्र सखिभि श्वित्न्येभि सनत् सूर्य सनदप सुवज्र।
वही १।१००।१८।

३ स जातूभर्मा श्रद्दधान ओज पुरो विभिन्दन्नचरद् वि दासी।
विद्वान् वज्रिन दस्यवे हेतिमस्यार्य सहो वर्धया द्युम्नमिन्द्र। वही १।१०३।३।

४ वही १।१७४।६ ७ ८।

५ वही १।१३३।२ ३।

६ अकर्मा दस्युरभि नो अमन्तुरन्यव्रतो अमानुष।
त्व तस्यामित्रहन् वधर्दासस्य दम्भय। वही १०।२२।८।

७ त्व ह नु त्यददमायो दस्यूँरेक कृष्टीरवनोरार्याय।
अस्ति स्विन्नु वीर्य तत्त इन्द्र न स्विदस्ति तदृतुथा वि वोच।
वही ६।१८।३।

किया गया है ।[1]

इस प्रकार आर्यों-अनार्यों के युद्धो का वर्णन बहुश ऋग्वेद मे प्राप्त होता है । अनार्यों का अस्तित्व समाप्त होता चला गया अथवा उनका रूप दासो मे परिणत होता चला गया । आर्य विजयी होते गये किन्तु समय असमय निरन्तर उन्हें अनार्यों का सबल विरोध सहन करना पडा ।

ऋग्वेद मे एक स्थल पर राजा सुश्रवस पर बीस राजाओ द्वारा किये गये आक्रमण का वर्णन किया गया है साथ ही इन्द्र द्वारा उन राजाओ के साठ हजार निन्यानवे सैनिको के विनाश का भी चित्रण प्राप्त होता है ।[2]

(उ) **दाशराज्ञ युद्ध**—ऋग्वेद मे वर्णित युद्ध प्रसगो मे दाशराज्ञ-युद्ध सर्वप्रसिद्ध है । अपेक्षाकृत यह अधिक विस्तार से भी वर्णित है । ऋग्वेद मे प्राप्त जातियो मे पारस्परिक विरोध की भावना प्रबल दृष्टिगत होती है क्योंकि ऋचाओ मे एक जाति के पुरोहित अपनी जाति के प्रभुत्व और अन्य जातियो पर आधिपत्य के लिए निरन्तर प्रार्थना करते रहे हैं ।

(ऊ) **युद्ध का कारण**—ऐसा प्रतीत होता है कि महान् ऋषि विश्वामित्र तृत्सुओ के राजा सुदास के पुरोहित थे । विश्वामित्र ने सुदास के लिए इन्द्र से प्रार्थनायें की और इन्द्र की सहायता को अपने राजा के लिये प्रस्तुत किया ।[3] सुदास के ऐसे पूर्व पुरोहित विश्वामित्र का उन्नत पद किसी कारण वश वसिष्ठ को प्राप्त हुआ इस पर बदले की भावना से प्रेरित होकर विश्वामित्र ने दश विभिन्न राजाओ के सघ को तृत्सुओ के विरोध मे उपस्थित किया । युद्ध मे वशिष्ठ ही सुदास के पुरोहित रहे । ऋग्वेद इसका स्पष्ट प्रमाण प्रस्तुत करता है । वसिष्ठ ऋषि दस राजाओ के सघ द्वारा चारो ओर से घेरे गये सुदास राजा को बल देने हेतु इन्द्र और वरुण का आह्वान करते है ।[4] वस्तुत युद्ध का यह कारण सदिग्ध

---

१ आभि स्पृधो मिथतीररिषण्यन्नमित्रस्य व्यथया मन्युमिन्द्र ।
आभिर्विश्वा अभियुजो विषूचीरार्याय विशोऽव तारीर्दासी । ऋग्वेद ६।२५। ।

२ त्वमेताञ्जनराज्ञो द्विर्दशाबन्धुना सुश्रवसोपजग्मुष ।
षष्टिं सहस्रा नवतिं नव श्रुतो नि चक्रेण रथ्या दुष्पदावृणक । वही १।५३।९ ।

३ महाँ ऋषिर्देवजा देवजूतोऽस्तभ्नात्सिन्धुमर्णव नृचक्षा ।
विश्वामित्रो यदवहत् सुदासमप्रियायत कुशिकेभिरिन्द्र ।। वही ३।५३।९ ।
उप प्रेत कुशिकाश्चेतयध्वमश्व राये प्र मुञ्चता सुदास ।
राजा वृत्र जङ्घनत् प्रागपागुदगथा यजाते वर आ पृथिव्या ।।
वही ३।५३।११ ।

४ दाशराज्ञे परियत्ताय विश्वत सुदास इन्द्रावरुणावशिक्षतम् ।
श्वित्यञ्चो यत्र नमसा कपर्दिनो धिया धीवन्तो असपन्त तृत्सव ।।
वही, ७।८३।८ ।

है किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि सुदास की बढ़ती शक्ति से सभी शत्रु आतंकित थे इसीलिए विश्वामित्र द्वारा बनाए गए संघ में प्रतिशोध की भावना से ओत प्रोत विविध जातियों के लोगो ने भाग लिया। दस राजाओं मे कौन कौन सी जातियो के राजा थे यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता किन्तु प्राप्त प्रसगो के आधार पर पूर्ववर्णित पाँचो जातियो (अनु, द्रुह्यु तुवश, यदु और पुरु) तथा अलिन ववथ भलनस शिव तथा विशाविन् सुदास् की विरोधी सेना मे सम्मिलित थी।

(ख) युद्ध

सुदास और दस राजाओ की सग्राम स्थली परुष्णी (रावी) का तट था।[1] जहाँ सघीभूत शत्रुओ से लोहा लिया गया। विश्वामित्र और उनकी सेना को परुष्णी के तट तक आने के लिये दो नदियो (विपास और शुतुद्रि) को पार करना था। तृतीय मण्डल मे नदियो के प्रति विश्वामित्र की अभ्यथना और तदनन्तर नदियो का विनम्र होकर पार हाने योग्य बन जाने का स्पष्ट प्रमाण प्राप्त होता है।[2] सुदास की सेना परुष्णी के एक ओर थी। बीच मे प्रवहमान नदी थी इसलिए नीतिज्ञ सुदास ने रात्रि मे नदी को पार किया।[3] और एकाएक अनपेक्षित रूप से शत्रुओ पर हमला कर दिया। वज्रधारी इन्द्र की कृपा से श्रुत कवष वृद्ध और द्रुह्य नामक शत्रु नेताओ को क्रमश जल मे डुबो दिया गया।[4] जसे कोई युवा अपने घर मे दर्भों को काटता है वसे ही इस राजा (सुदास) ने इक्कीस वीरो का वध किया।[5] एक अय ऋचा[6] मे अन्य बहुत से विद्वषियो के वध का वणन किया गया है। अन्तत शत्रु जल प्रवाहो के समान नीचे मुह करके भागने लगे। मारे जाने पर सब भोजन साधनरूप धनो का सुदास के लिए छोडकर भाग गए।

इस प्रकार राजा सदास को दस राजाओ के सघ पर प्रशसनीय विजय प्राप्त

---

१ ऋग्वेद ७।१८।९।

२ ओ षु स्वसार कारवे शणोत ययौ वो दूरादनसा रथेन।
किषु नमध्व भवता सुपारा अधोअक्षा सिन्धव स्रोत्याभि। वही ३।३३।९।
आ ते कारो शणवामा वचासि ययाथ दूरादनसा रथेन।
नि त नस पीप्यानेव योषा मर्यायेव कन्या शश्वच त।। वही, ३।३३।१०।

३ एवे नु क सिन्धुमभिस्ततारेवेन्नु क भेदमेभिजघान।
एवे नु क दाशराज्ञे सुदास प्रावदिन्द्रो ब्रह्मणा वो वसिष्ठा। वही ७।३३।३।

४ अध श्रुत कवषं वृद्धमप्स्वनु द्रुह्यु नि वृणग्वज्रबाहु। वही ७।१८।१२।

५ एक च यो विंशतिं च श्रवस्या वैकर्णयोर्जनान् राजा न्यस्त। वही ७।१८।११।

६ वही ७।१८।१४।

७ इन्द्रेणैते तृत्सवो वेविषाणा आपो न सृष्टा अधवन्त नीची।
दुर्मित्रास प्रकलविन्मिमाना जहुर्विश्वानि भोजना सुदासे। वही ७।१८।१५।

हुई। यह सब इन्द्रदेव की कृपा का परिणाम था जो राजपुरोहित वसिष्ठ की प्रभावपूर्ण प्राथनाओ से प्राप्त हुआ। सुदास ने अपनी जीत के पश्चात युद्ध क्षेत्र से निकलने पर शत्रुओ के निवास पर भी आक्रमण किया और उनके नगरो को ध्वस्त कर दिया। ऋग्वेद मे कहा गया है—सुदास ने शत्रुओ के सब सुदृढ नगरो के सातो प्रकारो को बल से तत्काल तोड दिया।[1] शत्रुभूत अनु के घर को तृत्सु को दे दिया।[2]

तदनन्तर अज शिग्रु और यक्षु नामक तीन जातियो के सेनानायक बनकर भेद नामक राजा ने सुदास पर आक्रमण किया। सुदास ने लौटकर इन जातियो को यमुना नदी के किनारे बडी वीरता के साथ ध्वस्त कर दिया।[3] इस युद्ध के दृश्य का वणन वसिष्ठ ने बडे सुन्दर रूप मे ऋग्वेद के एक सूक्त[4] मे किया है। अज शिग्रु और यक्ष जातियाँ ध्वस्त कर दी गई इसीलिए सम्भवत उन्होने इन्द्र के लिए अपने रक्षणार्थ प्रमुख घोड प्रदान किये[5]।

सुदास ने एकत्रित सामग्री को ब्राह्मणो म वितरित कर दिया। ऋषि वसिष्ठ ने राजा से प्राप्त दान की अतिशय प्रशसा करत हुए उनके सौभाग्य की कामना की है।[6]

दाशराज युद्ध मे विजय के बाद सुदास की प्रभुता अत्यधिक वृद्धि को प्राप्त हुई। साक्ष्यो से यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वैदिक समय म आर्यों और अनार्यों के युद्ध निरन्तर चलत रहे। अपने सरक्षण और शत्रु के विनाश हेतु विविध वर्गो की प्राथनाय इन्द्र देव को समर्पित की जाती रही और उनकी प्रशसा म स्तोत्र गाए जात रहे।

---

१ वि सद्यो विश्वा दृंहितान्येषामिन्द्र पुर सहसा सप्त दर्दं।
व्यानवस्य तृत्सवे गय भाग्जेष्मा पूरु विदथे मध्रवाचम्। ऋग्वेद ७।१८।१३।

२ वही ७।१८।१३।

३ वही ७।८३।४।

४ वही ७।८३ सम्पूर्ण सूक्त।

५ वही ७।१८।१९।

६ द्व नप्तुर्देववत शत गोर्द्वा रथा वधूमन्ता सुदास।
अर्हन्नग्ने पैजवनस्य दान होतेव सद्म पर्येमि रेभन।
चत्वारो मा पैजवनस्य दाना स्मद्दिष्टय कृशनिनो निरेके।
ऋज्रासो मा पृथिविष्टा सुदासस्तोक तोकाय श्रवसे वहन्ति।
यस्य श्रवो रोदसी अन्तरुर्वी शीर्ष्णेशीर्ष्णे विबभाजा विभक्ता।
सप्तेदिन्द्र न स्रवतो गृणन्ति नि युध्यामधिमशिशादभीके॥
वही, ७।१८।२२ २३ २४।

३ ऋग्वेद में आचार-सामग्री

१ आचार का अर्थ और उसका महत्त्व

मानव विधाता की सर्वोत्कृष्ट रचना है। मस्तिष्क और उसकी उर्वर कल्पनाशक्ति मानव को विधाता की अतिरिक्त देन है। आचर्यते यत्स आचार जो आचरण किया जाए वह आचार है किन्तु यह आचार की सम्पूर्ण परिभाषा नहीं है। पशु भी आचरण करते हैं, किन्तु उनके तथा मानव के आचरण में एक महान् अन्तर है। मानवीय व्यवहार में मस्तिष्क का जो योग है वह उसे अन्य जीव जगत् से पृथक करता है अत आचार बुद्धि और तर्क से सम्बन्धित वह व्यवहार है जो व्यक्ति की सोचने समझने तथा मनन करने की शक्ति की परिधि में सुव्यवस्थित रूप को प्राप्त करता है। आचार का सम्बध व्यक्ति की कर्तव्य भावना से है। इससे सामाजिक प्रगति होती है यह व्यक्ति की आन्तरिक प्रेरणा से निस्सृत है।

धर्म व्यक्ति का पुरुषार्थ है और आचार धर्म का अंग माना जाता है। मनु ने आचार को धर्म न कहकर परम धर्म कहा है—आचार परमो धर्म[१]। आचार समाज की आधार शिला है। पिता पुत्र पति पत्नी भाई बहन और अन्य सामाजिक बन्धन कर्तव्य भावना के बल पर ही प्राचीनकाल से आज तक चले आ रहे है।

आचार के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए कहा है—

> आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिता प्रजा
> आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥[२]

आचार से आयु प्राप्त होनी है इच्छा के अनुरूप सतान की प्राप्ति होती है। यह सब प्रकार की न्यूनताओ को दूर कर देता है। आचारहीन व्यक्ति लोक मे निंदित होता है और दुःख रोग तथा शोक को प्राप्त कर अल्पायु में ही मृत्यु को प्राप्त होता है।

> दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दित ।
> दुःखभागी च सतत व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥[३]

मनु ने तो आचार की प्रशसा में यहाँ तक कहा है कि सदाचारवान् व्यक्ति सौ वर्षो तक जीवित रहता है।

२ आचार का वर्गीकरण

सद् और दुर् पूर्वक आचार शब्द विपरीत अर्थो का वाचन करता है। सद्

---

१ मनुस्मृति, ४।१०८
२ वही ४।१५६
३ वही ४।१५७

वत्ति से उद्भूत भाव सदाचार को और दुष्ट वृत्ति से उद्भूत भाव दुराचार को उत्पन्न करते हैं इसीलिये आचार में दोनो प्रकार की वत्तिया अन्तर्निहित है—सुप्रवृत्ति और दुष्प्रवृत्ति । अच्छी प्रवृत्तियो के अन्तगत सत्य दान अहिंसा और सामञ्जस्य तथा कुप्रवत्तियो के अन्तगत— चोरी व्यभिचार जुआ आदि वत्तियाँ आती हैं। इन सभी वृत्तियो का विस्तार से आगे विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

ऋग्वदिक वृत्तियाँ सदाचरण की ओर अभिमुख दिखाई देती हैं। सत्य अहिंसा दान आदि की ओर आर्यों की निष्ठा अभिव्यक्ति होती है और चोरी जुआ आदि दुव्यसनो की कठोर निन्दा की गई है। वरुण देव को नतिक देवता स्वीकार किया गया है। कहा गया है - मित्रावरुण सत्यस्वरूप सनातन नियमो का अनुसरण करने वाले और वे ही सद्धमनिष्ठ हैं। वे उत्तम मार्ग से जान वाले उत्तम रीति मे दान देने वाले और पापियो को भी समद्ध करन वाल है।[1]

प्रस्तुत आचरण वदिक आर्यों का आदश था। दुराचारी की अवगहणा और उसके लिये समुचित दण्ड व्यवस्था का भी विधान था। इस प्रकार आचार को प्रमुखत दो रूपो म विभाजित करके आगे विस्तार से उसका वणन किया जा रहा है।

(अ) सदाचरण
(अ) दुराचरण

(अ) सदाचरण

(क) सत्य— सत्य का जीवन में बहुत महत्त्व है। सत्य क आधार पर ही मानव देव की कोटि म गिना जाने लगता है। सत्यवादी व्यक्ति ही जन समुदाय का शिरोमणि बनता है और अपने चरित्र को अनुकरणीय बना देता है। सहस्रा शिरा द्वारा झुक झुक कर प्रणाम किया गया अपन इसी शोभन गुण क द्वारा शतश प्रशसा की पात्रता को वह प्राप्त करता है।

१ सत्य का अथ—सत्य सात्विक वृत्ति स नि सृत वह तत्त्व है जो किसी भी पदाथ का यथाथ परिचय करा सक। जसा देखा हो सुना हो उसे वसा ही बताना सत्य कहलाता है। जो उक्ति सरल, निश्छल हृदय से प्रस्फुटित हुई हो जो छल कपट से सवथा रहित हो सत्य कही जाती है। किसी भी यथाथ को यथातथ्य रूप म प्रकाशित करना ही सत्य है। निरुक्तकार के मत मे —सत्य कस्मा सत्सु तायते सत्प्रभव भवतीति वा।[2] मनु न वाणी मे सत्य के महत्त्व पर प्रकाश

१ ते हि सत्या ऋतस्पृश ऋतावानो जन जने।
सुनीथास सुदानवोऽहो श्चिदुरुचक्रय ॥ मनुस्मृति ५।६७।४

२ निरुक्त ३।१३

डालते हुए कहा है कि सत्य बोलना चाहिये ।[1] उन्होंने आगे प्रिय को सत्य के विशेषण रूप में रखा है । कहा गया है कि सत्य ही किन्तु प्रिय सत्य बोलना चाहिये ।

ऋग्वेद मे भी सत्य के प्रति निष्ठा अभिलक्षित होती है । सत्य के प्रति ऋग्वैदिक आर्यों की अभिरुचि और असत्य के प्रति घृणा की भावना का आगे विस्तार पूर्वक निरूपण किया जायेगा ।

२ **सत्य का महत्व**—किसी भी वस्तु के लाभ उसके महत्व का प्रतिपादन करते हैं । उसकी शक्ति उसके महत्व का कथन करती है । ऋग्वेद में सत्य की शक्ति का प्रतिपादन करते हुए कहा है— सत्येनोत्तभिताभूमि[2] अर्थात् सत्य से पृथिवी टिकी हुई है । एक अन्य ऋचा मे भी कहा गया है—सत्यवाणी के सहारे ही आकाश अवलम्बित है । सम्पूर्ण ससार और प्राणी जिसके आश्रित हैं दिन प्रकाशित होता है सूर्योदय होता है जल निरन्तर गति से प्रवाहित होता है वही सत्यवाणी मेरी रक्षा करे ।[3] प्रस्तुति उक्ति सत्य के महत्व को प्रतिपादित करती है ।

सत्य की अनेक शक्तियाँ हैं इसकी शक्ति से सम्पूण पाप विनष्ट हो जाते हैं । ऋत (सत्य) की ज्ञानयुक्त स्तुति मानव की बधिरता भी दूर कर देती है । इस प्रकार ऋग्वेद सत्य के माहात्म्य को स्पष्ट रूप से स्वीकार करता है इसीलिये सत्य के आचरण पर बल देकर कहा गया है कि जो जैसा कहे उसे वैसा ही उस पर आचरण भी करना चाहिये । एक ऋचा मे कहा गया है—नर रूपी ऋभुओ ने सत्य ही कहा क्योकि उन्होने जैसा कहा वसा ही किया भी है ।[5]

३ **सत्य का विविध अर्थों में प्रयोग**—सत्य के लिए सत्य ' और ऋत दो शब्द प्रयोग म आये है किन्तु इनके विविध अथ हो सकत है ।

सत्य सत् ' (होना) बना होने पर अस्तित्व अथ का बोध कराता है । इसका मूल अथ सत्तावाला है । ऋग्वेद की अनेक ऋचाओ मे सत्य का अथ सत्तावान् है । यथा—चतुथ मण्डल की एक ऋचा मे इन्द्र देव के अस्तित्व का प्रतिपादन करने के लिये सत्य ' शब्द का प्रयोग आया है ।[6] अन्यत्र भी सत्य का

---

१ सत्य ब्रूयात् । मनुस्मृति ४।१३८

२ ऋग्वद १०।८५।१

३ सा मा सत्योक्ति परिपातु विश्वतो द्यावा च यत्र ततनन्नहानि च ।
विश्वमन्यन्नि विशते यदेजति विश्वाहापो विश्वाहोदेति सूय । वही १०।३७।२

४ ऋतस्य हि शुरुध सन्ति पूर्वी ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति ।
ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द कर्णा बुधान शुचमान आयो ॥ वही, ४।२३।८
अत्र ऋतशब्देनोद्‌कादित्योवा सत्य वा यज्ञो वा उच्यते ॥ द्रष्टव्य-सायण भाष्य ।

५ वही ४।३३।६

६ आ सत्यो यातु मघवाँ ऋजीषी । वही ४।१६।१

अस्तित्व बोध वाची शब्द के रूप में प्रयोग किया गया है ।[1] सत्य का 'यथार्थ' अर्थ भी किया गया है ।[2] सायण ने सत्य का अवितथ 'यथार्थवचन' अबाध्य' और सत्य (सच्चा) अर्थ भी किया है ।

एक ऋचा में कहा गया है—अनुदार मनवाले व्यक्ति के यहाँ भोजन न करें क्योंकि उदारता रहित अन्न विष के समान है मैं सत्य कहता हू कि जो मित्र और देवता को न देता हुआ स्वय ही भोजन करता है वह मूर्ख पुरुष साक्षात् पाप का ही भक्षण करता है ।[6] यहाँ सत्य सच के अर्थ मे प्रयोग हुआ है ।

ऋत' शब्द का मूल अर्थ है— शाश्वत नियम' दशम मण्डल की एक ऋचा मे कहा गया है—

ऋतं च सत्य चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ।[7]

तेजोमय तप से शाश्वत नियम और सत्य की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार ऋत श नियम अर्थ मे आया है किन्तु अनेक स्थलो पर यह सत्य का भी वाचक है। मित्रावरुण को सम्बोधित करके कहा गया है—तुम दोनो मनुष्य को सत्य से सयुक्त करते हो ।[8] एक ऋचा मे सत्य से असत्य को पृथक कर राज्य के स्वामित्व प्रदान करने की बात कही गई है ।[9] यहाँ ऋत का अर्थ सत्य लिया गया है। यम यमी सूक्त मे भी ऋत को सत्य अर्थ मे लिया है। यम अपनी बहिन यमी से कहता है हम सत्यभाषी है कभी मिथ्या वचन नही बोलते ।[1]

४ सत्य के विपरीत अर्थ (असत्य) के वाचक शब्द—ऋग्वेद मे असत्य के लिये अनृत शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है। अधिकाशत इसका प्रयोग ऋत के साथ मिलता है। ऋत का विपरीत अनृत कहलाता है। यम यमी सूक्त की ऋचा मे अनृत ऋत के साथ है ।[11] इसी प्रकार राष्ट्र के अधिपतित्व के आह्वान मे भी

---

१ ऋग्वेद ५।८३।२ ५।२५।२ ६।२२।१ ३।१४।१ ४।४।२

२ वही २।१२।१५ २।२४।१२

वही २।२४।१४ ८।३।४ १।१४५।११

४ वही ७।१०४।१२

५ वही १।१७४।१

६ ७ मोघमन्नं विन्दते अप्रचेता सत्य ब्रवीमि वध इत्स तस्य ।

नार्यमण पुष्यति नो सखाय केवलाघो भवति केवलादी ॥ वही १०।११७।६

८ वही १०।१९०।१

९ 'ऋतेन मित्रावरुणा सचेथे । वही १।१५२।१

१० ऋतेन राजन्ननृत विविञ्चन्मम राष्ट्रस्याधिपत्यमेहि । वही १०।१२४।५

११ न यत्पुरा चकृमा कद्ध नूनमृता वदन्तो अनृत रपेम । वही १०।१०।४

अनृत का प्रयोग ऋत के साथ ही है।[1]

अन्यत्र भी ऐसे प्रयोग आये हैं। मित्रावरुण तुम अपने बल से सत्यशील के द्वारा असत्यशीलो पर शासन करवाते हो[2] मित्रावरुण असत्यों को विनष्ट करते हैं।[3] अनृत' शब्द असत्यवाची होकर आया है।

झूठ बोलने के लिये असत्य' शब्द का प्रयोग है। असत्य बोलने वाले की घोर निन्दा करते हुए कहा है— 'असत्यवादियो ने इस अगाध नरक-स्थान को जन्म दिया है'।[4] इन्द्र कहते है— 'जो सत्य का पालन नहीं करता और यज्ञ म हवि आदि नही देता उसे मैं नष्ट कर देता हूँ'।[5] प्रस्तुत ऋचा मे असत्य के लिये सत्यध्वृत शब्द आया है। अलक शब्द का व्यवहार भी इसी अथ मे किया गया है। वेद के महात्म्य की घोषणा करते हुए कहा है—जो सखा के समान वेद के स्वाध्याय को छोड देता है उसका वेदवाणी मे भी कोई भाग नही रह जाता वह जो सुनता है वह (अलकम्) व्यथ सुनता है क्योकि वह सुकृत के माग को नही जानता है।[7] इस प्रकार अलक शब्द व्यथ झूठे अथ का वाचक है।

एक ऋचा मे मिथुया शब्द भी असत्याथ का भाषी है।[8]

५ **सत्य की सराहना और असत्य की निन्दा**—सत्यवादी के लिये उसका सत्य नौकाओ का काम करता है। जिस प्रकार व्यक्ति नौका से तर कर पार उतर जाता है एक ऋचा मे कहा गया है कि सत्य की नौकाय शुभकर्म करने वाले को पार कर देती है।[9] सत्य मार्ग ही श्रेयस्कर बताया गया है। एक ऋचा के अनुसार सत्य के अनुसार चलना ही व्रत है ऐसा कहा गया है।[10] ऋग्वेद केवल सत्य' के महत्त्व पर ही बल नही देता अपितु उसे व्यवहार मे लाना भी अत्यावश्यक प्रतिपादित करता है। एक स्थल पर कहा है—कि वर रूपी ऋभुओ ने सत्य ही

---

१ ऋग्वेद १०।१०।४
वही १०।१२४।५

२ अध्यादवाथे अनृत स्वेन मन्युना दक्षस्य स्वेन मन्युना। वही १।१३९।२

३ ऋत विपश्यनृत नि तारीत्। वही १।१५२।३
अवातिरतमनृतानि विश्व। वही १।१५२।१

४ वही २।२४।६ ७ ८।६२।१२ २।३५ ६

५ पापास सन्तो अनृता असत्या इद पदमजनता गभीरम्। वही ४।५।५।

६ अनाशीर्नमिहमस्मि प्रहन्ता सत्यध्वृत वृजिनायन्तमाभुम्। वही १०।२७।१।

७ यस्तित्याज सचिविद सखाय न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति।
यदा शृणोत्यलक शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्। वही १०।७१।६।

८ वही १०।५५।६, ११७।६, १६५।४ ७।१०४।१५ १४।

९ वही ७।१०४।३।

१० आहुरन्नु व्रतं व्रतपा दीध्याना। वही ३।४।७।

कहा कि उन्होंने जसा कहा था वैसा ही किया ।[1]

वरुण देव को नैतिक देवता स्वीकार किया गया है । वरुण व्यक्ति के सत्य और असत्य सबको जानने वाले हैं ।[2] असत्यवादी को वरुण देव दण्डित भी करते हैं ।[3] दुराचारी पापाचारी और असत्य भाषियो की घोर निन्दा की गई है और उन्हें ही नरक की उत्पत्ति का कारण घोषित किया गया है । कहा है—

भ्रातृहीन स्त्री जिस प्रकार कुमार्ग पर चलती है अथवा पति से द्वेष करने वाली स्त्रियाँ जिस प्रकार दुराचारिणी हो जाती है उसी प्रकार दुराचारी नतिक नियमो का उल्लंघन करने वाले असत्य बोलने वाले पापियो ने इस अगाध नरक स्थान को उत्पन्न किया है ।

सत्य के विघातक को इन्द्र विनष्ट करते हैं । कहा गया है कि— मैं बुरा चाहने वाली सत्य के विघातक पाप मे लगी व्यापक प्रवत्ति का मारने वाला हूँ ।[5] सोमदेव असत्य का विनाश करते है ।[6] इन्द्र देव भी असत्यभाषी दुष्ट को अपनी ओर से दण्डित करते हैं ।[7] जो असद् प्रवत्ति वाला व्यक्ति सत्यभाषी को कष्ट पहुँचाता है उसे अग्निदेव प्रताडित करके विनष्ट कर देते है ।[8]

अन्तत सत्य के प्रति निष्ठावान् ऋग्वैदिक आर्यों की अपने इष्टदेव से यही प्रार्थना है— सत्य के मार्ग से हमे ले चल और समस्त दुर्गुणो को दूर कर ।[9]

(ख) अहिंसा

किसी को किसी भी प्रकार से हिंसित न करना अहिंसा है । सरल शब्दो मे मन वाणी और कर्म से किसी भी प्रकार की हानि किसी को न पहुँचाना 'अहिंसा' कहा जाता है । श्री रघुनन्दन शर्मा ने अहिंसा की व्याख्या करते हुए लिखा है— अहिंसा जहाँ दूसरो को सताना मारना मना करती है वहा स्वयं दीर्घ जीवन प्राप्त करने की ओर भी प्रेरणा करती है ।[10] ऋग्वेद मे अहिंसा की भावना पर विचार करते हुए वाणी व कर्म आदि के माधुर्य तत्कालीन दीर्घ जीवन की कामना

---

१ ऋग्वेद ४।३३।६

२ यासा राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यञ् जनानाम् । वही, ७।४९।३ ।

३ वही ७।६६।१३ ।

४ अभ्रातरो न योषणो व्यन्त पतिरिपो न जनयो दुरेवा ।
पापास सन्तो अनृता असत्या इद पदमजनता गभीरम् ॥ वही ४।५।५ ।

५ अनाशीर्दामहमस्मि प्रहन्ता सत्यध्वृत वृजिनायन्तमाभुम् । वही १०।२७।१ ।

६ वही ७।१०४।१२ ।

७ वही ७।१०४।४ ।

८ वही १०।८७।११ ।

९ वही १०।१३३।६—ऋतस्य न पथा नयाति विश्वानि दुरिता ।

१० प० रघुनन्दन शर्मा वदिक सम्पत्ति, पृ० ३७ ।

और ऋग्वैदिक अहिंसा के प्रति आर्यों की सकारात्मक विचारधारा आदि शीर्षकों के अन्तर्गत विचार करना होगा।

(१) वाणी की मधुरता—इन्द्र से स्तुति की गई है कि वे वाणी में मधुरता और दिनों की उत्तमता प्रदान करें।[1] ऋक ८।९१।३ में सुन्दर वाणी से सम्पन्न करने का आग्रह है।[2] इस प्रकार यह विदित होता है कि ऋग्वैदिक आर्य सदाचरण और सरल जीवन व्यतीत करने के लिये उत्सुक थे। वाणी का माधुर्य इसलिये अपेक्षित है कि वाणी के द्वारा भी वे किसी अन्य की हिंसा न करें अर्थात् मधुर वचन किसी के मन मे चोट न पहुचायें और वे सरल व अहिंसापूर्ण जीवन यापित करें।

(२) रोग मुक्ति और दीर्घायु की प्राप्ति—निरोगी होना भी सुख और शांति का बहुत बड़ा पहलू है। रोगग्रसित प्राणी कभी सुव्यवस्थित रूप से अपने व्यवहार मे दूसरो के कल्याण की कामना समाहित नही कर सकता और मन, वचन तथा कर्म किसी न किसी मे चूक कर ही जाता है और वही हिंसा का रूप धारण कर लेती है। अत रोगरहित ओर स्वस्थ शरीर अहिंसा का प्रतिपादक होता है। ऋग्वेद की एक ऋचा मे कहा है कि—हम सब प्राणीमात्र हृष्ट पुष्ट और नीरोगी रहे तथा द्विपद और चतुष्पद के लिये शांति प्राप्त हो।[3] मुखादि इन्द्रियो को निरोगी और आयुओ को दीर्घ कर।[4] रुद्र देव को सम्बोधित करके कहा है—हम सबके बाल बच्चो मे मनुष्य गाय और घोड़ों मे कृशता उत्पन्न न करें।[5]

ऋग्वेद मे सौ वर्षों तक सुखपूर्वक जिजीविषा बहुश उल्लिखित है। एक ऋचा मे कहा गया है—हम उत्तम वीरो से युक्त होकर सौ हेमन्त ऋतुओ तक सुखपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करें।[6] एक अन्य स्थल पर सौ वर्ष की आयु को बीच मे न तोड़ देने की प्राथना है। कहा गया है—हम सम्पूर्ण आयु भली भांति व्यतीत करें।[7] हम दीप्तियुक्त सूर्यमण्डल को सौ वर्षों तक देखें।[8] इससे विदित

---

१ स्वादमान वाच सुदिनत्वमह्नाम्। ऋक० २।२१।६।
२ कुविच्छकत्कुविस्करत्कुवि नो वस्यसस्करत्। वही ८।९१।३।
३ यथा शमसद् द्विपदे चतुष्पदे विश्व पुष्ट ग्रामे अस्मिन्नातुरम् वही १।११ ।१
४ सुरभि नो मुखा करत् प्रण आयूषि तारिषत्। वही, ४।३९।६
५ मा नस्तोके तनये मा न आयौ मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिष।
वही १।११४।८
६ वेषि रायो वि यासि दुच्छुना मदेम शतहिमा सुवीरा। वही ६।१२।६
७ शतमिन्नु शरदो अन्ति देवा यत्रा नश्चक्रा जरस तनूनाम्।
पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तो। वही १।८९।९
८ तच्चक्षुर्देवहित शुक्रमुच्चरत्।
पश्येम शरद शत जीवेम शरद शतम्। वही, ७।६६।१६

होता है कि सौ वर्षों की दीर्घ आयु की कामना बहुत की गई है। अन्यत्र विभिन्न देवों से अपनी और अपने पारिवारिक सदस्यो के लिये दीर्घ आयु की याचना की है। विश्वेदेवा से कहा है कि— वह दीर्घ आयु हमारे दीर्घ जीवन के लिये प्रदान करें।"[1] हे दिव्यगुण वाले अग्ने! सब सौभाग्यों के ज्ञाता तुम हमारी आयु को बढ़ाओ।"[2] एक अन्य ऋचा मे पुन अग्निदेव से दीर्घायु के लिये कहा है।[3] दीर्घायु के लिये 'जीरदानुम्' शब्द का प्रयोग मिलता है।[4] प्रथम मण्डल की अनेक ऋचाओ में इसी प्रकार दीर्घायु की कामना है।[5] अन्यत्र भी यही भाव प्राप्य हैं।[6] छठे मण्डल की बहुत सी ऋचाओ में 'मदेम शतहिमा सुवीरा' इस वाक्य द्वारा दीर्घायु की याचना की है।[7]

(३) आचरण का सरलता—अहिंसापूर्ण जीवन के लिये आवश्यक है कि व्यक्ति के आचरण म ऋजुता हो विचारो मे सरलता हो तभी सम्भव है कि वह दूसरे के प्रति हिंसा को मन मे धारण न करे। ऋग्वेद मे सरल आचरण वाले व्यक्ति के लिये प्रकृति के तत्त्वो को अनुकूल और सुखद बना लेने की भावना मिलती है। कहा है— सरल आचरण करने वाले के लिय वायु माधुय बहाकर लाये नदियाँ मीठा रस बहाकर लायें औषधियाँ भी मीठी हो।'[8] रात्रि मधुरता प्रदान करे उषाये मधुरता लायें, पृथिवी अन्तरिक्ष मधुरता लायें और द्युलोक मधुर हो[9] वनस्पतियां हमारे लिये मधुर हो सूय मधुरता दे और गौए भी मधुर हों।[10] इस प्रकार आचरण मे माधुय आर्यों का भूषण प्रतीत होता है क्योकि उनकी अभिलाषा सदाचरण के प्रति अभिमुख दिखाई देती है। एक अन्य ऋचा मे सरल मार्ग से जाने वाले देवो की कल्याणकारक सुबुद्धि की कामना है[11] इससे

---

१ देवा न आयु प्रतिर तु जीवसे। ऋग्वेद १।८९।२

२ विद्वानस्माकमायु प्रतिरेह देव। वही १।९४।१६

३ द्रविणोदा रासते दीर्घमायु। वही १।९६।८

४ विद्यामेष वृजन जीरदानुम्। वही १।१६६।१५
जीरदानुम् चिरकालजीवनम्। देखिये प्रस्तुत ऋचा पर सायण भाष्य।

५ वही १।१६७।११ १६९।८ १७३।१३ १७७।५, १७६।६ १७४।१० १७५।६

६ वही ३।६२।१४ ३।६२।१५ १०।३६।६ १०।११५।८ ८।१८।१८

७ वही ६।१०।७ १२।६ २४।१०, १७।१५ १३।६

८ मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धव। माध्वीर्न सन्त्वोषधी। वही १।९०।६

९ मधु नक्तमुतोषसो मधुमत् पार्थिव रज। मधु द्यौरस्तु न पिता।
वही १।९०।७

१० मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमा अस्तु सूय। माध्वीर्गावो भवन्तु न। वही १।९०।८

११ देवाना भद्रा सुमतिऋजूयतां देवाना रातिरभि नो निवर्तताम्।
देवाना सख्यमुप सेदिमा वय देवा न आयु प्र तिरन्तु जीवसे। वही १।८९।२

प्रतीत होता है कि वे अपने सरल-मन वाले देवा की भाँति अपने मन में सरलता का भाव चाहते थे जिससे मन से भी वे किसी प्रकार की हिंसा न करें।

(४) हिंसा के प्रति घृणा और उससे रक्षा हेतु प्रार्थनायें—ऋग्वेद में अहिंसा के विरोधियों के प्रति घृणा का भाव व्याप्त है, इसीलिये उनके विनाश की कामना की गई है। दस्यु वृत्र और राक्षस आदि तत्त्व हिंसक हैं जो ऋग्वैदिक आर्यों के शांतिपूर्ण जीवन में बाधक हैं। अत भिन्न भिन्न देवताओं से उनके नाश की कामना है। सोम के बाधक शत्रु हमारी हिंसा न करें।[1] एक ऋचा में कहा गया है कि— हे अग्ने! तू राक्षसों और यातना देने वालों तथा सभी भक्षकों को जला दे।[2] इससे हिंसकों के प्रति घृणा स्पष्ट लक्षित है। इन्द्रदेव युद्ध में जनों को जीत ले जाने वाला और पापी राक्षसों का विनाशक है।[3] इन्द्रदेव पापचारक विरोधी शत्रुओं को अपने हिंसक वज्र से मारते हैं, अहंकारी को गर्व का अवसर नहीं देते और हिंसा करने वाले दस्यु का नाश करते हैं।[4] द्वेषी के प्रति घृणा का भाव है उसे भी अपने से दूर करने की इच्छा है। स्पष्टत कहा है— 'जो हमसे द्वेष करने वाले शत्रु हैं उन्हें हमसे पृथक करो।[5] एक स्थल पर कहा गया है कि सहस्रों ज्वालाओं वाला अग्नि राक्षसों को विनष्ट करता है।[6]

हिंसक के प्रति बड़े स्पष्ट शब्दों में घृणा और उससे रक्षण की कामना है। अग्नि को सम्बोधित करके कहा है— 'जो व्यक्ति बुरे विचार से हिंसा के लिये अस्त्र चमकाता है उससे और पाप से हमारी रक्षा करो।[7] इसी सूक्त की एक अन्य ऋचा में दुष्टों के विनाश की याचना है।[8] राक्षसों के प्रति अत्यधिक अवग हणा के भाव हैं उन्हें मारकर भगाने उनका पतन करने का उल्लेख किया गया है।[9] हिंसा का भाव रखने वाले ब्राह्मणों के वैरी मांसभक्षी कटुभाषी वक्र दृष्टि वाले राक्षसों के लोप के लिये प्रार्थना में कहा है— जैसे अग्नि में फेंके हुए

---

१ मा न सोमपरिबाधो मारातयो जुहुरन्त। ऋग्वेद १।४३।८
मा जुहुरन्त मा हिंसन्तु। द्रष्टव्य प्रस्तुत ऋचा पर सायण भाष्य।

२ रक्षस्विन सदमिद् यातुमावतो विश्वं समत्रिणं दह। वही १।३६।२०

३ हन्ता पापस्य रक्षस। वही १।१२९।११

४ य शश्वतो मह्येनो दधानानमन्यमानाञ्छर्वा जघान।
य शर्धते नानुददाति शृध्यां यो दस्योर्हन्ता स जनास इन्द्र। वही २।१२।१०

५ युयोध्यस्मद् द्वेषांसि। वही २।६।४

६ सहस्राक्षो विचर्षणिरग्नी रक्षांसि सेधति। वही १।७९।१२

७ यो नो अग्ने दुरेव आ मर्तो वधाय दाशति। तस्मान्न पाह्यंहस।
वही ६।१६।३१

८ वही ६।१६।२९

९ वही, ७।१०४।१

जब अदृश्य हो जाते हैं वैसे ही इन राक्षसों को भी कर दो।[1] दुष्ट कर्म करने वाले[2] और मिथ्या भाषी[3] राक्षसों के भी विनाश की अभिलाषा है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मन वचन और कर्म से चोट पहुचाने वाला हिंसक है और ऋग्वेद में हिंसक के प्रति घृणा का भाव है।

(आ) √रिष् धातु हिंसा अर्थ मे प्रयुक्त है और उसके साथ रक्षार्थक धातुओ का प्रयोग किया गया है। अत हिंसा से रक्षण की भावना प्रतीत होती है। देव जिस मनुष्य को हिंसक शत्रु से बचाते हैं वह हिंसा रहित होता हुआ मर्दैव वृद्धि को प्राप्त करता है।[4] एक ऋचा मे अग्नि से राक्षसो कजूस धूर्तो हिंसको और घातको से बचाने के लिये स्तुति की गई है।[5] अन्यत्र बहुश हिंसको से रक्षा की प्रार्थनायें की गई हैं।[6]

(५) अहिंसा का प्रतिपादन—ऋग्वेद मे अहिंसा का प्रतिपादन अनेक शब्दो द्वारा किया गया है। द्वेष-साहित्य अहिंसा की भावना को पुष्ट करता है। यही भाव १।१८७।३ मे है। अद्वेष भी द्वेष रहितता के लिये प्रयोग मे आने वाला शब्द है।[7] देवो को द्वेष रहित कहा गया है। मरुदेवो से कहा है-- द्वेष करने वाले तुम हमारे पास आओ।[8] इससे विदित होता है कि देवो के जिन सद्‌गुणो को अच्छा समझा जाता था उनमे द्वेष रहितता भी थी। एक ऋचा मे सम्पूर्ण द्वेष भावनाओ को दूर करने को कहा गया है।[9] अन्यत्र कहा है कि हमसे द्वेष करने वाले शत्रुओ को भगा दे।[11]

---

१ इन्द्रासोमा समघशसमभ्यघ तपुर्ययस्तु चरुरग्निवाँ इव ।
ब्रह्मद्विषे क्रव्याद घोरचक्षसे द्वेषो धत्तमनवाय किमीदिने । ऋग्वेद ७।१०४।२

२ वही ७।१०४।३

३ वही ७।१०४।८

४ य बाहुतेव पिप्रति पान्ति मर्त्य रिष । अरिष्ट सर्व एधते । वही १।४१।२

५ पाहि नो अग्ने रक्षस पाहि धूर्तेरर ण ।
पाहि रीषत उत वा जिघासतो बृहद्‌भानो यविष्ठय । वही १।३६।१५

६ वही १।१८८।२ २।३५।६ ३।३१।२० ।३ ।६ ५।५२।४ ६।२४।१०
५।६७।३ १०।३६।२ तथा १०।८७।१

७ मयोभुरद्विषेण्य । सायण ने अद्विषेण्य का अर्थ द्वेषरहित किया है। द्रष्टव्य सा० भा०।

८ वही १।८६।१० १।२४।४ १०।३५।९

९ वही ५।८७।८

१० विश्वा द्वेषांसि प्रमुमुग्ध्यस्मत्। वही ४।१।४

११ युयोध्यस्मद् द्वेषांसि। वही २।६।४

अपने लिये सु जल और अन्तरिक्ष के माधुर्य की कामना की है और किसी प्रकार से हिंसित न होने का भाव है।[1] ऋक० २।८।६ में भी यही भाव है।[2] अन्यत्र भी अहिंसा का भाव प्राप्त होता है।[3]

एक ऋचा मे कहा गया है— हम सूर्य और चन्द्रमा के समान कल्याणप्रद मार्ग पर ही चलें। हम बार बार दान देते हुए परस्पर हिंसा न करते हुए तथा ज्ञान से युक्त होकर सगठित होकर चलें।"[4]

देवगण द्रोह रहित अहिंसक व्यक्ति को चाहते है।[5] अन्यत्र भी द्रोहहीन चित्त का उल्लेख है।[6] अहिंसा के लिये 'अरिष्टा' शब्द का प्रयोग भी आया है। एक ऋचा में बहुत से वीर पुत्रो से युक्त होकर और हिंसित न होकर मित्र और वरुण के महान् सुख को प्राप्त करने का वर्णन है।[7] अन्य ऋचाओ में भी अहिंसा का भाव परिलक्षित होता है।[8] अहिंसा से रहित व्यक्ति वद्धि को प्राप्त होता है।[9] अ यत्र भी यही भाव है कि अहिंसक व्यक्ति समृद्धि और ऐश्वय का स्वामी बनता है।[1]

(६) सुख एव शान्ति की कामना—अहिंसा सुख और शान्ति की जन्मदात्री है। हिंसक का मन कभी शान्त नही रहता और उसका जीवन निरन्तर दुखो से पूण रहता ह। ऋग्वेद मे स्तोताओ के सुख और शान्ति के लिये किये गये पाठ उनकी अहिंसापूण वत्ति के ज्ञापक हैं।

सुखदात्री देवियो का आह्वान करके उन्हे आसन देने का वर्णन है।[11] उषा देवी की कल्याण किरणें सबके स्वीकार्य सुखकारक धन को दें—एक ऋचा में कहा

---

१ अरिष्यन्तो अन्वेन चरेम। ऋग्वेद ४।५७।३

२ अरिष्यन्त सचेमह्यभिष्याम पृतन्यत। वही २।८।६
अरिष्यन्त केनाप्य हिंस्यमाना वय। द्रष्ट य—प्रस्तुत ऋचा पर सायण भाष्य।

३ वही १०।८५।४४, ७।२०।८ ८।२५।१२

४ स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव
पुनददताघ्नता जानता स गमेमहि। वही ५।५१।१५

५ वही ८।६०।४

६ वही ८।९७।१२ ९।९।२

७ वहि मित्रस्य वरुणस्य शर्मोप स्याम पुरुवीरा अरिष्टा। वही २।२७।७
अरिष्टा का अथ सायण ने केनाप्यहिंसिता वस त किया है। द्रष्टव्य—प्रस्तुत ऋचा पर सायण भाष्य।

८ वही २।२७।१६ ७।४३।५ ५।४२।८

९ अरिष्ट सर्व एधते। वही १।४१।२

१० वही, ८।२७।१६, ७।४३।५ १०।६३।१३

११ वही, १।१३।९

गया है।[1] स्योनम्[2] शब्द भी सुख के लिये प्रयोग किया गया है।[2] सुख की कामना वाली अनेक ऋचायें हैं।[3]

शान्ति हेतु एक सम्पूर्ण सूक्त समर्पित किया गया है।[4] इस प्रकार यह विदित होता है कि ऋग्वेद में मे हिंसा वृत्ति की अवगहणा और अहिंसामय सुख-समृद्धि से पूर्ण जीवन की आकांक्षा है। स्पष्ट रूप से लिखा है कि— जो व्यक्ति स्वय हिंसावृत्ति को अपनाता है, वह अपने कार्यो स ही मारा जाता है।[5] अर्थात् जो व्यक्ति स्वय जैसे आचरण की इच्छा रखे उसे दूसरों के प्रति भी वैसा ही व्यवहार करना चाहिये इसी लिये ऋग्वद में मित्रता की भावना को बल मिला है। उत्तम कम करने वाले मित्रता को प्राप्त करते हैं।[6]

(ग) सामञ्जस्य

विभिन्न संस्कृतियों और प्रजातीय तत्वो से भारतीय समाज का निर्माण हुआ है। अत इस विशाल समाज मे विविधता और एकता एक साथ दिखाई पडती है। विभिन्नता व्यक्ति समूहो की प्रथाओ विश्वासो और रहन-सहन के तरीको भोजन और वस्त्रादि मे भिन्नता पाई जाती है। विविधता के उपरान्त भी भारतीय समाज मे मौलिक एकता की भावना सवत्र द्रष्टव्य है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। सामाजिक प्राणी होने के नाते उसकी अनक आवश्यकताय होती है जिनकी पूर्ति के लिये वह अनेक पद्धतियो को अपनाता है। वस्तुत आवश्यकताओ की पूर्ति के साधन के रूप मे समूह-व्यवहार एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। अत किसी भी युग का सास्कृतिक अध्ययन करने के लिये उसके सामूहिक व्यवहार और उसकी सस्कृति को जानना आवश्यक है। सामूहिक व्यवहार की भावना ही सामञ्जस्य कहलाती है। सम्पूण ऋग्वद मे सामञ्जस्य पदे पदे प्रतिष्ठित दिखाई देता है। समाज का प्रत्येक घटक (व्यक्ति) समानता के स्तर पर प्रतीत होता है। घृणा की भावना दृटिपथ को अवरुद्ध नही करती। अधिकाशत प्रार्थनाय सामूहिक रूप से देवताओ से की गई है और समूह के लिये ही देवों से दान की याचना मिलती है।

---

१ ऋग्वेद १।४८।१३

२ वही ५।४।११ १०।८५।४४

३ वही, २।२१।६ ११-४।१६ १।२०।१५ १।५३।११, ७।२२।६ १०।१२६।७ ७।११।२ आदि।

४ वही ७।३५।१ १५

५ योन कश्चिद्रिरिक्षति रक्षस्त्वेन मर्त्यं स्व ष एवै रिरिषीष्ट यजुन।
वही, ८।१८।१३

६ वही ३।५९।१, ३

१ सामाजिक स्तर मे वैभिन्न्य का अभाव—

(अ) ऋग्वेद मे सामाजिक स्तर अस्त-व्यस्त सा दिखाई नही देता क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है कि समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार कार्य करने में सक्षम था, जैसे एक ही परिवार मे पुत्र कारु पिता भिषक और माता चक्की पीसने वाली है।[1] इससे प्रतीत होता है कि किसी भी सदस्य के कार्य के प्रति घृणा का भाव नही था। सभी स्वतन्त्रतापूर्वक अपने अपने कार्य क्षेत्र का चयन कर सकते थे इसीलिए सामाजिक स्तर म विभिन्नता नही पाई जाती।

(आ) एक ऋचा मे मरुतदेव और अग्नि देव को लक्ष्य करके कहा गया है कि इनसे न कोई बड़ा है और न कोई छोटा है ऐसे ये देव भाई के समान रहते है।[2] इससे प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक समाज मे भाइयो मे समानता का व्यवहार था जिसकी भाँति अग्नि एव मरुद् देव भी छोटे बड़े के भेद से रहित बताये गये थे।

एक स्थल पर अग्निदेव को पति व पत्नी दोनो के मन मे समानता उत्पन्न करने वाला कहा गया है।[3] इससे यह अभिलक्षित होता है कि समाज मे परिवार की शान्ति को बनाये रखने के लिये आवश्यक तत्वस्वरूप बीज रूप सामञ्जस्य की भावना ऋग्वैदिक समय मे विद्यमान थी। पति व पत्नी मे एक दूसरे के लिये हीन भावना नही थी अपितु दोनो परस्पर समानता की भावना से युक्त थे।

अन्यत्र जो प्रार्थनायें प्राप्त होती है वे समूह के रूप मे हैं यथा खान पान की प्रथा म सामूहिकता के दर्शन होते हैं।

(२) **भोजन पान मे साम्य की भावना**—दान सूक्त मे मित्रो के बिना अकेले भोजन करने कर लेने वाले दृढ़ चित्तवृत्ति वाले कृपण की निन्दा की गई है। जो देवता को न देता हुआ मित्र से पृथक स्वय ही भोजन कर लेता है वह प्रत्यक्ष रूप से पाप का ही भक्षण करता है।

समाज मे वस्तु को सम्यक रूप से विभाजित करके ग्रहण करने का प्रचलन था। स्वार्थ की भावना नही थी सोम पान करने के लिये सभी एकत्रित होकर समान रूप म विभाजित करके आनन्द लाभ करते थे[5] अन्यत्र भी मानवो को

१ कारुरह ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना।
नानाधियो वसूयवो नु गाइव तस्थिमे द्रायेन्दो परिस्रव। ऋग्वेद ९।११२।३

२ अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते स भ्रातरो वावधु सौभगाय। वही, ५।६०।५

३ त्वमर्यमा भवसि यत् कनीना नाम स्वधावन्गुह्य बिभर्षि।
अञ्जन्ति मित्र सुधित न गोभिर्यद् दपती समनसा कृणोषि ॥ वही ५।३।२

४ मोघमन्न विन्दते अप्रचेता सत्य ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमण पुष्यति नो सखाय केवलाघो भवति केवलादी ॥ वही, १०।११७।६

५ सनेम तत्सुसनिता सनित्वभिर्वय जीवाजीवपुत्रा अनागस। वही १०।३६।९

सोम पान की सामूहिक प्रवृत्ति का बोध होता है।[१] इससे स्पष्ट है कि ऋग्वैदिक युग में मिल जुल कर कार्य-सम्पादन की पद्धति प्रचलित थी।

इसके अतिरिक्त देवताओ को सोम पान का आह्वान करने मे भी सामूहिकता के दर्शन होते हैं। इन्द्राग्नी को सोमपान के लिये युगल रूप में बुलाया गया है।[२] अन्यत्र इन्द्र वरुण और अग्नि की पत्नियों को भी सोम पान हेतु ही सामूहिक रूप से आमन्त्रित किया गया है।[३] उषादेवी को पान के लिये अन्तरिक्ष के समस्त देवो को लाने के लिये प्रार्थना की गई है[४]।

अष्टम मण्डल की दो ऋचाओ मे[५] अश्विनी देवो को क्रमश आदित्यो रुद्रो वसुओ, विष्णु अग्नि इन्द्र, वरुण उषा सूर्य और सत्व प्राणियो प्रजाओ स्वर्ग, पृथिवी पर्वत उषा एव सूर्य के सहित सोम पान के लिये आमन्त्रित किया गया है।

(३) **सद्मति के लिये सामूहिक स्तुतियाँ**—सविता देव से बुद्धियो को उत्तम मार्ग से प्रेरित करने का आग्रह है किन्तु यह आग्रह व्यष्टि हेतु न होकर समष्टि के लिये किया गया प्रतीत होता है। अत अधिकाशतया स्तुतिया जन समुदाय के हित के लिये की गई हैं किसी व्यक्ति विशेष के लिये नही। उपयुक्त ऋचा मे 'न धियं' यह बहुवचन का प्रयोग मिलता है।

एक अन्य ऋचा मे अग्निदेव से सुमति प्राप्त करने का उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार अन्य विषयो पर भी सामूहिक प्रार्थनाये प्राप्त होती है जिनका क्रमश आगे विधान किया जायेगा।

(४) **रक्षा हेतु सामूहिक प्रार्थनायें**—महातेजस्वी अग्नि से राक्षसो कजूसो धूर्तो घातको और हिंसको से रक्षा के लिये प्रार्थना की गई है। शक्तिशाली इन्द्र

---

१ ऋग्वेद ७।४७।१ २

२ वही १।२१।१ ३

३ इहेन्द्राणीमुप ह्वये वरुणानी स्वस्तये। अग्नायी सोमपीतये। वही १।२२।१२

४ विश्वान् देवा आवह सोमपीतयेऽन्तरिक्षादुषस्त्वम्। वही १।४८।१२

५ अग्निने द्रेरा वरुणेन विष्णुनादित्य रुद्रवसुभि सचाभुवा।
सजोषसा उषसा सूर्येण च सोम पिवतमश्विना॥ वही ८।३५।१
विश्वाभिर्धीर्भुवनेन वाजिना दिवा पृथिव्याद्रिभि सचाभुवा।
सजोषसा उषसा सूर्येण च सोम पिवतमश्विना॥ वही ८।३५।२

६ तत् सवितुर्वरेण्य भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो न प्रचोदयात्। वही ३।६२।१०
नोऽस्माक धिय कर्माणिधर्मादिविषयावा बुद्धी। द्रष्टव्य प्रस्तुत ऋचा पर सा० भा०।

७ स्यान्न सूनस्तनयो विजावाऽग्ने सा ते सुमतिभू त्वस्मे। वही ३।१।२३

८ पाहि नो अग्ने रक्षस पाहि धूर्तरराव्ण।
पाहि रीषत उत वा जिघांसतो बृहद्भानो यविष्ठ्य। वही, १।३६।१५

की देवों के सहित मिलकर रक्षण के लिये स्तुति की गई है।[1] अन्यत्र इन्द्राग्नी ध्रामा का युद्ध मे सुरक्षा हेतु स्मरण किया गया है।[2]

एक स्थल पर स्तोता ने बड़े सजग रूप से रक्षा की कामना की है। आल स्यहीन होकर सावधानीपूर्वक कल्याणस्वरूप और सुखकारी रक्षाओ के उपायों से अग्नि को रक्षा हेतु नमन प्रस्तुत किया गया है।[3] इसी प्रकार अन्य ऋचाओ मे भी रक्षा हेतु प्रार्थनायें मिलती है।[4]

(५) परिवार के कल्याण की भावना—सम्पूर्ण ऋग्वेद पारिवारिक साम ञ्जस्य की भावना से ओतप्रोत है। यहाँ विवाह का आधार ही मगल कामना की नीव पर आधृत है। वधू को पति के लिये मगलकारिणी और समस्त पारिवारिक सदस्यो के लिये कल्याण करने वाली हो ऐसा आशीर्वचन दिया गया है।[5] विवाह सूक्त मे जल वायु ब्रह्म और सरस्वती से पति पत्नी दोनो को एक करने का अनु ग्रह किया गया है।[6]

पत्नी प्रत्येक परिस्थिति मे पति का साथ देती है और उसके दुर्व्यसन से उत्पन्न ग्लानि को भी सहन करती हुई उसके प्रति पतिव्रता बनी रहती है। द्यूत कार सूक्त मे इसका स्पष्ट उदाहरण है। जुआरी स्वय कहता है कि—'उसकी पत्नी सद्वृत्तिशील है, वह सदव अपन पति के कुटुम्बियो की सेवा शुश्रूषा करती रही है और कभी भी असतुष्ट नही हुई।[7] इससे प्रतीत होता है कि पत्नी अपने घर को सुखमय बनाने के लिये पर्याप्त सहयोग देती थी। पिता बड़े अनुराग से पुत्र पालन करते थे और उसकी सुरक्षा का उत्तरदायित्व उन पर था। एक ऋचा मे कहा गया है कि— हे वास्तोष्पति! आप हमारा पालन करें जसे पिता पुत्र का पालन करता है।[8] माता पुत्र के प्रति वात्सल्यमयी थी यह भी उल्लखित है।[9] पिता पुत्रो के मधुर सबन्ध की व्यजक अन्य ऋचायें भी प्राप्त होती हैं।[10] इस

---

१ रक्षा नून् पाह्यसुर त्वमस्मान्। ऋग्वेद १।१७४।१

२ स्मा इन्द्राग्नी अवत भरेषु॥ वही १।१०९।८

३ अप्रयुच्छन्नप्रयुच्छद्भिरग्ने शिवेभिर्न पायुभि पाहि शग्मे। वही १।१४३।८

४ वही १।८९।५ १।१७४।५ आदि।

५ अदुमगली पतिलोकमाविश श नो भव द्विपदे श चतुष्पदे। वही १०।८५।४३

६ समञ्जन्तु विश्वे देवा समापो हृदयानि नौ।
स मातरिश्वा स धाता समु देष्ट्री दधातु नौ॥ वही १०।८५।४७

७ न मा मिमेथ न जिहीळ एषा शिवा सखिभ्य उत मह्यमासीत्।
अक्षस्याहमेकपरस्य हेतोरनुव्रतामप जायामरोधम्॥ वही, १०।३४।२

८ वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि गयस्फानो गोभिरश्वेभिरिन्दो।
अजरासस्ते सख्ये स्याम पितेव पुत्रान्प्रति नो जुषस्व॥ वही ७।५४।२

९ तस्मा अग्ने र नभाज ईमहे वय स्याम मातुन सूनव। वही ७।८१।४

१० वही, ७।५४।२ ७।९७।२

प्रकार यह विदित होता है कि पारिवारिक सम्बन्धों में माधुर्य और सदस्यों में परस्पर सहयोग की भावना ऋग्वैदिक समाज का मण्डन थी।

इसके अतिरिक्त सामूहिक रूप से अपने पारिवारिक सदस्यों के लिये कल्याण की कामना में प्राप्त स्तुतियाँ भी बहुलता से मिलती हैं। सतान गण[1] घर[2] और पारिवारिक कल्याण के लिये अनेक स्तुतियाँ प्राप्त होती है। एक ऋचा में परिवार के प्रत्येक सदस्य की जीवन रक्षा के लिये पृथक पृथक प्रार्थना की गई है। रुद्र को सम्बोधित करके कहा गया है कि— हमारे बड़ो का वध न कर हमारे छोटों का वध न कर हमारे बढ़े हुओं का पिता एवं माता का वध न कर। हम सबके प्रिय शरीरों का वध न कर।[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि परिवार के प्रत्येक सदस्य का इकाई के रूप में पृथक-पृथक महत्त्व है और सम्पूर्ण सामञ्जस्य की भावना बलवती है।

(६) **शत्रुओं के विनाश और अपनी जय की प्रार्थनायें**—इन्द्र देव से स्तुति की गई है कि—'उसकी सहायता से हम घेरने वाले शत्रुओं को जीतें और वह शत्रुओं के बल का नाश करें।' इन्द्र को सम्बोधित करके ही चतुर्थ मण्डल की एक ऋचा में उनकी सहायता से संग्राम में विजय की कामना की गई है।[4] अन्यत्र भी संग्राम में शत्रु को जीतने की प्रार्थना प्राप्त होती है।[5]

सोम और पूषन् देवों की स्तुति में कहा गया है कि तुम दोनों की सहायता से हम सब शत्रुओं को जीतें। एक ऋचा में महान् धन का विजयी होने की भी आकांक्षा की गई है।

अग्नि देव की सहायता से बल प्राप्ति और सेनाओं को जीतने के लिये

---

१ आण्डा मा नो मघवञ्छक्र निर्भेर्मा न पात्रा भेत् सहजानुषाणि।

ऋग्वेद १।१०४।८

२ वही ६।१०८।१३ ६।८६।४१

३ मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकं मा न उक्षन्तमुत मा न उक्षितम्।
मा नो वधीः पितरं मोत मातरं मा नः प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिषः।

वही १।११४।७

४ वयं जयेम त्वया युजा वृतमस्माकमंशमुदवा भरेभरे।
अस्मभ्यमिन्द्र वरिवः सुगं कृधि प्र शत्रूणां मघवन् वृष्ण्या रुज॥ वही, १।१०२।४

५ त्वया वयमर्य आजिं जयेम। वही ४।२।३

६ जयेम कारे पुरुहूत कारिणोऽभि तिष्ठेम दूढ्यः। वही ८।२१।१२
त्वयाजिं सौश्रवसं जयेम। वही ७।९८।४
वयं जयेम पृतनासु दूढ्यः। वही, ७।८२।१

७ युवाभ्यां विश्वाः पृतना जयेम। ऋग्० २।४०।५

८ जयेम त्वया धनंधनम्। वही ६।८५।८

क्षमता वृद्धि की प्रार्थना है।[1] एक अन्य स्थल पर वैश्वानर से आराधना की गई है कि हे अग्नि! तुम हमें धन, ऐश्वय जरावस्था से रहित, एव शत्रु को दबा देने वाला श्रेष्ठ बल-वीर्य धारण कराओ और हम सैकडो तथा सहस्रों की संख्या वाले ऐश्वर्य को जीत लें।[2] इसी प्रकार अग्नि देव से ही संग्रामोपस्थिति पर स्वयं को तेजस्वी बनाने और अपने शत्रुओ के विनाश की सक्षमता के लिये अभ्यर्थना की गई है।[3]

इस प्रकार अनेक देवो से अपने शत्रुओ पर विजय प्राप्त करने की प्रार्थनायें प्राप्त होती हैं जिनसे ऋग्वैदिक आर्यों की सामञ्जस्य भावना को बल मिलता है।

(७) **बुरे कार्यों से मुक्ति और सुख शान्ति की कामना**—व्यक्ति अपने सुकृत्यों पर विचार करता है तो सात्विक प्रवृत्ति वाले जीव अपने कुकृत्यो के प्रति लज्जा अनुभव करते हैं और प्रायश्चित स्वरूप उस असीम शक्ति से अपने पापो की क्षमा याचना करते है। ऋग्वेद मे भी पापो से तर जाने की कामना पाई गई। एक ऋचा मे अग्नि को सम्पूर्ण दुःखो को दूर करने और पापो से पार करने की प्रार्थना की गई है।[4] अन्यत्र भी कुटिल पाप से अपनी रक्षा (अस्मत् जुहुराणं एन युयोधि)[5] (नः अनागास्त्वं कृणोतु)[6] का अनुग्रह मिलता है।

यत्र तत्र सुख शान्ति और निर्भयता के लिये सामूहिक प्रार्थनाओ का संग्रह प्राप्त होता है। स्तोता स्पष्ट रूप से अपने तथा अपने बाल बच्चों के सुख के लिये प्रार्थना करता है।[7] शत्रुओ का हनन करके सुख समृद्धि के लिये कामना की गई है।[8] सोमदेव से की गई सुख की प्रार्थना प्राप्त होती है।[9] इन्द्र को माता पिता के रूप में स्वीकार किया गया है और तद्वत् उनसे सुख की याचना की गई है।[10]

सामूहिक रूप से शान्ति की आकांक्षा की गई है (शर्म यच्छ)[11] एक ऋचा मे

---

१ त्वामग्ने वसुपतिं वसूनामभि प्र मन्दे अध्वरेषु राजन्।
त्वया वाजं वाजयन्तो जयेमाभि ष्याम पृत्सुतीर्मर्त्यानाम्। ऋग्वेद ५।४।१

२ अस्माकमग्ने मघवत्सु धारयानामि क्षत्रमजरं सुवीर्यम्।
वयं जयेम शतिनं सहस्रिणं वैश्वानर वाजमग्ने तवोतिभिः। वही, ६।८।६

३ त्वयाध्यक्षेण पृतना जयेम। वही १०।१२८।१

४ स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः। वही १।९९।१

५ वही १।१८९।१

६ वही १।१६२।२२

७ स्मने तोकाय तनयाय मृळ। वही १।११४।६

८ वही १।११४।१०

९ वही ५।४६।४

१० त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ। अधा ते सुम्नमीमहे।
वही ८।९८।११

११ वही, १।११४।१०

कहा गया है कि— मित्र हमारे लिये शान्ति दें वरुण और अर्यमा हमे शान्ति दें बृहस्पति और इन्द्र हमे शान्ति दें विशेष रूप से प्रगति करने वाला विष्णु हमे शान्ति दे।"[1] एक सम्पूर्ण सूक्त शान्ति की कामना मे कहा गया है जिसमे विभिन्न देवों से अपने मंगल सुख कल्याण और शान्ति की प्राप्ति हेतु प्रार्थनायें मिलती है।[2]

एक स्वस्थ समाज की संरचना के लिए शत्रुओ से भय का न होना और निर्भय होकर सुव्यवस्थित रूप से जीवन यापन करना अत्यन्त आवश्यक होता है। यह भाव ऋग्वेद के समाज मे भी प्रतिलक्षित होता है। मार्गों को भयहीन करने की प्रार्थना उपलब्ध होती है।[3] अपनी अभय कामना से शत्रुओ के विनाश की अभ्यर्थना है।[4] इन्द्र देव शत्रुओ को मारकर मरुतों सहित स्तोताओ को सब ओर से भयरहित बनाने के लिये स्तुति की गयी है।[5]

इस प्रकार ऋग्वैदिक आर्यों मे सामञ्जस्य की भावना बलवती दिखाई देती है। स्थान स्थान पर अपने पापों को दूर करने के लिये क्षमा और सुख शान्ति तथा कल्याण के लिये समुचित याचनायें प्राप्त होती हैं। यथा—सविता देवता को सम्बोधित करके दुर्गुणो को दूर करने और कल्याणकारी को प्रदान करने के लिये कहा गया है।[6] ऋक० २।४१।१२ मे कहा गया है कि इन्द्र हमे सुखी कर पीछे से पाप हमे नष्ट न करे और आगे से कल्याण प्राप्त हो।[7]

(८) जाति भेद का अभाव —सम्पूर्ण ऋग्वेद के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि कही भी जाति को प्राधान्य नही मिला है। यद्यपि एक ऋचा मे यह जिज्ञासा प्रश्न रूप मे उभरी है कि विराट पुरुष कितने प्रकार मे उत्पन्न हुए। उनके हाथ पैर उरु और मुख आदि कौन कौन हुए।[8] उसके उत्तर मे कहा गया है कि उनका मुख ब्राह्मण भुजा क्षत्रिय जघायें वैश्य और चरण शूद्र हुए[9] तथापि एक

---

१ शं नो मित्र शं वरुण शं नो भवत्वर्यमा।
शं न इन्द्रो बृहस्पति शं नो विष्णुरुरुक्रम। ऋग्वेद १।९०।९

२ ७।३५।१ १४

३ उर्वी गव्यूतिमभय च नस्कृधि।। वही ९।७८।५

४ ऊतिर्भिर्वि द्विषो वि मृधो जहि वही ८।६१।१३

५ अथाभय कृणुहि विश्वतो न। वही ३।४७।२

६ विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद् भद्रं तन्न आ सुव। वही ५।८२।५

७ इन्द्रश्च मृळयाति नो न न पश्चादघ नशत् भद्र भवाति न पुर।
वही २।४१।१२

८ यत्पुरुष व्यदधु कतिधा व्यकल्पयन्।
मुख किमस्य कौ बाहू का उरु पादाउच्येते। वही १०।९०।११

९ ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य कृत।
ऊरु तदस्य यद्वैश्य पद्भ्यां शूद्रो अजायत। वही १०।९०।१२

ही परिवार के विविध व्यक्ति विभिन्न प्रकार के कार्यों को अपनी इच्छा और क्षमता के अनुसार करते थे।[1] इससे विदित होता है कि वर्ण व्यवस्था नहीं थी केवल गुणों और कर्मों के अनुसार कार्य क्षेत्र का विभाजन था। किसी भी सामाजिक व्यवस्था को सुरूपता देने का यह प्रथम सोपान है।

(ह) अन्यान्य सामूहिक प्रार्थनायें

इन सबके अतिरिक्त धन गौ, अश्वादि के लिये सामूहिक रूप से प्रार्थनायें उपलब्ध होती हैं जो इन्द्र[2] सोम[3] ब्राह्मणस्पति[4] प्रजापति[5] उषस[6] विश्वेदेवा[7] द्यावापृथिवी[8] अश्विनीकुमारो[9] मरुद्[10] रुद्र[11] अग्नि[12] देवियो[13] देव समूहों[14] आदि को समर्पित हैं।

(घ) दान

१ दान के लिये प्रयुक्त शब्द

(अ) दान (देना उपकार) ऋग्वेद[15] मे बहुधा और विशेषत उदार प्रतिपालको की दान स्तुतियो मे आता है। वस्तुत बिना किसी स्वार्थ के किसी भी निधन अथवा दरिद्र व्यक्ति को धनान्न आदि का समर्पण दान कहलता है। ऋग्वेद मे दान की प्रशसा और दानी के सम्मान का वणन किया गया है ब्राह्मणो की एक विशिष्टता उनका दक्षिणा प्राप्त करने का अधिकार है। शतपथब्राह्मण मे कहा गया है कि दान करना अन्य जातियो का धर्म है।[16]

(आ) दान के लिये एक और शब्द दक्षिणा का भी प्रयोग मिलता है।

---

१ ऋग्वेद ६।११२।३
२ वही १।८१।७ २।२१।६ १।६।७ १।५।३ १।८४।२०
३ वही ९।६२।१२ ९।४३।४ ३।६२।१५, ९।६१।३ ९।९।९
४ वही १०।६८।१२ ४।५०।६ २।२३।१५ २।२४।१५
५ वही १०।१२१।१०
६ वही ४।५५।९ ७।७५।२ १।४८।१५ १।३०।२२
७ वही १०।३६।१३ ५।४३।१७ १।१८६।११
८ वही ६।७०।६ ७।५३।३ १।५९।५
९ वही १।९२।१६ १।१८०।१० ८।३५।१२
१० वही १।१६८।१० ७।५७।६ १।१६७।११ १।१६०।१० ८।३५।१२
११ वही २।३३।१
१२ वही १०।७।७ ४।५५।८ २।६।५ ३।८४।६
१३ वही १०।१२८।५
१४ वही ७।६६।४ ७।८२।१० ७।९४।९, १।१०८।१३
१५ वही १०।११७ सम्पूर्ण सूक्त ५।२७।१२ १०।४८।१ ५।४२।८
१६ शत० ब्रा० ११।५।७।१

अधिकांशत दक्षिणा शब्द का अर्थ यज्ञ मे दी जाने वाली गौ विशेष' किया गया है। कोशानुसार दक्षिणा का अर्थ—दुधारु गाय या दूध देने योग्य गाय' किया गया है।[1] डॉ० सूर्यकान्त ने कहा है कि जहाँ दक्षिणा का कोई विशिष्ट अर्थ न दिया गया हो वहाँ गाय देने का विधान है।[2] वैदिक इण्डेक्स के लेखको ने भी दक्षिणा का अर्थ प्रचुर दुग्ध प्रदान करने वाली गाय जो यज्ञ के समय पुरोहितो को दिये गये उपहार के वाचक के रूप मे आया है किया है।[3]

ऋग्वेद मे प्राप्त प्रसग इस बात की पुष्टि करते हैं कि दक्षिणा यज्ञ मे ब्राह्मणो को तो दी ही जाती थी किन्तु यज्ञकर्ताओ के अतिरिक्त स्तोताओ को भी दक्षिणा दी जाती थी। एक स्थल पर स्पष्ट निर्देश है कि इन्द्र की ऐश्वर्यपूर्ण दक्षिणा निश्चित रूप से स्तोता के लिये श्रेष्ठ धन प्राप्त कराती है।[4] इससे विदित होता है कि दक्षिणा भी दान की कोटि में ही आती है और ब्राह्मणो के अतिरिक्त अन्यो को भी दक्षिणा दी जाती थी। एक और ऋचा[5] यह पुष्ट करती है कि समाज मे जन समुदाय के हित मे दी जाने वाली दक्षिणा भी दान की श्रेणी मे आती है।

इस प्रकार दक्षिणा को दान की कोटि मे ग्रहण किया जा सकता है। संस्कृत हिन्दी कोश मे दक्षिणा का भेंट उपहार दान शुल्क पारिश्रमिक अर्थ किया गया है।[6]

२ दान की प्रशंसा

ऋग्वैदिक ऋचाये पदे पदे दानशील व्यक्तियो की महिमा का गान करती हैं। दानी व्यक्ति जो अपने सामर्थ्यानुसार दान देता है उदार हृदय वाला है उसमे उत्तम भाग्यशाली ऐश्वर्य सदैव स्थित रहते हैं।[7] दानी के भोजन आदि की व्यवस्था ईश्वर करते है। एक ऋचा मे इन्द्र कहते है कि दानी को मैं भोजन देता हूँ।[8] दानी व्यक्ति को प्रभावशील अदानी व्यक्ति से श्रेष्ठ बताया गया है।[9]

१ मोनियर विलियम्स संस्कृत इगलिश डिक्शनरी प ५६५ कालम २।
२ डा० सूर्यकान्त वैदिक कोश द्रष्टव्य यथास्थान।
३ मेक्डानल एण्ड कीथ वैदिक इण्डक्स प० ३३६
४ नून सा ते प्रति वर जरित्रे दुहीयदिन्द्र दक्षिणा मघोनी।
शिक्षा स्तोतृभ्यो माति धग्भगो नो बृहद् वदेम विदथे सुवीरा।
ऋग्वेद २।११।२१
५ दक्षिणावान् प्रथमो हूत एति दक्षिणावान्ग्रामणीरग्रमेति।
तमेव मन्ये नृपतिं जनानां य प्रथमो दक्षिणामाविवाय। वही १।१०८।५
६ संस्कृत हिन्दी कोश पृ० ४४५
७ तवोतिभि सचमाना अरिष्टा बृहस्पते मघवान सुवीरा।
ये अश्वदा उत वा सन्ति गोदा ये वस्त्रदा सुभगास्तेषु राय ॥ ऋग्वेद ५।४२।८
८ दाशुषे विभजामि भोजनम्। वही १०।४८।१
९ पृणन्नापिरपृणन्तमभि ष्यात्। वही १०।११७।७

दाता को पुण्य मार्गों की प्राप्ति होती है ।[1] दान देने वाले को समाज में बड़ी सम्मानित दृष्टि से देखा जाता है । वह जहाँ कहीं भी जाता है तो उसका रथ अप्रतिहत गति से चलता रहता है किसी प्रकार की कोई विघ्न बाधा उसमे उत्पन्न नहीं होती और न ही कोई उसे रोक सकता है और हिंसित कर सकता है ।[2] प्रस्तुत ऋचा में सुदास का अर्थ सायण ने 'शोभनदानस्य यजमानस्य' किया है ।[3] अन्यत्र भी दानी व्यक्ति के सम्मान का उल्लेख मिलता है । दानी सर्वत्र सम्मान का पात्र बनता है और प्रत्येक कर्म मे आदरपूर्वक आमंत्रित किया जाता है उसका रथ आगे-आगे चलता है । जन समुदाय उसकी प्रशसा करता है ।[4] उसके धन धान्य मे निरन्तर वृद्धि होती रहती है इससे विदित होता है कि दान करने से धन घटता नहीं है अपितु निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होता है ।[5] दान-सूक्त मे भी एक ऋचा से यही पुष्ट होता है कि दान से धन मे कदापि न्यूनता नहीं आती अपितु दानशील पुरुष का धन बढ़ता ही जाता है ।[6]

३ दक्षिणा की प्रशसा

एक सम्पूर्ण सूक्त दक्षिणा को समर्पित है ।[7] ऋग्वेद मे एक स्थान पर दक्षिणा को दान से श्रेष्ठ बताया गया है । प्रथम मण्डल मे दान को दक्षिणा से उपमित किया गया है कहा गया है कि तुम्हारा दान यजमान की दक्षिणा के समान कल्याणकारी और वर्षा के सदृश स्थायी प्रभाव वाला है ।[8] इससे स्पष्ट होता है कि दक्षिणा उपमान होने के कारण उपमेय रूप दान से श्रेयस्करी है ।

दक्षिणा देने वाला व्यक्ति समाज मे सर्वाग्रणी होता है और किसी भी समारोह पर वह सादर आमंत्रित होता है ।[9] इससे अभिलक्षित होता है कि दक्षिणा देने वाले का समाज मे ऊंचा स्थान होता है ।

---

१ पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् द्राघीयांसमनु पश्येत पन्थाम् ।
ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रा अन्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः ॥ ऋग्वेद १०।११७।५।

२ नकि सुदासो रथं पर्यास न रीरमत् ।
इन्द्रो यस्याविता यस्य मरुतो गमत्स गोमति व्रजे । वही ७।३२।१० ।

३ द्रष्टव्य ऋक० ७।३२।१० पर सायण भाष्य ।

४ यो राजभ्य ऋतनिभ्यो ददाश यं वर्धयन्ति पुष्टयश्च नित्याः ।
स रेवान् याति प्रथमो रथेन वसुदावा विदथेषु प्रशस्तः ॥ वही २।२७।१२

५ वही ।

६ उतो रयि० पृणतो नोप दस्यति । वही, १०।११७।१

७ वही १०।१०७।

८ भद्रा वो राति पृणतो न दक्षिणा पृथुज्रयी असुर्येव जञ्जती । ऋक० १।१६८।७

९ दक्षिणावान्प्रथमो हूत एति दक्षिणावान्ग्रामणीरग्रमेति ।
तमेव मन्ये नृपतिं जनानां यः प्रथमो दक्षिणामाविवाय । वही १०।१०७।५

जो व्यक्ति दक्षिणा द्वारा पुरोहित को सर्वप्रथम सतुष्ट करते हैं वे ब्रह्मर्षि कहे जाने योग्य हैं।[1] दक्षिणा देने वाले स्वर्ग के उच्च स्थान को प्राप्त करते हैं, विभिन्न वस्तुओ का दान करने से विभिन्न पदो की प्राप्ति होती है।[2] इसी प्रकार दानशील व्यक्ति देवत्व को प्राप्त करते हैं वे असामयिक मृत्यु का शिकार नहीं बनते। वे दु ख दारिद्र य से दूर रहते है उनकी प्रदत्त दक्षिणा उन्हे दिव्य पदार्थों की प्राप्ति कराती है।[3]

४ दान-दक्षिणा मे दी जाने वाली वस्तुए

दक्षिणा के अर्थ को स्पष्ट करते हुए जसा कि मोनियर विलियम्स ने दुधारू गाय' किया है। सम्भवत यह अर्थ कात्यायन श्रौतसूत्र के आधार पर किया गया है। डॉ० सूर्यकान्त ने गो देय का विधान स्वीकार किया है। कात्यायन श्रौत-सूत्र और लाट्यायन श्रौतसूत्र[5] भी ऐसा स्वीकार करते हैं। वदिक इण्डेक्स के लेखकों ने भी दक्षिणा मे गाय का ही उल्लेख किया है। ऋग्वेद इसके अतिरिक्त अन्य वस्तुओ को भी दान दक्षिणा मे दी गई वस्तुओ के रूप मे प्रतिपादित करता है।

पचम मण्डल की एक ऋचा गो दान के साथ अश्व और वस्त्रो को भी दान मे दी जाने वाली वस्तुए घोषित करती है।[6] सायण ने स्पष्ट रूप से अश्वदा का अर्थ बहूनामश्वानां दातार ' तथा गोदा और वस्त्रदा का अर्थ क्रमश गोदान और वस्त्रो का देने वाले किया है। अन्यत्र भी दक्षिणा मे स्वर्ण गो अश्व तथा अन्न उसके अवयवो के रूप मे प्रदर्शित किये गये है तथा दक्षिणा को कवच के समान रक्षाकर्तृ माना गया है।[8] प्रकृत सूक्त की ही एक ऋचा म विभिन्न वस्तुओ क दान से कौन कौन से पदो की प्राप्ति होती है ? इसका उल्लेख है। यथा—अश्व दान करने वाले पुरुष सूर्य मे मिल जाते हैं। वस्त्र दान करने वाले सोम क

---

१ तमेव ऋषिं तमु ब्रह्मणमाहुयज्ञ य सामगामुक्थशासम्।
स शुक्रस्य त वो वेद तिस्रो य प्रथमो दक्षिणया रराध। ऋग्वेद १०।१०७।६

२ उच्चादिवि दक्षिणावन्तो अस्थुर्य अश्वदा सह ते सूर्येण।
हिरण्यदा अमतत्व भजन्ते वासोदा सोम प्रतिरन्त आयु ॥ वही १०।१०७।२

३ न भोजा मम्रुर्न न्यर्थमीयुर्न रिष्यन्ति न व्यथन्ते ह भोजा।
इद यद्विश्व भुवन स्वश्चतत्सव दक्षिणभ्यो ददाति। वही, १०।१०७।८

४ कात्यायन श्रौतसूत्र १५।२।१३

५ लाट्यायन श्रौतसूत्र ८।१।२

६ ये अश्वदा उत वा सन्ति गोदा ये वस्त्रदा सुभगास्तेषु राय। ऋग्वेद ५।४२।८

७ द्रष्टव्य ५।४२। पर सायण भाष्य—

८ भोजमश्वा सुष्ठुवाहो वहन्ति सुवद्रथो वर्तते दक्षिणाया।
भोज देवासोऽवता भरेषु भोज शत्रून्समनीकेषु जेता। वही, १०।१०७।११

पास गमन करते हैं और सुवर्ण देने वाले अमृतत्व को प्राप्त करते हैं।[1] एक स्थल पर मुद्रायें भी दान मे दिये जाने का उल्लेख है।[2] एक राजा ने ऋषि कक्षीवान् को सौ सुवर्ण मुद्राये अथवा आभरण विशेष सौ वेगवान् घोड और उत्कृष्ट वृषभ दान मे दिये।[3] ऋषि कक्षीवान् ने ही उत्तम घोड़ो से युक्त दस रथ भी प्राप्त किये।[4]

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि दान मे गौ के अतिरिक्त अश्व वस्त्र सुवर्ण मुद्रायें, आभरण विशेष और रथादि भी दिये जाते थे।

५ दान के पात्र

ऋग्वेद के अनुसार दान के विभिन्न पात्र इस प्रकार हैं—

(अ) **स्तोता**—ऋग्वदिक समाज मे कर्मकाण्डी ब्राह्मणो के अतिरिक्त स्तोताओ को भी दक्षिणा का अधिकार प्राप्त था। द्वितीय मण्डल के ग्यारहवें सूक्त की इक्कीसवी ऋचा मे स्पष्ट निदर्शन है कि इन्द्र की मघोनी दक्षिणा को स्तोताओ के लिये प्रदान किया जाये।

(आ) **ऋषिगण**—ऋग्वद—के नवें मण्डल मे ध्वस्र और पुरुषति नामक राजाओ ने अवत्सार ऋषि को एक एक हजार मुद्राय प्रदान की।[6] अग्रिम ऋचा मे मुद्राओ के अतिरिक्त तीस सहस्र वस्त्र भी उपयुक्त दोनो राजाओं ने ऋषि को दान म समर्पित किये।

अयत्र ऋषि कक्षीवान् को एक राजा से सकडो स्वर्णाभूषण सौ वेगवान् घोडे और सौ उत्कृष्ट वृषभ दान मे प्राप्त हुए।[8] प्रथम मण्डल मे ही कक्षीवान् को

---

१ उच्चा वि दक्षिणाव तो अस्थुय अश्वदा सह ते सूर्येण।
हिरण्यदा अमृतत्व भजन्ते वासोदा सोम प्रतिरन्त आयु। वही १०।१०७।२

२ स स्राणि ददमहे। वही ९।५८।३

३ शत राज्ञो नाधमानस्य निष्कान् छतमश्वान् प्रयतान्त्सद्य आदम्।
शतं कक्षीवाँ असुरस्य गोना दिवि श्रवोऽजरमा ततान। वही १।१२६।२
सायण क अनुसार निष्क का अर्थ है—"निष्कान आभरणविशेषान् ध्रुयताविशेष विशिष्टानि वा सुवर्णानि। देखिये प्रस्तुत ऋचा पर सायण भाष्य।

४ उप मा श्यावा स्वनयेन दत्ता वधूमन्तो दश रथासो अस्थु। वही, १।१२६।३

५ नून सा ते प्रति वर जरित्रे दुहीयादिन्द्र दक्षिणा मघोनी।
शिक्षा स्तोतृभ्यो माति धग्भगो नो बृहद् वदेम विदथे सुवीरा। वही २।११।२१

६ ध्वस्रयो पुरुषन्त्योरा सहस्राणि दद्महे। तरत्स मन्दी धावति। वही ९।५८।३

७ आ ययास्त्रिंशत तना सहस्राणि च दद्महे। तरत्स मन्दी धावति।
वही ९।५०।४

८ शत राज्ञो नाधमानस्य निष्कान्छतमश्वान् प्रयतान् त्सद्य आदम्।
शत कक्षीवां असुरस्य गोना दिवि श्रवोऽजरमा ततान। वही १।१२६।२

राजा द्वारा प्रदत्त उत्तम वर्ण वाले घोडों से युक्त दश रथ और साठ सहस्र गौओं की प्राप्ति का उल्लेख है।[1]

(द) दीन क्षुधार्त तथा पीडित—दान सूक्त मे कहा गया है कि जो धन और अन्न का स्वामी अन्न को चाहने वाले दरिद्रता से पीडित और घर आकर मांगने वाले को भी कुछ न देने मे अपना मन कडा कर लेता है उसे कोई सुखी नहीं बताता।[2] अन्यत्र भी वही दानी कहा गया है जो अर्थी अन्न की वाञ्छा वाले घर पर जाकर मागने वाले और अभाव पीडितो को दान देता है। ऐसे व्यक्ति के शत्रु भी मित्र हो जाते हैं।[3]

इस प्रकार इन ऋचाओ से यह स्पष्ट होता है कि भिखारियो दीनो और दलितो को तथा जो भी द्वार पर आकर याचना करता था ऋग्वैदिक समय मे सबको दान की प्रथा प्रचलन मे थी।

६ अदानी कृपण की भर्त्सना

ऋग्वैदिक समाज दान आदि सुप्रवृत्तियो का पोषक रहा है इसके विपरीत जो धनसम्पन्न व्यक्ति दूसरो की सहायता नही करते और कठोर एव अनुदार चित्त वाले होकर स्वत भोगानुरक्त रहते हैं उनकी अत्यधिक निन्दा करता है साथ ही उनके अशुभ की भी कामना करता है।

बड स्पष्ट शब्दो मे कहा गया है कि जिसने इस धन को दिया है उसकी निन्दा मत करो किन्तु कृपण व्यक्ति को तो उषा भी न जगाये[4] ऐसा निर्देश है। ऋक १।१२४।१ मे भी उषा को दाताओ को जगाने और कृपणो को न जगाने का सन्देश है।[5]

अनुदार मन वाले व्यक्ति के यहाँ भोजन नही करना चाहिये। जो मित्र और देवता को न देकर स्वयं ही भोजन करते है वे साक्षात् पापी कहे गये है।[7] अदानी

१ उप मा श्यावा स्वनयेन दत्ता वधूमन्तो दश रथासो अस्थु।
षष्टिं सहस्रमनु गव्यमागात् सनत् कक्षीवा अभिपित्वे आह्नाम्।
ऋग्वेद १।१२६।३

२ य आध्राय चकमानाय पित्वोऽन्नवान्त्सन्रफितायोपजग्मुषे।
स्थिर मन कृणुते सेवते पुरोतो चित्स मर्डितार न वि ते। वही १०।११७।२

३ स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय।
अरमस्म भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम्। वही १०।११७।३

४ मा निन्दत य इमां मह्य राति देवो ददौ मर्त्याय स्वधावान्। वही ४।५।२

५ अचित्र अन्त पणय ससन्त्वबुध्यमानास्तमसो विमध्ये। वही ४।५१।३

६ प्र बोधयोष पृणतो मघोन्यबुध्यमाना पणय ससन्तु। वही १।१२४।१०

७ मोघमन्न विन्दते अप्रचेता सत्य ब्रवीति वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखाय केवलाघो भवति केवलादी। वही १०।११७।६

धनवान् के प्रति याचना भी न करे क्योंकि वह व्यक्ति जो अन्न मांगने पर, होते हुए भी देने की इच्छा न रखता हो वह मित्र कहलाने योग्य नहीं है।[1] एक अन्य ऋचा इसी भाव को पुष्ट करती है जिसमें कृपण की साक्षात् निन्दा की गयी है कि जो क्षुधार्त को भी अन्न नहीं देता और अपने हृदय को कठोर ही बनाये रखता है स्वयं भोजन कर लेता है उसे कोई भी सुख देने में समर्थ नहीं होता।[2]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ऋग्वेद धनवान् कृपणों की भरसक अवगर्हणा करता है। कृपण व्यक्ति को समय पड़ने पर किसी का सम्बल प्राप्त नहीं होता है। दान न देने से क्षुधार्तों और पीड़ितो की दुर्भावनायें एवं दुराशीषें उनके अमंगल की कामना करती हैं और समाज मे भी उन्हें सम्मानित स्थान नही मिलता।

७ दान न देने से हानियाँ

दान न देने से होने वाली हानियों का उल्लेख ऋग्वेद मे इस प्रकार मिलता है—

(अ) कृपण व्यक्ति से कोई भी मित्रता का भाव नही रखता। चतुर्थ मण्डल के पच्चीसवें सूक्त की सातवी ऋचा मे वामदेव ऋषि ने कहा है कि— इन्द्र सोम का अभिषवण न करने वाले धनवान् होने पर भी कृपण मनुष्य के साथ मित्रता नहीं करता। वह इन्द्र इस कृपण के निरर्थक धन को नष्ट कर देता है और कंजूस को मार देता है।[3] इस प्रकार कजूस व्यक्ति की मैत्री कोई भी स्वीकार नहीं करता और न स्वयं उसकी ओर मित्रता का हाथ बढ़ाता है। इससे ज्ञात होता है कि अदानी का सामाजिक स्तर उसकी दुर्भावना के कारण शनैः शनैः नीचे गिरता चला जाता है और सभ्य सामाजिको के मध्य उसका समुचित आदर नहीं किया जाता।

(आ) मनुष्यो को दान से तृप्त करने वाले व्यक्ति दुःख और पाप को प्राप्त न हो किन्तु इनसे अतिरिक्त अर्थात् अदानी शोक को प्राप्त हो।[4] दान न देने वाले को तो प्रत्येक स्थल पर न्यूनताओ का स्वीकर्ता प्रदर्शित किया गया है। मानसिक सुख और शान्ति भी उसका परित्याग कर देती है उनके स्थान पर शोक अपना परिधान उसे पहना देता है।

---

१ न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वः।
अपास्मात्प्रेयान्न तदोको अस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत्। ऋग्वेद १०।११७।४

२ य आध्राय चकमानाय पित्वोऽन्नवान्त्सन्रफितायोपजग्मुषे।
स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतो चित्स मर्डितारं न विन्दते। वही, १०।११७।२

३ न रेवता पणिना सख्यमिन्द्रोऽसुन्वता सुतपाः सं गृणीते।
आस्य वेदः खिदति हन्ति नग्नं वि सुष्वये पक्तये केवलो भूत्।

४ मा पृणन्तो दुरितमेन आरन् मा जारिषुः सूरयः सुव्रतासः।
अन्यस्तेषां परिधिरस्तु कश्चिदपृणन्तमभि सं यन्तु शोकाः। वही, १।१२५।७

(इ) दानशील का कल्याण प्रत्येक सामर्थ्यशील यक्ति करता है किन्तु अदानी का कल्याण करने मे कोई भी समर्थ नही होता। समय पर कोई उसकी सहायता नहीं करता।[१]

(ई) प्रस्तुत ऋचा मे ही यह कहा गया है कि दानशील व्यक्ति के धन मे कदापि न्यूनता नहीं आती।[२] इन्द्रदेव भी केवल दानियो के लिये भोजनादि की व्यवस्था करते हैं।[३] इससे ज्ञात होता है कि दान न देने वाले व्यक्ति अन्नादि को देने वाले देवो की कृपा से भी वंचित रह जाते हैं।

(उ) अदानशील व्यक्तियो के प्रति हनन की भावना भी ऋग्वैदिक समय मे बलवती रही। एक स्थल पर सरस्वती अदानशील पणि का शोधन करती हुई प्रशंसित की गई है। सोमदेव से यह प्रार्थना की गई है कि 'आपकी मित्रता चाहने वाले इन पणियो को मारो।[५] एक अन्य ऋचा मे अग्नि देव द्वारा कृपणो के पतन करने का उल्लेख प्राप्त होता है।[६] प्रकृत सभी सन्दर्भों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अदानी की मानहानि के साथ साथ प्राणहानि भी हो सकती है जो उसके लिये अतीवघातक है।

(ऊ) अदानी वणिक का बल भी क्षयको प्राप्त करता ही चला जाता है। अग्नि देव उसके बल को घटाते हैं। इन्द्र कृपण वणिको से धन लेकर यज्ञ को करने वाले यजमानो को प्रदान करते है।[८] इस प्रकार अदानी कृपण वणिको का धन देवता हरण कर लेते थे। एक अन्य स्थल पर भी पणिक धन हरण का उल्लेख मिलता है।[९]

८ दानशीलता की प्रेरणा के लिये प्रार्थनाय

जो अदानी है उनसे सम्बन्धित घृणा और अवहेलना का भाव ऊपर वर्णित

---

१ ऋक० १०।११७।१

२ वही।

३ दाशुषे वि भजानि भोजनम्। वही १०।४८।१

४ इयमददाद्रभसमृणच्युत दिवोदास वध्र्यश्वाय दाशुषे।
या शश्वन्तमाचखादावस पणि ता ते दात्राणि तविषा सरस्वति ॥

वही ६।६१।१

सायण के अनुसार—पणि का अर्थ है— पणि पणनशील वणिक अदातृजन। द्रष्टव्य प्रस्तुत ऋचा पर सायण भाष्य।

५ जही न्यत्रिण पणि वृको हि ष। वही ६।५१।१४

६ न्यक्रतून् ग्रथिनो मृध्रवाच पणीरश्रद्धा अवृधा अयज्ञान्। वही ७।६।३

७ स सत्पति शवसा हन्ति वृत्रमग्ने विप्रो वि पणर्भति वाजम्। वही ६।१३।३

८ स भो पणरति भोजन मुषे वि दाशुषे भजति सूनर वसु। वही, ५।३४।७

९ त्व सोम पणिभ्य आ वसु गव्यानि धारय। तत तन्तुमचिक्रद। वही ९।२२।७

किया जा चुका है। ऋग्वेद में न केवल इनकी, इनके अशुभ की कामना ही वर्णित है अपितु उनके मन को संवारने का आग्रह भी मिलता है। पूषा देवता से प्रार्थना की गई है कि वह लोभी को दानशील बनाकर उसकी हृदयगत कठोरता का परिमार्जन करे।[1] इस सम्पूर्ण सूक्त मे पणियों के हृदय को रूपान्तरित करके उनसे उदार भावनाओ के प्रजनन की कामना अभिव्यक्त होती है।

ऋग्वेद में सत्कार्यों से धनार्जन करके सद्वृत्तियों मे लगाने की भावना अभिलक्षित होती है। यथा—यज्ञ मे बृहस्पति देव की विधिवत् अर्चना करके उनसे संतान और बलयुक्त ऐश्वय की प्राप्ति का उल्लेख प्राप्त होता है।[3] इसी प्रकार अनेक देवो से प्रार्थना की गई है कि वे यथेष्ट रूप से धन ऐश्वर्य प्रदान करें, जिससे वह धन दान आदि सुकृत्यो मे व्यय किया जा सके।[4]

२ दुराचरण

(क) चोरी—ऋग्वेद मे चोर और डकैतो का अस्तित्व तत्कालीन कुप्रवृत्तियो की ओर इगित करता है। ऋग्वेद इस ओर से विमुख नही है। यत्र-तत्र उनके दण्ड विधान की परम्परा भी अभिलक्षित होती है। चोर के लिये ऋग्वेद मे अनेक शब्द प्रयोग मे आये हैं। यास्क ने अपने निघण्टु मे चोर के अनेक नाम दिये हैं।[5] किन्तु उनमे से सभी ऋग्वेद मे नही है। ऋग्वेद मे चोर तथा डाकू के लिये प्रयुक्त शब्दो मे से कुछ इस प्रकार है—

१ चोरों के लिये प्रयुक्त शब्द

(अ) तायु—चोरो की यह टोली रात्रि म चोरी करने निकलती थी और सूर्योदय से पूर्व ही भाग जाती थी।[6] ये पशुओं[7] और वस्त्रों[8] की चोरी करते थे। एक अन्य ऋचा[9] से भी विदित होता है कि ये पशु चोर होते थे। वन की गहन

---

१ आदित्स त विदाघृणे पूषन्दानाय चोदय।
पणश्चिद्वि म्रदा मन। ऋग्वेद ६।५३।३

२ वही ६।५३

३ एवा पित्रे विश्वदेवाय वृष्णे यज्ञैर्विधेम नमसा हविर्भि।
बृहस्पते सुप्रजा वीरवन्तो वय स्याम पतयो रयीणाम्। वही ४।५०।६

४ वही १।८१।६ १।१।६ १।६१।६ १।११२।२० १।४७।१, ३।६२।४, ६।६५।३ ७।८१।३ ८।७१।६ १।२३।३

५ निघण्टु ३।२४

६ अपत्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभि। सूराय विश्वचक्षसे। ऋग्वेद १।५०।२

७ अव राजन् पशुतृपं न तायु सृजा वत्स न दाम्नो वसिष्ठम्। वही ७।८६।५

८ उत स्मैन वस्त्रमथि न तायु मनु क्रोशन्ति क्षितयो भरेषु। वही ४।३८।५

९ पश्वा न तायु गुहा चतन्त नमो युजानं नमो वहन्तम्। वही, १।६५।१

गुफाओं मे निवास क ते थे[1] और वहीं अपने धन की रक्षा करते थे।[2] सामान्य जन से छिपकर रखते थे। उनके दृष्टिकोण मे अदृश्य होकर रहते थे। लोग जब इन चोरों को देख लेते थे तो चिल्लाते थे।[3]

(आ) तस्कर— चोर का एक अन्य भेद 'तस्कर' कहलाता था। तस्कर रात्रि क गहन अन्धकार का लाभ उठाकर अपने पाप कर्मों को किया करते थे।[4] तस्कर डकैती करते थे जैसा कि ऋग्वेद मे वर्णित है।[5] राह चलते पथिको को पकडकर उन्हें रस्सी से बाधकर धन लूटते थे। ये ऐसे व्यक्ति थे जो भयावह जगलों मे छिपे रहत थे और अपना जीवन सकटो मे डाले रखते थे (तनू त्यजा वनगू)। एक स्थान पर वर्णित है कि तस्कर को देखकर कुत्त भौकत थे[6] अत इससे सकेत प्राप्त होता है कि ये घरो मे भी चोरी करते थे। सायण के अनुसार छिपकर धन हरण करने वाल स्तन नामक चोर होत हैं और खुलकर धन लूटने वाल तस्कर' कहलात हैं। तस्कर सबके धन को जानने वाले थे।[8] इन्द्र देव से प्रार्थना की गई है कि गायें नष्ट न हो और उन्हे चोर न चुरायें[9] इससे स्पष्ट होता है कि तस्कर गायें भी चुरा ले जाया करत थे।

(इ) स्तेन—यह शब्द तस्कर का समानार्थी है। स्तन समुदाय भी रात्रि मे ही चोरी करने हेतु घूमता था। इनको देखकर भी तस्तरो की भाँति कुत्त भौंकत थे।[10] माग तस्करों की अपेक्षा स्तन घरेलू चोरो के लिये प्रयुक्त हुआ है क्योकि चोरो के रूप मे इनका उल्लेख है। गौओ के लिये कामना की गई है कि चोर इनका स्वामित्व प्राप्त न करें[11] दशम मण्डल की एक ऋचा से विदित होता है कि पशुधन चुराते समय यदि चोर पकडा जाए तो वह गौओ के गोष्ठ को लाघ जाता था।[12] स्तेन से मनुष्य भयातुर रहता था। अत वरुण देव से उनसे तथा दुष्ट

---

१ ऋग्वेद १।६५।१

२ पद न तायुर्गुहा दधानो महो राये चितयन्नत्रिमस्य। वही ५।१५।५

३ वही ४।३८।५

४ एत उत्ये प्रत्यदृश्रन् प्रदोष तस्करा इव। वही १।१९१।५

५ तनूत्यजेव तस्करा वनगू रशनाभिर्दशभिरभ्यधीताम्। वही १०।४।६

६ स्तन राय सारमेय तस्कर वा पुन सर। ऋक० ७।५५।३

७ प्रच्छन्न धनापहारी स्तेन प्रकाश धनापहारी तस्कर। द्रष्टव्य ७।५५।३ पर सायण भाष्य।

८ पथ एक पीपाय तस्करो यथा एष वेद निधीनाम्। ऋक० ८।२९।६

९ न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरा दधर्षति। वही ६।२८।३

१० वही, ७।५५।३

११ मा व स्तेन ईशत माघशस परि वो हेती रुद्रस्य वृज्या। वही ६।२८।७

१२ अतिविश्वा परिष्ठा स्तेन इव व्रजमक्रमु। वही १०।९७।१०

व्यक्तियों से रक्षा करने की प्रार्थना की गयी है ।[1] इसीलिये यत्र-तत्र देवताओं से इनके भय से निवारण हेतु स्तुतियाँ ऋग्वेद में मिलती हैं ।

ऋग्वेद मे चोरो के उपयुक्त तीन भेद अति प्रसिद्ध हैं किन्तु इनके अतिरिक्त कुछ अन्य नाम भी प्रयोग मे आये हैं । जैसे—तस्करा[2] रिपु[3] तायु,[4] वनर्गु[5] दुरश्चित्[6] मुषवान्[7] अघशंस[8] और वृक[9] ।

इनमे से अधिकाश शब्द दुष्ट एव हानिप्रद व्यक्तियो अथवा चोरो के विशेषण के रूप में आये है । जसे रिपु[10] और वृक[11] अनेक बार स्तेन के साथ प्रयुक्त हुए हैं । अघशस चोरवाचक रिपु व स्तेन के साथ भी उल्लिखित है ।[12] पूषन् देव से चोरो को नष्ट करने की प्रार्थना है ।[13]

२ देवताओ से चोरों के विनाश व उनसे रक्षा हेतु प्रार्थनायें

ऋग्वेद म घर और मार्ग मे व्यक्ति की सुरक्षा के लिये अनेक देवो से प्रार्थनायें की गई है इन्द्र देव की मार्ग को निर्विघ्न करने के लिये स्तुति की गई है ।[14] बृहस्पति देवता मे प्रार्थना की गई है कि वे हमे चोरो के भय से बचायें (मा न स्तेभ्यो)[15] पुन घर और जगल सवत्र शत्रुओ आदि से रक्षा करने का आग्रह किया गया है ।[16] इन्द्रदेव से चोरो को भगाकर मगल करने की कामना की

१ स्तनो वा यो दिप्सति नो वृको वा त्व तस्माद् वरुण पाह्यस्मान् ।
ऋग्वेद २।२८।१०

२ वही १।६६।१

३ वही २।२३।१६ ५।३।११ ८।६०।८ २।३४।६ ७।१०४।१० १०।१८५।२, ५।७६।६ ६।५१।१३

४ वही १।५०।२ ४ ४।३८।५ ५।१५।५ ५।५२।१२, ६।१२।५ ७।८६।५

५ वही १०।४।६

६ वही १।४२।३ ६।६८।११

७ वही ४।४२।३

८ वही १।४२।४ २।४२।३ ६।२८।७ ८।६०।८, १०।१८५।२

९ वही १।४२।२ २।२८।१० ६।५२।१४

१० वही २।२३।१६ ५।३।११ ६।५१।१३

११ वही २।२८।१०

१२ वही २।४२।३ ६।२८।७

१३ वही, ६।५३।४ १।४२।३

१४ वही १।११२।६

१५ वही, २।२३।१६

१६ वही, ६।२४।१०

गई है ।[1] सप्तम मण्डल मे कहा गया है—हे अग्ने ! जो चोर अथवा दुष्ट हमारे अन्न को नष्ट करें अथवा गौ अश्व और सन्तान आदि को नष्ट कर, वह हिंसित हो और सन्तान सहित निर्मूल हो जाएं ।[2]

३ दण्डविधान

चोरी जसा अपराध करने वाले व्यक्ति को विधिवत् दण्डित किया जाता था । पचम मण्डल की एक ऋचा[3] से स्पष्ट विदित होता है कि राजा चोरो को संतप्त करता था अर्थात् अपराध के अनुसार पर्याप्त दण्ड-व्यवस्था का विधान था । चोरो की खोज के लिय श्वानो का अस्तित्व भी प्रकाश मे आया है । स्पष्ट अंकित है कि चोरों को देखकर कुत्त भौंकते थे ।[4] चोर को देखकर व्यक्ति चिल्ला कर उसका पीछा करते थे[5] सम्भवत पकडे जाने पर उसको दण्ड दिया जाता होगा । वदिक इण्डेक्स के लेखको के अनुसार चोरों को खम्भो से बाधने की प्रथा का स्पष्ट सकेत है[6] किन्तु यह धिक स्पष्ट प्रतीत नही होता ।

(ख) व्यभिचार

व्यभिचार को आय जाति मे विवाहिता स्त्री द्वारा पति के विरुद्ध किया गया गम्भीर अपराध माना जाता था । ऋग्वद मे प्राप्त साक्ष्यो के आधार पर स्पष्ट होता है कि यद्यपि व्यभिचार अनतिक आचरण है तथापि तत्कालीन समाज म यह विद्यमान था । उस समय भी अनाचार होता था । यद्यपि इस प्रकार के स्थलो की पुराकथा शास्त्रीय व्याख्याओ म कोई औचित्य नही है तदपि सूक्तो के आधार पर भी अनाचार सम्बधो की सामान्यता क विषय म कोई निष्कष निका लना अति कठिन ह ।

व्यभिचार की प्रवत्ति उस समय विद्यमान थी इसकी पुष्टि के लिये विभि न दृष्टिकोणो से इस विषय पर दृष्टिपात करना आवश्यक है ।

(१) अवध सन्तान

आठव मण्डल के एक सूक्त मे ऋषि स्वय कुमारी क या के पुत्र थे जिनका नाम था वशोश्वय । इसी सूक्त की एक ऋचा मे पृथुश्रवा को कन्या का पुत्र

१ ऋग्वेद ६।११।१३
२ वही ७।१०४।१०
३ नेत् त्वा स्तेन यथा रिपु तपाति सूरो आचषा सुजात अश्वसूनृत ।
वही ५।७६।६
४ स्तेन राय सारमेय तस्कर वा पुन सर । वही ७।५५।३
५ उत स्मैनं वस्त्रमथि न तायुमनु क्रोशन्ति क्षितयो भरेषु । वही, ४।३८।५
६ वही ७।८६।५
७ वही ८।४६

बताया गया है।[1] चतुर्थ मण्डल मे परावृक्त को अग्रू का पुत्र कहा गया है।[2] ऋग्वेद मे ऐसी कन्याओ को जो विवाह योग्य अवस्था होने पर भी पितृगृह मे ही वास करती थीं अग्रू कहा जाता था। डॉ० शिवराज शास्त्री ने इरावती कार्वे का मत उद्धृत करते हुए ऐसा लिखा है।[3]

एक अन्य स्थल पर स्पष्टतया अग्रू के एक ऐसे पुत्र का उल्लेख हुआ है, जिसे चींटियों ने खा लिया था। इससे विन्ति होता है कि अविवाहित कन्याओ के भी पुत्र होते थे। स्पष्टतया यह तत्कालीन व्यभिचार का ही परिणाम था। व्यभिचारिणी स्त्री अनतिक सम्बध के कारण उत्पन्न सन्तान को लोक भय के कारण दूर छोड देती थी।[4] 'रहसूरिव' को स्पष्ट करत हुए सायण ने लिखा है—जो स्त्री अन्य के द्वारा स्थापित गभ के कारण अज्ञात प्रदेश में संतति को जन्म देती है वह व्यभिचारिणी स्त्री है। कतिपय विद्वान् इसी ऋचा के आधार पर ऋग्वदिक काल मे कन्या वध का प्रचलन स्वीकार करत हैं।[5] किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करने के उपरान्त नि सदेह यह अवध सन्तान की पोषक ऋचा है न कि कन्या वध की।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि ऋग्वेद मे अवध प्रेम-सम्बध के परिणामस्वरूप उत्पन्न संतान के परित्याग के सदभ मिलते हैं। वाजसनेयि सहिता[6] मे भी कुमारी पुत्र की चर्चा की गई है।

(२) व्यभिचार एव अनाचरण के प्राप्त प्रसग

भ्रातृविहीन कन्या विवाह न हो सकने के कारण कुमागगामी हो जाती थी। दुराचारिणी स्त्रियाँ व दुराचारी पुरुष दोनो ही घृणा पूण दृष्टि से देखे गये है। इससे विदित होता है कि यह पापाचरण यद्यपि सामाजिक कुरीति के रूप मे था तथापि यह कोई आदृत कृत्य नही था। समाज इसे मान्यता प्रदान नही करता था। ऐसे लोगो के प्रति ऋग्वेद मे घृणा और अवहेलना का भाव प्राप्त होता है।[8]

१ दानास पृथुश्रवस कानीतस्य सुराधस। ऋग्वेद ८।४६।२४
२ उत त्य पुत्रमग्रुव परावृक्त शतक्रतु। वही ४।३०।१६
३ उद्धृत—ऋ० वा० स० पृ० २६६
४ धृतव्रता आदित्या इषिरा आरे मत् कत रहसूरिवाग। ऋग्वेद २।२९।१
५ वस्टरमार्क ओरिजिन एण्ड डेवलपमेंट आफ मारल आइडियाज। पृ० ३९३ ४१३
६ वा० स० ३०।६
७ अभ्रातरो न योषणो व्यन्त पतिरिपो न जनयो दुरेवा।
पापास सन्तो अनृता असत्या इद पदमजनता गभीरम्। ऋग्वेद ४।५।५
८ यस्त्वा भ्राता पतिर्भू त्वा जारो भूत्वा निपद्यत।
प्रजा यस्त जिघासति तमितो नाशयामसि। वही १०।१६२।५

एक से अधिक पुरुष एक स्त्री को प्राप्त करते थे जिसका उल्लेख रक्षोहण सूक्त से प्राप्त होता है। यह व्यभिचार का सकेत है। युग पुरुष के लिये युवतियाँ नमित होती थी और कामुक व्यक्ति उन कामनापूर्ण स्त्रियो को भली भाँति प्राप्त करता था।[1] प्रथम मण्डल[2] मे कुमार्गगामी पुरुष (वृजिनवर्तनि नर) का वर्णन मिलता है। अक्ष सूक्त म लिखा है कि जब जुआरी अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति जुए मे हार जाते हैं तब प्रतिपक्षी उसकी पत्नी पर अपना अधिकार कर लेते हैं और उसे प्रताडित करते हैं।[3] अन्य सूक्त में ही जुआरी पासे के पास जाने को जारिणी से उपमित करता है। कहता है — जिस प्रकार दुराचारिणी स्त्री सदव अपने प्रेमी के पास जाती है उसी प्रकार मैं भी लाल-पीले रग वाले पासो की आवाज को सुनकर आकर्षित हो अवश होकर इनके पास चला आता हू।[4] ऋग्वेद मे केवल एक स्थल पर 'जारिणी' शब्द का प्रयोग मिलता है।[5]

(३) जार शब्द का प्रयोग

ऋग्वेद मे जार शब्द का प्रयोग बहुश हुआ है और यह युवती विषयक शब्दो के साथ प्रयोग मे आया है[6] जिसका अर्थ है प्रेमी। ऋग्वेद म यह शब्द पति के अर्थ मे नही है क्योकि अविवाहिता कन्याओ के साथ इसका प्रयोग प्राप्त होता है विवाहिता स्त्रियो के साथ नही। डा० शिवराज शास्त्री न इस शब्द की उचित व्याख्या की है।[7] उत्तर वदिक काल मे जार को बुरे अर्थों म ग्रहण किया गया है जसे उपपति आदि कि तु ऋग्वेद मे ऐसा प्रतीत नही होता क्योकि देवताओ के लिये भी जसे आदित्य[8] अग्नि और सोम[9] के लिये जार शब्द का प्रयोग आया है। इससे प्रतीत होता है कि जार शब्द से यौन सम्बध का भाव युक्त न था कि तु प्राप्त सदर्भों के साक्ष्य के आधार पर कन्या और जार मे अवैध सम्बधो की सम्भावना को कल्पना से बिलकुल ही परे की बात मानना भी उचित नही है।

---

१ नवेद्यन युवतयो नमन्त यदीमुशन्नुशतीरेत्यच्छ।
स जानते मनसा स चिकित्रेऽध्वर्यवो धिषणापश्च देवी। ऋग्वेद १०।३०।६
२ वही १।३१।६
३ अन्ये जाया परिमृशन्त्यस्य यस्यागृधद्वेदने वाज्यक्ष। वही १०।३४।४
४ यदादीध्ये न दविषाण्येभि परायद्भ्योऽव हीये सखिभ्य।
न्युप्ताश्च बभ्रवो वाचमक्रत एमीदेषा निष्कृत जारिणीव। वही १०।३४।५
५ वही १०।३४।५
६ वही १।६६।८ ५२।४ ६।३२।५ आदि।
७ वही, ऋक० पा० स० पृ० ३३६
८ वही, ७।७६।३
९ वही १।६६।१ १०।३।३ ५।७।६, १०७, ५।
१० वही ६।६६।२३ १०।११४

ऋग्वेद मे कुमारी-पुत्र' का उल्लेख भी मिलता है जैसा कि 'अवैध सन्तान' में बताया गया है। अन्यत्र भी अनेक बार इस शब्द का प्रयोग हुआ है।[1]

(४) पिता-पुत्री में यौन-सम्बन्ध

हिन्दू समाज मे निकट सम्बन्धियो का जैसे भाई, बहिन, पिता-पुत्री एव अन्यो का विवाह पाप समझा जाता है और इसे सम्मान की दृष्टि से नही देखा जाता था। बहुत से गवेषको ने विभिन्न ऋचाओ के आधार पर ऋग्वेद मे पिता और पुत्री मे यौन-सम्बन्धो की कल्पना की है। जैसे—तृतीय[2] और दशम[3] आदि मण्डलों मे। अन्यत्र[4] भी कुछ ऐसे प्रसग है जो इस सन्दर्भ मे उद्धृत किये जाते है। इन सभी उद्धरणो का सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि ये समस्त उदाहरण देवताओ से सम्बन्धित हैं। देवता आख्यानो के आधार पर इस अनैतिक सम्बन्ध की कल्पना तत्कालीन समाज के प्रति अन्याय है। हमे कोई भी ऐसा उदाहरण प्राप्त नही होता जो लोक सम्बन्धी हो और उसमे पिता दुहिता अनाचार से युक्त हो। कतिपय ऋचाओं[5] के अर्थ इतने अस्पष्ट हैं कि उनमे व्यभिचार की श्रेणी मे रख सकना उचित नही है।

(५) भाई बहन मे यौन सम्बन्ध

(अ) अनेक ऐसे प्रसग द्रष्टव्य हैं जो भाई बहिन के अवैध सम्बन्ध को द्योतित करते हैं। जैसे अग्नि को अपनी बहिन (औषधियो) मे गर्भ स्थापित करने का वर्णन है।[6] अन्यत्र अग्नि को ही अपनी बहन (ऊषस) के पीछे पीछे गमन किये जाने का भी वर्णन है।[7] एक स्थल पर स्पष्टतया देव पूषा को अपनी बहन का जार और माता का प्रेमी कहा गया है। प्रस्तुत सभी उद्धरण देवो से सम्बन्धित है और प्राकृतिक घटनाओ पर आधृत है। इसलिये इनके आधार पर किसी भी सामाजिक मान्यता का औचित्य, अनौचित्य पर विचार करना और निर्णय लेना न्यायसगत नही है।

(आ) ऋग्वेद मे यम यमी सवाद सूक्त[8] को तत्कालीन व्यभिचार की पुष्टि मे उद्धृत किया जाता है जिसमे यमी अपने भाई यम से यौन सम्बन्ध का आग्रह

---

१ ऋग्वेद ७।६।१ ६।३२।५ ६।१०।१४ १।११७।१८ १।१२४।३, १।१५२।४ ६।५६।३ १०।३४।५

२ वही ३।३१।१

३ वही १०।६१।५७

४ वही १।७१।५, १।१६४।३१, १०।६१।६ ६ ७ आदि।

५ वही १०।६१।५ ६ ७

६ अभिक्रन्दन्वृषायसे वि वो मदे गर्भं दधासि जामिषु विवक्षसे। वही १०।२१।८

७ भद्रो भद्रयासचमान आगात्स्वसारं जारो अभ्येति पश्चात्। वही, १०।३।३

८ वही, १०।१०

करती है किन्तु जैसा कि सूक्त के पारायण से ही स्पष्ट हो जाता है—यम उसका सर्वथा विरोध करता है। इससे विदित होता है कि ऋग्वदिक ऋषि भाई बहन के अनैतिक सम्बधो के विरोध मे रहा है और यम यमी सवाद सूक्त को अनैतिक सम्बधो के स दर्भ म उद्धृत नही किया जा सकता।

(ग) जुआ

ऋग्वदिक समय मे यह कुप्रवत्ति अतिशय रूप से प्रचलन मे रही। जुए से उत्पन्न समस्याओ उसके कुपरिणामो उसके प्रति घृणा और जुआरी के मन मे इसको छोड देने के लिये कामना ऋग्वेद मे प्राप्त होती है। इसका विस्तृत विवेचन ऋग्वदिक मनोरजन' नामक अध्याय मे आगे किया गया है।

(घ) ऋण लेने की प्रथा

ऋण लेन की प्रथा भी सामाजिक कुरीतियो मे आती है। अत्य त ऋग्वदिक साक्ष्यो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उस समय भी व्यक्ति ऋण लेते थे और उससे सम्बधित मन स्थितियो का सामना करते थे। समाज म ऋणी यक्ति को हेय दृष्टि स देखा जाता था। ऋणी व्यक्ति स्वावलम्बियो की भाँति जीवन यापन करना चाहता था। ऋग्वेद मे वरुण देव से प्राथना की गई है कि—व लिये गये ऋणो को दूर कर। दूसरे के द्वारा कमाये गये धन का उपभोग न करने द।[1] प्रभातकालीन उषा का आगमन ऋणी व्यक्ति को भोर का सदेश नही दता। ऋणी सदव चि ता निमग्न रहता है[2] ऐसी ऋग्वद की भावना है। कुटिल चित्त वा यक्ति से ऋण लेना अनुचित रहता है। एक स्थल पर कहा गया है कि कुटिल चित्त वाले यक्ति से ऋण नही लेना चाहिए।[3] ऋण व्यक्ति की दुष्प्रव तियो का बढावा देता है। ऋणी व्यक्ति भय के कारण अपना घर छोडकर दूसरो के घरपर रात्रि यतीत कर ा है और दूसरो के यहा चोरी की भी इच्छ करता है।[4] ऋग्वद म इस दुष्प्रव त्ति क रूप मे ही ग्रहण किया गया है क्योकि अनकश विविध दवों से ऋण मुक्त करने की प्राथना की गई है।

ऋग्वद म कुरीतियो के प्रति घृणा का भाव याप्त है और सदाचरण की प्ररणा सवत्र दवा की स्तुतियो म स्पष्ट प्रतीत होती है।

---

१ ऋग्वेद २।२८।६

२ वही।

३ मा भ्रातुरग्ने अनृजोर्ऋण वे मा सख्युर्दक्ष रिपोर्भुजेम्। वही ४।३।१३

४ ऋणावा बिभ्यद्धनमिच्छमानोऽन्येषामस्तमुप नक्तमेति। वही १०।३४।१०

५ वही।

४ ऋग्वेद में मनोरञ्जन

ऋग्वैदिक मनोरंजन—

ऋग्वैदिक काल मे उल्लिखित मनोबिनोद के साधनों पर विचार करने से प्रतीत होता है कि उस समय मे भी नाना प्रकार के मनोरंजन के साधनों का आविष्कार हो चुका था। तत्कालीन मानव समाज की क्रमोन्नति की परिपाटी जीव-जन्तुओं से स्वतन्त्र तथा उन्नत थी। घुड दौड घुडसवारी और रथो की दौड ऋग्वैदिक जनसमुदाय के मनोरंजन के प्रमुख साधन रहे किन्तु वैयक्तिक योग्यता के मापन हेतु नाना प्रकार की प्रतिद्वन्द्विता मूलक दौडों के अतिरिक्त शिकार जसी क्रीडा में भी आर्यगण साग्रह भाग लिया करते थे। ऋग्वदिक काल मे ललित कला का भी पर्याप्त परिचय प्राप्त होता है। नृत्य, गीत और वाद्य तथा प्रहेलिकायें प्रभति रचनात्मक कला इस विभाग के अन्तर्गत आती है। अक्ष क्रीडा की सम्मोहिनी शक्ति से भी ऋग्वदिक समाज व्यामोहित हुए बिना न रह सका। सब अव गुणो के होते हुए भी जुआ तत्कालीन मनोबिनोद का एक लोकप्रिय साधन था।

मनोरजन के उपयुक्त साधनो के अतिरिक्त कभी कभी 'समन' नाम के मेले लगते थे जिनमे बड़े उत्साह के साथ आर्यगण भाग लेते थे। इस प्रकार ऋग्वैदिक काल मे मनोरजन के पर्याप्त साधन थे जिनका वर्णन विस्तारपूवक क्रमश प्रस्तुत किया जा रहा है—

१ घुडसवारी और घुडदौड—

घुडसवारी और घुडदौड ऋग्वदिक समय का प्रमुख मनोरञ्जन का साधन था। ऋग्वेद मे तत्कालीन जन समुदाय की घोडे के प्रति अभिरुचि दशनीय है। पाश्चात्य विद्वानो ने कहा है कि रथ खींचने के लिए घोडे का उपयोग होना था किन्तु साधारणतया इन्हे इस काय के लिए प्रयुक्त नहीं किया जाता था। युद्ध मे घुडसवारी का कोई उल्लेख नही मिलता किन्तु इन कार्यों के लिए यह अपरिचित नही था।[1] प्रस्तुत उक्ति ऋग्वेद का अनुशीलन करने से सारहीन प्रतीत होती है क्योंकि ऋग्वद इस उक्ति के विरुद्ध साक्ष्य प्रस्तुत करता है।

(अ) **घुडसवारी**—एक स्थल पर अश्व के लिए कहा गया है—देवो की आशाओ को भी पूण करने के लिए सुन्दर पीठ वाला यह घोडा पास आये ऐसा मैंने उत्तम बुद्धियों के बनाये गये स्तोत्र को धारण किया है।[2] अन्यत्र—'तुम्हारे घोडे किधर है? उनके लगाम कहाँ है? किस आधार से अथवा कैसे तुम सामर्थ्यवान् हुए हो? और तुम कसे जाते हो?'' उनकी पीठ पर की जीन और नथुने मे डाली जाने वाली रस्सी कहाँ रख दी है।[3] और जब इन घोडों की जाघो पर

---

१ वैदिक इन्डेक्स भाग १, पृ० ४२

२ उप प्रागात् सुमन्मेऽधायि मन्म देवानामाशा उप वीतपष्ठ। ऋग्वेद १।१६२।७

३ क्व वोऽश्वा क्वा भीशव कथ शेक कथा यय। पष्ठ सदो नसोयम।

वही, ५।६१।२

चाबुक लगते हैं, पुत्रप्रसूति के समय स्त्रियों की भाँति नेता वीर उन घोड़ों की जांघों का विशेष ढंग से नियमन करते हैं ।[1]

उपर्युक्त सभी ऋचायें घोड़े की सवारी का स्पष्ट प्रमाण प्रस्तुत करती हैं। द्वितीय ऋचा में घुड़सवारी के समय धारण किये जाने वाले उपकरणों का उल्लेख किया गया है और अन्तिम ऋचा मे गतिवान घोड़े के सयमन का बड़ा सुन्दर और यथार्थ चित्र अंकित है। समग्र विवरण ऋग्वैदिक काल मे घुड़सवारी के प्रचलन को स्पष्ट करता है।

ऋग्वेद मे घुड़सवारी के अन्य अनेक सदर्भ प्राप्त होते है विविध देवो को घोड़े की सवारी मे प्रस्तुत किया गया है। अश्विनी देवो का श्येन पक्षी के समान शीघ्रगामी घोड़ों से आना उल्लिखित है।[2] एक अन्य स्थल[3] पर इन्द्रदेव को अपने तेजस्वी घोड़ो से दूर देश से आने और सोम रस का पान करने का आमन्त्रण दिया गया है। अन्यत्र पूज्य आदित्यो से अनुरोध किया गया है कि— उनकी जो माया और बन्धन द्रोह करने वाले शत्रुओं पर फैले हुए हैं उन पाशो को प्रार्थयिता रथ पर बैठकर उसी प्रकार पार हो जाए जैसे घुड़सवार कठिन मार्गों को पार कर जाते हैं।[4] सायण ने अश्वीव पद का अर्थ किया है— अश्वीव यथाशोभनाश्व कश्चि त्पुरुषः दुस्तरान्मार्गान्शीघ्रमतिक्रामति अत्र दृष्टान्त ।

ऋग्वेद के पचम मण्डल मे वीरो (मरुतो) के वेगवान घोडो से आने का वर्णन किया गया है।[6] जो सोमपान करने वाले वीर वेगवान् घोडो के साथ शीघ्र चले जाते हैं। वे बहुत सा धन देते हैं। इसी प्रकार मित्रावरुण के भी श्रेष्ठ घोडो से आने का वर्णन किया गया है।[8] अग्निदेव लोहित वर्ण के शीघ्रगामी अश्वो से कल्याणकारी के घर जाते है।[9]

---

१ जघन चोद एषा वि सक्थानि नरो यमु । पुत्रकृथे न जनय । ऋग्वेद ५।६१।३

२ आ न स्तोमनुप द्रवत् तूयं श्येनेभिराशुभि । यातमश्वेभिरश्विना । वही ८।५।७

३ आ नो याहि परावतो हरिभ्या हर्यताभ्याम् । इममिन्द्र सुत पिब । वही ८।६।३६

४ या वो माया अभिद्रुहे यजत्रा पाशा आदित्या रिपवे विचृत्ता ।
अश्वीव ताँ अति येष रथेनारिष्टा उरावा शर्मन् त्स्याम । वही २।२७।१६

५ द्रष्टव्य प्रस्तुत ऋचा पर सायण भाष्य ।

६ य ईं वहन्त आशुभि पिबन्तो मदिर मधु । अत्र श्रवांसि दधिरे । वही ५।६१।११

७ वही, ५।६१।११

८ वही ५।६४।७

९- वही, २ १।६

शत्रुओं से कभी न हारने वाले विष्णु और इन्द्र को बादलों पर ऐसे ही चलने को कहा गया है जैसे व्यक्ति सुशिक्षित घोड़े पर चढ़ते हैं।[1] अन्यत्र घुड़सवारी का एक सुस्पष्ट उदाहरण मिलता है। कहा गया है कि—यदि अश्व को वेग से दौड़ने के कारण हांफने वाले उसके बैठ जाने पर कभी चाबुक से दु:खी किया गया हो, तो जिस प्रकार हवियों को स्रुवा में डाला जाता है, वैसे ही यज्ञों में सभी दु:ख स्तोत्रों द्वारा दूर हों।[2]

प्रस्तुत विवरण से स्पष्ट होता है कि ऋग्वैदिक समाज घुड़सवारी से पूर्णतया परिचित था और उस समय घुड़सवारी प्रचलन में भी रही होगी।

(क) **युद्ध में घोड़ों का उपयोग**—सम्भवत युद्ध क्षेत्र में वीर घोड़ो पर बैठ कर लड़ते थे अथवा अश्वारोहियों की भी सेना रहती थी क्योंकि एक ऋचा मे राजा को अश्वविद्या मे प्रवीण कहा गया है।[3] कहा गया है—अश्व विद्या मे प्रवीण राजा ने मुझ ज्ञानी को सौ गायें प्रदान की हैं।[4] इससे विदित होता है कि युद्ध मे राजा अश्वो का उपयोग करते होंगे।

एक ऋचा मे इन्द्रदेव ने कहा है कि वह शत्रु सेना को हरा दे और प्राथयिता की सेनाओ को वापस लौटा ले। दुन्दुभि झण्डे के साथ शब्द करती रहे। घुड़सवार और वीर शत्रु ओ से युद्ध करते हैं इसलिए देव हमारे रथारूढ़ वीर शत्रुओ को जीत लें।[5]

सायण अश्वपर्णा का अर्थ अश्ववाहाश्च' करते हैं।[6] प्रस्तुत कथा मे घुड़सवारो और रथारूढ़ वीरो का भी पृथक पृथक उल्लेख किया गया प्रतीत होता है।

एक अन्य ऋचा योद्धाओ का घोड़ो के साथ प्रस्तुत करती है— उत्तम घोड़ो वाले तथा संग्राम करने वाले योद्धा मुझ बुलाते हैं। ये योद्धा संग्राम मे घिर जाने पर मुझ (इन्द्र को) ही आमन्त्रित करते हैं।[7] अन्यत्र इन्द्रदेव को युद्धगामी घोड़ की भाँति अश्वयुक्त वेग स संग्राम भूमि मे पहुंचने का वर्णन है।[8] अश्विनी देवो ने

---

१ या सानुनि पर्वतानामदाभ्या महस्तस्थतुरर्वतेव साधुना। ऋग्वेद १।१५५।१

२ यत् ते सादे महसा शूकृतस्य पार्ष्ण्या वा कशया वा तुतोद।
सुचेव ता हविषो अध्वरेषु सर्वा ता ते ब्रह्मणा सूदयामि॥ वही ५।६१।१०

३ यो मे धेनूना शत वददश्विर्यथा ददत्। तरन्त इव महना। वही १।१६२।१७

४ वही ५।६१।१०

५ आमूरज प्रत्यावर्तयेमा केतुमद् दुन्दुभिर्वावदीति।
समश्वपर्णाश्चरन्ति नो नरोऽस्माकमिन्द्र रथिनो जयन्तु। वही, ६।४७।३१

६- द्रष्टव्य—प्रस्तुत ऋचा पर सायण भाष्य।

७ मा नर स्वश्वा वाजयन्तो मां वृता' समरण हवन्ते। ऋग्वेद४।४२।५

८ वही १०।९६।१०

पेदु नरेश को शीघ्रगामी अश्व प्रदान किया।[1]

युद्धगामी अश्वों का स्पष्टतया निर्देश किया गया है। जब इन्द्रदेव संग्राम मे उद्योग से, विषम मार्ग मे अश्वो को प्रेरित करते हैं तब वे घोड़े कुटिल मार्ग मे भी अन्नरूप आमिष की इच्छा से दौड़ने वाले श्येन पक्षियों की तरह शीघ्र गमन करते हैं।[2] और भी नीचे प्रदेश मे शीघ्र गति से जाने वाली नदियो की तरह मांस के लिए दौड़ने वाले पक्षियों के समान शब्द म भय उत्पन्न होने पर बाहुओं से पकड़े गये रास वाले घोड़े भूमि पर दौड़ जाते हैं और विजय पाते हैं।[3] एक स्थान पर सोमदेव को कहा गया है कि घोड़े के समान प्रेरित किया हुआ तू संग्राम-स्थल पर आ।[4] अन्यत्र इन्द्रदेव शत्रु के अन्नो को उसी प्रकार अधिकार म करते हैं जिस प्रकार घोड़ा संग्राम मे जाकर विजय प्राप्त करता है।[5] दशम मण्डल में भी स्पष्ट रूप से कहा गया है कि—हे अग्ने! जैसे शीघ्र गमन करने वाले अश्व युद्ध की ओर जाते हैं वैसे ही संसार के सब धन तुम्हारी ओर गमन करते हैं।[6]

एक ऋचा मे इन्द्रदेव से अतिशय बलवान स्तुति करने वाले सुन्दर यज्ञ करने वाले सुन्दर हव्यान देने वाले तथा संग्राम मे घोड़े पर सवार होकर शोभन अश्वो से शत्रु समूह का विनाश करने वाले पुत्र की कामना की गई है।[7]

(ख) दधिक्रा (एक अश्वविशेष)—एक अतिशय वेगवान और युद्ध मे विजयशील घोड़े को ऋग्वेद मे दधिक्रा कहा गया है निघण्टु मे इसे अश्व का पर्यायवाची कहा गया है। दधिक्रा शब्द की व्युत्पत्ति के विषय मे संदेह है इसलिए इसके मौलिक स्वरूप के विषय मे निश्चय से कुछ भी कहना कठिन है इस पद का दूसरा अंश विकिरणार्थक कृ धातु से बना प्रतीत होता है इस प्रकार दधिक्रा का अर्थ होगा—दधि बिखेरने वाला। यह नाम रॉथ और ग्रासमन के अनुसार सूर्योदय कालीन ओस अथवा कुहरे का बोधक है।[8] किन्तु लुड्विग पिशेल ब्रूक और

१ युवं श्यावाय रुशतीमदत्तं महः क्षोणस्याश्विना कण्वाय । ... नि पदव ऊहथुराशुमश्वम् । ऋग्वेद ७।७१।५

२ यदिन्द्र सर्गे अर्वतश्चोदयासे महाधने ।
असमने अध्वनि वृजिने पथि श्येनाँ इव श्रवस्यत ॥ वही, ६।४६।१३

३ सिन्धूँरिव प्रवण आशुया यतो यदि क्लोशमनु ष्वणि ।
आ ये वयो न वर्वृतत्यामिषि गृभीता बाह्वोर्गवि ॥ वही ६।४६।१४

४ अत्यो न हियानो अभि वाजमर्ष । वही, ९।८६।३

५ स सुप्रकेतो अभ्यक्रमीदिषोऽच्छा वाजं नैतशः । वही ९।१०८।२

६ स यस्मिन्विश्वा वसूनि जग्मुर्वाजे नाश्वाः सप्तीवन्त एवैः । वही १०।६।६

७ य ओजिष्ठ इन्द्र तं सु नो दा मदो वृषन् त्स्वभिष्टिर्दास्वान् ।
सौवश्व्यं यो वनवत् स्वश्वो वृत्रा समत्सु सासहदमित्रान् ॥ वही ६।३३।१

८ वैदिक माइथोलॉजी मैक्समूलर हिन्दी रूपान्तर-सूर्यकान्त) पृ० ३८८

ओल्डनवर्ग के अनुसार दधिका कोई देवता न होकर दौड़ों में भाग लेने वाला एक प्रसिद्ध अश्व था, जिसे उसके अप्रतिम जय के कारण दिव्य प्रतिष्ठा प्राप्त हुई।[1]

चार सम्पूर्ण सूक्तों में दधिका की गुणगरिमा का गान किया गया है।[2] बारह बार 'दधिका' नाम का उल्लेख हुआ है। अपने वृहित रूप 'दधिक्रावन्' के साथ बदलकर भी इसका उल्लेख किया गया है। दस बार 'दधिक्रावन्' का उल्लेख मिलता है। यह नाम अन्य वैदिक ग्रंथों में नहीं मिलता। दधिका अत्यधिक वेगवान् अश्व है।[3] यह रथ मे सबसे आगे जोड़ा जाता है।[4] वायु के समान वेगवान् रथ को प्रेरणा देने वाले दधिका को सभी मनुष्य हर्षित होते हुए आमन्त्रित करते हैं।[5] मनुष्यो की कामनाओं को पूरा करने वाले तथा वेगवान दधिका के पराक्रम और वेग की मनुष्य स्तुति करते हैं।[6] यह पथो के मोडो पर छलांगें मारता हुआ मुड जाता है।[7]

दधिका की वेगगामिता के लिए इसे परो वाला और पक्षी सदृश भी कहा गया है। इसके परो की तुलना प्रजवी श्येन के परो से की गई है।[8] दधिका की उपमा आक्रामक श्येन से दी गई है जैसे नीचे की ओर झपट्टा मारते हुए भूखे बाज को देखकर सभी पक्षी भाग जाते हैं वैसे ही इस दधिका को देखकर सभी शत्रु भाग जाते हैं।[9]

दधिका बहादुर[10] युद्ध मे शत्रुओ का संहारक अनुशासन मे रहने वाला शीघ्रता से जाने वाली सेनाओं पर आक्रमण करने वाला विजयशील अश्व है।[11] अत्यन्त तेजस्वी और कडकने वाली बिजली के समान शत्रुओ का संहार करने वाले इस दधिका से आक्रमणकारी भयभीत होते हैं। जब यह दधिका चारो ओर से

---

१ वदिक माथा माइथोलाजी मक्समूलर हिन्दी रूपान्तर (सूयकान्त) पृ० ३८८

२ ऋग्वद ४। ८ ३९ ४० और ७।४४

३ आशु दधिका तमु नुष्टवाम—वही ४।३९।१
उत स्मास्य पनयन्ति जना जूतिं कृष्टिप्रो अभिभूतिमाशो। वही, ४।३८ ९
ऋजिप्यं श्येन प्रषितप्सुमाशं चकृत्यमर्यो नृपतिं न शूरम। वही ४।३८।२

४ दधिक्रावा प्रथमो वाज्यर्वाग्रे रथानाभवति प्रजानन्। वही ७।४४।४

५ पङ्भिगध्य त मेधयु न शूर रथतुर वातमिव प्रजन्तम्। वही, ४।३८।३

६ वही ४।३८।९

७ क्रतु दधिका अनु सतवीत्वत् पथामकास्यन्वापनीफणत्। वही ४।४०।४

८ श्येनस्येव ध्रजतो अकस परि दधिक्राण्ण सहोजा तरित्रत। वही, ४.४ ।३

९ नीचायमान जसुरिं न श्येन श्रवश्चाच्छा पशुमच्च यूथम्। वही ४।३८।५

१० वही ४।३८।६

११ उनस्य वाजी सहुरिऋतावा शुश्रूषमाणस्तन्वा समर्ये।
तुर यतीषु तुरयन्नृजिप्योऽधि भ्रुवो किरते रेणुमृञ्जन। वही ४।३८।७

हजारों शत्रुओ से लडता है तब सजा सवरा हुआ यह भयकर और दुर्निवार हो जाता है।[1] गले में मालाओ के पहनने के कारण अत्यन्त शोभायमान यह दधिक्रा लगामों को चबाता हुआ टापें मारता है।[2] लगाम को चबाता हुआ वह इतनी तीव्रता से दौडता है कि उसके खुरो से उडने वाली धूल से उसका शरीर धूसरित हो जाता है।[3]

दधिक्रा सभी जातियों से सम्बद्ध है। पचजनो मे वह अपनी शक्ति से व्याप्त है जैसे सूर्य अपने प्रकाश से सलिलो मे व्याप्त है।[4] मित्रावरुण ने अग्नि के समान द्युतिमान उस विजयशील अश्व को पुरुषों को दिया था।[5]

दधिक्रा का आह्वान उषाओ के साथ किया गया है।[6] उषाओ से प्रार्थना की गई है कि वे दधिक्रावन की भाति शुद्ध स्थान पर बठने के लिए पधारें।[7]

दधिक्रा के गुण गान से स्पष्ट आभासित है कि ऋग्वैदिक समाज मे अश्व का बडा महत्त्व था। युद्ध म अतिशय रूप से इसका उपयोग किया जाता था। युद्ध म शत्रुओ पर आक्रमण करने के लिए और अपनी रक्षा हेतु अश्व ऋग्वैदिक आर्यों का प्रधान उपकरण था।

घुडदौड़—

उपयुक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि अश्व ऋग्वदिक आर्यों का प्रिय पशु था। घडदौड वदिक भारतीयो का प्रमुख मनोरजन था।

ऋग्वद मे घडदौड के पथ को काष्ठा कहा गया है।[8] ऋग्वेद[9] मे और साथ ही बाद के साहित्य मे आजि शब्द का नियमित रूप से एक दौड क आशय मे प्रयोग हुआ है। एक ऋचा[10] मे दौड के पथ को चौडा (उर्वी) और उसके विस्तार के नाम को अपावक्ता अरत्नय कहा गया है।[11] वस्तुत प्रस्तुत ऋचा का

१ उत स्मास्य तन्यतोरिव द्योर्ऋघायतो अभियुजो भयन्ते।
यदा सहस्रमभि षीमयोधीद दुवर्तु स्मा भवति भीम ऋञ्जन। ऋग्वद ४।३८।७
२ स्रज कृण्वानो जन्यो न शुभ्वा रेणु रेरिहत्किरण ददश्वान। वही ४।३८।६
३ तुर यतीष तुरयन्नृजिप्योऽधि भ्रुवो किरते रेणुमृञ्जन। वही ४।३८।७
४ आदधिक्रा शवसा पञ्चकृष्टी सूर्य इव ज्योतिषापस्ततान। वही ४।३८।१०
५ यं पूरुभ्यो दीदिवांसं नाग्नि ददथुर्मित्रावरुणा ततुरिम्। वही, ४।३९।२
६ वही ४।३९।१ एव ४।४०।१
७ समध्वरायोषसो नमन्त दधिक्रावेव शुचये पदाय। वही, ७।४१।६
८ आ सीमवद्य आ भागुर्वी काष्ठा हित धनम्। अपावक्ता अरत्नय।
वही ८।८०।८
९ वही ६।२४।६ २।३५।७,४।२४।८
१० वही ८।८।८
११ वैदिक इण्डैक्स भाग १ पृ० ५४

आशय संदिग्ध है। जिमर के विचार से इसका अर्थ है दौड का पथ सीधा और बिना मोड वाला होता था।[1]

सम्भवत: दौड की प्रतियोगिता मे पुरस्कार भी प्रदान किये जाते थे, इसके लिए ऋग्वेद में 'धा' शब्द का प्रयोग मिलता है।[2] पुरस्कार प्राप्त करने के लिए लोग सहर्ष प्रतिस्पर्धा मे भाग लेते थे। पुरस्कार के लिए ऋग्वेद मे कार'[3] एव 'भर'[4] प्रयुक्त अन्य शब्द हैं।[5]

घुड़दौड के घोडों के समान वीरो का अपने घोडो को भी बलिष्ठ बनाने का उल्लेख है।[6] घुडदौड के लिए प्रयुक्त अश्वो को बहुधा नहलाया और अलङ्कृत किया जाता था। एक ऋचा में घोडे को पानी से धोकर शुद्ध किये जाने का वर्णन मिलता है[7] अन्यत्र कृष्णाश्वो को स्वर्णाभूषणों से सजाये जाने का उल्लेख किया किया गया है।[8]

सम्भवत ऋग्वैदिक काल मे घोडों की कमी नही थी अपितु ये बहुतायत मे होते थे। एक दान स्तुति मे एक राजा द्वारा एक ऋषि को चार सौ घोडों के दिये जाने का वर्णन है।[9] सप्तसिन्धु घोडों के लिए प्रसिद्ध स्थान था।[10] सरस्वती उच्च कोटि के घोडों के लिए प्रसिद्ध थी[11] ऋग्वेद में घोड़ो के लिए बहुत से शब्द प्रयुक्त हुए हैं। यथा—अत्य,[12] अवन्त[13] वाजिन[14] सप्ति[15] और हय[16]।

---

१ वैदिक इण्डक्स भाग १ पृ० ५४ (पादटिप्पणी मे उद्धृत)

२ ऋग्वेद १।८१।३ ११६।१५ ६।४५।१ ८।८०।८ ५।५३।२ १०९।१०

३ वही ५।२९।८ ९।१४।१

४ वही ५।२९।८ ९।१६।५ आदि

५ वैदिक इण्डक्स भाग १, पृ० ५४

६ उक्षन्ते अश्वा अत्यॉं इवाजिषु नदस्य कर्णैस्तुरयन्त आशुभि ।
ऋग्वेद २।३४।३

७ पवस्व सोम क्रत्वे दक्षायाश्वो न निक्तो वाजी धनाय। वही ९।१०९।१०

८ अभि श्यावं न कृशनेभिरश्वं नक्षत्रेभि पितरो द्यामपिशन । वही, १०।६८।११

९ शत वेणूञ्छत शुन शत चर्माणि म्लातानि । वही ८।५५।३

१० स्वश्वा सिंधु सुरथा सुवासा हिरण्ययी सुकृता वाजिनीवती ।
ऊर्णावती युवति सीलमावत्युताधि वस्ते सुभगा मधुवृधम् । वही १०।७५।८

११ वही १।३।१० २।४१।१८ ६।६१।३ ४,७।९०।३

१२ वही १।५६।१,३।२।३,४।२।३ ५।१९।३ ७।५६।१६ आदि

१३ वही ५।६।१ ७।३५।१२,८।१२०।१२,९।९७।२५ आदि

१४ वही ३।२०।२,३।६१।१ ५।३६।६ ७।७५।५ १०।७५।८ आदि

१५ वही १।४७।८ २।३१।७,३।२२।१,६।५९।३,९।९६।१६ आदि

१६ वही, ५।४६।१,७।७४।४,९।१०७।२५

घोडियों को रथो मे जोडा जाता था।[1] मरुद्‌गो के रथ भी घोडियों से जुते वर्णित किये गये हैं।[2]

सम्भवत घुड दौड की भांति ही रथो की दौड भी ऋग्वैदिक युग मे प्रचलित थी। अष्टम मण्डल मे एक सूक्त[3] को जिमर के अनुसार रथो की दौड से पूर्व किसी प्रतियोगी की प्रार्थना रूप में प्रस्तुत किया गया है।[4]

इस प्रकार ऋग्वैदिक समाज मे घुडसवारी और घुडदौड मनोरजन के प्रमुख साधन रहे घोड को पर्याप्त महत्त्व मिला यहां तक कि उसे देवो की कोटि मे रखकर विविध देवों के साथ उसका आह्वान किया गया।

२ आखेट—

ऋग्वैदिक जन-समुदाय आखेटप्रिय था किन्तु वैदिक काल मे आखेट किसी जाति की आजीविका का साधन प्रतीत नहीं होता। कृषि व्यवसाय रूप मे प्रचलित था और पशु पालन का अतिशय रूप मे प्रचलन था। मृगया क प्रसग ऋग्वेद मे मिलते हैं किन्तु मृगया का कारण आजीविका मात्र के लिए न होकर मनोरजन पालन पशुओं की जगली पशुओं से रक्षा और साथ ही भोजन की व्यवस्था भी रहा। प्रारम्भिक काल से मृगया का प्रचलन चला आ रहा है किन्तु आखेट सबधी विवरण के लिए ऋग्वेद ही प्रमुख स्रोत है। ऋग्वेद में पक्षियो और पशुओ दोनो के शिकार का परिचय मिलता है।

(अ) पक्षियों का शिकार—पक्षियो को नियमित रूप से जालो मे पकडा जाता था।। एक स्थल पर इन्द्र का आह्वान करके कहा है कि वह आनन्द देने वाले तथा मोर के रग के समान बाल वाले घोडों से आयें जिस प्रकार जाल लिये हुए शिकारी पक्षियो को पकडते हैं उसी प्रकार उसे कोई न पकडे।[5] प्रस्तुत ऋचा मे व्याध को पाशिन कहा गया है और जाल के लिए पाश शब्द का प्रयोग आया है।

अन्यत्र[6] पूषा देवता से प्रार्थना की गई है कि प्रबल शत्रु हमारा हरण न करे जिस प्रकार व्याध शिकारी लोग पक्षियो का हरण करते हैं। पाश के लिए ऋग्वेद मे निधा शब्द का प्रयोग मिलता है।[7] एक अन्य ऋचा[8] मे भी पाश को

१ ऋग्वेद ७।६९ १
२ वही ५।५५।६ ५६।६ आदि।
३ वही, ८।६९
४ ऋग्वैदिक कल्चर—ए० सी० दास पृ० २२७।
५ आ म द्रे रि द्र हरिभिर्याहि मयूररोमभि ।
मा त्वा के चिन्नि यमन्विं न पाशिनोऽति धन्वेव ताँ इहि। ऋग्वेद ३।४५।१
६ मोत सूरो अह एवा चन ग्रीवा आदधते वे । वही, ६।४८।१७
७ गृभ्णाति रिपु निधया निधापति सुकृतमा मधुनो भक्षमाशत। वही, ९।८३।४
८ अप ध्वान्तमूर्णुहि पूर्धि चक्षुर्मुमुग्ध्य स्मान्निधयेव बद्धान्। वही १०।७३।११

निषाद कहा गया है। पक्षियों का शिकार करने वालों को 'निषादपति' (पक्षों का स्वामी) कहा गया है।[1]

(अ) पशुओं का शिकार—

(क) मृग—मृग को पकडने के लिए गड्ढों का प्रयोग होता था। ऋग्वेद मे मृग के लिए 'ऋश्य' शब्द आता है।[2] ऋश्य' मृगवाचक शब्द का शुद्ध रूप है।[3] ऋग्वेद में हरिण पकड़ने के लिए बनाये गये गर्त को 'ऋश्यद' कहते थे।

(ख) वराह—एक ऋचा[5] मे वराह के शिकार का वर्णन किया गया है। यद्यपि उक्त स्थल की विषयवस्तु अनिश्चित और पुराकथात्मक है तथापि ऐसा प्रतीत होता है[6] कि वराह का पीछा करके उसे मारा जाता था इस काम मे सम्भवत शिकारी कुत्तो का सहारा लिया जाता था।

(ग) महिष—भैसे को पकडने का भी एक अस्पष्ट सन्दर्भ प्राप्त होता है।[7]

प्रसक्त स्थल बडा दुरूह है अत यह स्पष्ट नही है कि पकडने का साधन क्या था? शिकार को बाण से मारा जाता था अथवा जाल या रस्सियो मे पकडा जाता था। गौर' शब्द वृषभ की एक जाति के अर्थ मे गवय के साथ ऋग्वेद काल से ही प्रयोग में आता है।[4]

(घ) सिंह—सिंह को सम्भवत गड्ढे में गिराकर पकडा जाता था।[8] एक अन्य स्थल[9] पर निम्न स्थान मे सिंह को पकड़ने का उल्लेख है जिससे सम्भवत केवल ढके हुए गड्ढो के ही प्रयोग का तात्पर्य है।[10] सिंह को अनेक व्याध घेरकर उसका वध करते थे।[11]

इस प्रकार पक्षियो और पशुओं के शिकार के कतिपय प्रसग ऋग्वेद मे उपलब्ध होते हैं। उपयुक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि ऋग्वैदिक जन-समुदाय केवल युद्धप्रिय जीव ही नही अपितु प्रकृत्या वह आखेट का भी प्रेमी था। सम्भवत

---

१ ऋग्वेद १।८३।४

२ युव वन्दनमृश्यदादुदूपथुयु बसद्योविश्पलामेतवे कृथ। वही, १०।३९।८

३ वैदिक कोश सूर्यकान्त—द्रष्टव्य वर्णक्रमानुसार।

४ वही।

५ एवान्वस्य अभिभवदपि कर्णे वराहयुर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तर। ऋग्वेद १०।८६।४

६ उक्त ऋचा के ग्रिफिथ कृत अनुवाद के आधार पर।

७ तस्माद्भिया वरुण दूरमाय गौरो न क्षेप्नोरविजेज्याया। ऋग्वेद १०।५१।६

८ वही १।१६।५,४।२१।८। ५।८।२,५।७८।२ ७।६९।६,७।९८।१ आदि।

९ सुपर्णं इत्था नखमा सिषायावरुद्ध परिपद न सिंह। वही, १०।२८।१०

१० यदीं गभीन तातये सिंहामव द्रुहस्पदे। वही ५।७४।४

११ वैदिक इण्डेक्स—भाग २, पृ० ४४८।

स चक्षतो नवबालस्तुतुर्यात् सिंह न क्रूरमभित परिष्ठु। ऋग्वेद ५।१५।३

आत्म रक्षा और भोजन सम्बन्धी आवश्यकता ने मृगया को जन्म दिया होगा और पश्चात् लोक के चरित्र मे यह विलक्षणता व्याप्त हो गयी।

३ ऋग्वेद में प्राप्त प्रहेलिकायें—

ससार की किसी भी सस्कृति के लोक साहित्य मे विशेषतया भारतीय साहित्य में प्रहेलियों का न होना कल्पना से भी परे की बात है। सम्पूर्ण भारतीय साहित्य का आदिस्रोत ऋग्वेद भी रोचक एव ज्ञानवर्धक प्रहेलिकाओ से ओतप्रोत है।

लौकिक साहित्य मे जिसे प्रहेलिका' कहा जाता है वह साहित्यिक अभिव्यक्ति का एक विशेष प्रकार माना जा सकता है। इसमे जहाँ एक ओर कवि की काव्य कला श्रेष्ठता और विभिन्न शास्त्रो का गहन अध्ययन स्पष्ट लक्षित होता है, वही दूसरी ओर ये उत्तरकर्ता की बौद्धिक शक्ति प्रत्युत्पन्नमति एव अभिरुचि का मापदण्ड भी हैं। प्रहेलिकाओ की गूढता को बढाने के लिए मानवीय ज्ञान की विविध शाखाओ का उपयोग किया गया है। जसे अलकार–शास्त्र काव्य शास्त्र व्याकरण भाषा विज्ञान दशन शास्त्र और गणित आदि अत इनके अध्ययन से तत्कालीन मानवीय बौद्धिक विकास का अनुमान किया जा सकता है।

सवप्रथम प्रहेलिका शब्द को परिभाषित किया जाना आवश्यक है। यो तो विभिन्न विद्वानो ने विभिन्नत इसे पारिभाषित किया है परन्तु सवप्रथम दण्डी ने अपने काव्यादर्श मे इसकी परिभाषा और विभाग प्रस्तुत किया। काव्यादश के अनुसार ही—

> क्रीड़ा गोष्ठीविनोदेषु, तज्ज्ञैराकीर्णमन्त्रणे।
> पर व्यामोहने चापि सोपयोगा प्रहेलिका॥[1]

अर्थात् 'पहेलियो का प्रयोग क्रीडा-गोष्ठियो मे मनोरजन हेतु आमन्त्रित व्यक्तियो के मध्य किया जाता है अथवा दूसरे व्यक्ति के व्यामोहन हेतु भी इसका उपयोग होता है।'

दण्डी ने प्रहेलिका का अथ किया है—'प्रहृवलते आच्छादयति अर्थात जो छिपाती है ढकती है वह पहेली है जिसमे वस्तु विशेष की सज्ञा को छिपाकर साकेतिक रूप से उसका स्वरूप वर्णित हो उसे पहेली कहते हैं। दण्डी के ही अनुसार इन[2] १६ विभाग हैं जसे समागत[3] वचित[4] परिहारिका अथवा परिहासिका

१ दण्डी—काव्यादश ३।९७
२ वही ३।९८
३ वही ३।९८
४ वही ३।१०४

(यौग मरलातिसिका), पस्य[1] संख्या,[2] समुख अथवा व्यामुख,[3] उभयछन्न[4] और सकीर्ण[5] आदि। इनका विस्तृत और विश्लेषणात्मक विवेचन अपने आप में एक पृथक अध्ययन का विषय है अत अनावश्यक विस्तार के भय से इनका विवरण न दकर प्रहेलिकाओं को ही सुलझाने का यत्न किया जा रहा है।

ऋग्वेद की पहेलिकाओ का विषय परमाथ विद्या वेदा त चिन्तन धर्मशास्त्र तथा धार्मिक कृत्य सम्बन्धी है। पहेलियां वदिक समय मे प्राप्त अश्वमेध, राजसूय और वाजपेय आदि यज्ञो का आवश्यक अग थी। आध्यात्मिक चि तन मे सहायक होती थी इ हे ब्रह्मोद्य (ब्रह्मन् + उद्य) अर्थात् ब्रह्म और तत्सम्बन्धी उत्कृष्ट ज्ञान का चिन्तन कहते थे। ये परमार्थ विद्या सम्बन्धी बौद्धिक व्यायाम के साथ-साथ धार्मिक संस्कारों मे रोचकता और आकषण की उत्पत्ति करती थी। इनमे प्रचलित सज्ञाओ का उपयोग न करके उसे साकेतिक अभिव्यक्ति प्रदान की जाती थी तथा साकेतिक अभिव्यक्ति अभिप्राय को सिद्ध करने हेतु उपमान बहुलतया प्रकृति से ही यथा वर्ष मास मौसम दिन रात पथिवी, सूर्य च द्रमा, वर्षा आदि-आदि लिए जाते हैं।

ऋग्वेद मे एक सम्पूण सूक्त[6] पहेली के अ तगत आता है। यह सर्वाधिक प्रसिद्ध रोचक एव ज्ञानवर्धक सूक्त है। प्रस्तुत सूक्त मे बावन ऋचायें हैं। एक को छोडकर सभी ऋचाय धार्मिक पष्ठभूमि पर आधारित हैं जिनके उत्तर बडे दुरूह हैं और वहां नही दिये गये हैं। वस्तुत ये धार्मिक मनोवज्ञानिक दार्शनिक और परमाथ विद्या सम्ब धी है अत इनको हल करना अतीव कठिन है।

प्रहेलिकाओ को यथाशक्ति सुलझाकर ऋचा को प्रश्न रूप मे और तद तर उत्तर के रूप मे लिखकर स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। इस विषय में मत वभिन्न्य होना तो आश्चयजनक बात नही है। यहां विभिन्न टीकाकारो एव व्याख्याकारो यथा सायणाचाय विल्सन ग्रिफिथ, सातवलेकर आदि के अनुसार जो अथ अधिक समीचीन प्रतीत हुआ प्रस्तुत है।

दीघतमा ऋषि द्वार रचित प्रथम मण्डल के १६४ व सूक्त में कतिपय ऋचाओ को पहली-गर्भित के रूप मे उदाहृत किया जा सकता है—

(१) इस सुन्दर तथा पालन करने वाले और सब रसो का हरण करने वाल का मझला भाई सवत्र व्याप्त है इसका तीसरा भाई तेजस्वी पीठवाला या

१ दण्डी-काव्यादर्श ३।१००
२ वही ।१ १
३ वही ३।१०२
४ वही ३।१०५
५ वही ३।१०५
६ ऋग्वेद १।१६४

घृतयुक्त पीठवाला है, यहा मैंने सात पुत्रो से युक्त प्रजापालन करने वाले को देखा है ।"[1]

उत्तर—सूय ! सूर्य वायु और अग्नि तीन भाई हैं द्युलोक मे स्थित सूय ज्येष्ठ अन्तरिक्षस्थ वायु मध्यम और पृथिवीस्थ अग्नि कनिष्ठ है। वायु सूर्य का मझेला भाई है जो सर्वत्र व्यापक है और अग्नि तेजस्वी पीठवाला है। उसकी पीठ रूपी ज्वालायें अधिक तेजस्वी हैं अथवा वह घी से युक्त पीठवाला है। यज्ञ में अग्नि की ज्वालाओ मे घी की आहूतियाँ दी जाती हैं इसलिए उसे घृतपष्ठ कहा गया है और वह सूय का तृतीय भाई है। सूय सात रग की किरणो से युक्त होने के कारण सात पुत्रो वाला है।

(२) एक चक्र वाले रथ मे सात घोड जुते हुए हैं सातनामो वाला एक ही घोडा रथ को खीचता है। इस रथ का तीन नाभियो वाला चक्र अजर और अशिथिल है जिसमे ये सारे भुवन स्थित हैं।[2]

उत्तर—आदित्य मण्डल रूपी गतिशील रथ। इसका सूर्य रूपी एक ही चक्र है इसमे सात रग की किरण रूपी सात घोड जुते हुए हैं जो सवत्र गति करत हैं। यद्यपि किरण एक है पर रगो की भिनता से किरण रूपी घोड के सात नाम हो जाते हैं। सूर्य के कालरूपी रथ की शरद् वर्षा और ग्रीष्म तीन नाभिया है यह निरन्तर चलता रहता है। इसी काल के अ तगत सब लोक निवास करते हैं।

(३) जो सात किरणे इस रथ पर आश्रित होकर बठी है सात चक्र वाले इसे सात घोड ढोते हैं जहाँ वाणी के सात नाम छिपे हैं ऐसी सात बहने इसकी चारो ओर से स्तुति करती हैं।[3]

उत्तर—काल रूप सूय। सूय पर सात रग की किरणें बठती हैं इस ऐसे कालरूपी सूय के अयन ऋतु, मास पक्ष दिन रात और महूत्त ये सात चक्र ह जिहे किरणरूपी सात घोड खीचते ह। वाणी के सात नाम अर्थात् स्वर और सात बहिने अर्थात् सात छदोवाली वेदवाणी इसी सूय की स्तुति करती है।

(४) जो अस्थिरहित होते हुए भी शरीर से युक्त प्राणियो का पालन पोषण करता है उस उत्पन्न होते हुए किसने देखा ? भूमि के प्राण रक्त और

---

१ अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमा अस्त्यश्न ।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्य विश्पति सप्तपुत्रम ॥
ऋग्वद १।१६४।१

२ सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा ।
त्रिनाभि चक्रमजरमनव यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थु ॥ वही १।१६४।२

३ इम रथमधि ये सप्त तस्थु सप्तचक्र सप्त वहन्त्यश्वा ।
सप्त स्वसारो अभि स नवन्ते यत्र गवा निहिता सप्तनाम ॥ वही १।१६४।३

आत्मा सब कहाँ थे ? यह पूछने के लिए कौन विद्वानों के पास गया।"[1]

उत्तर—प्रजापति। प्रस्तुत पहेली मे सृष्टि की पूर्वावस्था की ओर संकेत किया गया है। आज भी वह प्रजापति अस्थिरहित होते हुए शरीरधारी जीवों को धारण करता है। सष्टि के पूर्व इस भूमि के लिए प्राणरूप वायु रक्त रूप जल और आत्मारूप सूय अर्थात् भूमि वायु जल और सूय—ये कुछ भी पदाथ नहीं थे। इनके विषय मे कौन किससे पूछने जाता ? केवल प्रजापति ही था जो सब कुछ देख रहा था।

(५) 'अपरिपक्व बुद्धिकला में कुछ न जानता हुआ वेदो के गुप्त स्थानों को श्रद्धापूर्वक पूछता हू। देखने के लिए निवास करने के लिए तथा विस्तार करने के लिए ज्ञानी जन सात धागो को बुनते हैं।"[2]

उत्तर—देवता अनेक लोगो मे रहते हैं पर उनका मूलस्थान गुप्त है। ये ज्ञानयुक्त देवगण उत्पन्न होकर मन प्राण पथिवी, जल तेज, वायु और आकाश (पञ्चभूत) इन सात तत्वरूपी सात सूतो से ताना बाना डालकर ये ससार रूपी वस्त्र बुनते हैं। तब यह समग्र ससार विस्तृत होकर देखने सुनने और रहने योग्य होता है।

(६) माता ने अपने कम से जल के लिए पिता का सेवन किया, इसके बाद पिता प्रीतिपूण मन से माता से सयुक्त हुआ। वह गभ की इच्छावाली माता गभ रस से युक्त हुई तब अन्न की इच्छा करने वाले स्तुति करते हुए इसके पास पहुँचे।[3]

उत्तर—ग्रीष्मकाल मे सतप्त पृथिवी को पानी की आवश्यकता होती है तब सूय जल बरसाता है। इस जल के माध्यम से पृथिवी रूपी माता और सूय रूपी पिता का सयोग होता है तब सूय वर्षा रूपी बीय को माता स्वरूपा पृथिवी मे स्थापित करता है। जब पथिवी वर्षाजल से सिंचित होकर गभ धारण कर गर्भ रूपी अन्नादि को प्रसून करने मे समथ होती है, तब अन्न को प्राप्त करने की इच्छा वाले कृषक स्तुति करते हुए उनके पास जाते हैं।

(७) वह अकेला तीन माताओ और तीन पिताओ को धारण करता हुआ

---

१ को ददश प्रथम जायमानमस्थन्वन्त यदनस्था बिभर्ति।
भूम्या असुरसगात्मा क्व स्वित् को विद्वासमुप गात् प्रष्टुमेतत्।
ऋग्वेद १।१६४।४

२ पाक पृच्छामि मनसाविजानन देवानामेना निहिता पदानि।
वत्से बष्कलेऽधि सप्त त न्तून् वि तत्निरे कवय ओतवा उ। वही १।१६४।५

३ माता पितरमृत आ बभाज धीत्यग्रे मनसा स हि जग्मे।
सा बीभत्सुर्गभरसा निविद्धा नमस्वन्त इदुपवाकमीयु॥ वही, १।१६४।८।

सबसे ऊपर विराजमान है। वे सभी इसे दुखी नही करते। समस्त विश्व को जानने वाली तथापि समस्त विश्व से परे रहने वाली वाणी के विषय मे सब द्युलोक की पीठ पर विचार करते हैं।[1]

उत्तर—प्रजापति ! यह अकेला ही पृथ्वी अन्तरिक्ष और द्युलोक रूपी तीन माताओ और अग्नि और वायु द्यु रूपी तीन पिताओ का भरण पोषण करता हुआ उन सबसे परे रहता है अर्थात् इसमे रहता हुआ भी इनमे लिप्त नहीं रहता इसीलिए ये उसे दुखी नहीं करते। शब्द आकाश का गुण होने से वाणी आकाश का ही रूप है और आकाश ब्रह्म का रूप है, अत वाक भी ब्रह्म का रूप है। यह ब्रह्म सारे विश्व को जानता है और उस विश्व से भी परे है।

(८) एक साथ उत्पन्न होने वाले सात तत्त्वो को एक से उत्पन्न होने वाला कहते हैं। इनमे छ जुडवां हैं। ये ऋषि हैं और देवो से उत्पन्न होने वाले हैं। उनके यज्ञ अपने अपने स्थानों पर चल रहे हैं। रूप से भिन्न होने पर भी एक ही तत्त्व पर आश्रित होकर गति करते हैं।[2]

उत्तर—विश्व मे भू भव स्व मह जन तप सत्यम—ये सात लोक एक ही प्रजापति से उत्पन्न होते है। इनमे भू भुव स्व मह जन तप—ये जुडवां हैं और सत्यम यह अकेला है। ये सभी ऋषि हैं और देवो से उत्पन्न होते है। इनका अपनी अपनी जगह यज्ञ चल रहा है। यद्यपि इनके रूप पृथक पृथक है परन्तु ये सब एक ही प्रजापति के आधार से रहते हैं।

दूसरा अर्थ—शरीर मे आँख नाक कान और रसना—य इन्द्रियां है। इनमे दो आँख दो नाक और दो कान य जुडवा हैं और रसना अकेली है। ये सप्त ऋषि हैं और देवो से उत्पन्न हुए हैं। सूर्यदेव से आँख दिशाओ से कान अश्विनी देवो से नाक और जल से रसना बनी है। ये सभी इन्द्रियां अपनी-अपनी जगह मानव जीवन रूपी यज्ञ रचा रही हैं यद्यपि ये रूपो मे पृथक पृथक हैं परन्तु सभी एक आत्मा के आश्रय से इस शरीर मे रह रही हैं।

(९) स्त्रियां होती हुई भी वे पुरुष हैं ऐसा मुझसे कहते हैं। इस बात को आँखो वाला ही देख सकता है अन्धा इसे नही जान सकता। जो ज्ञानी का पुत्र है

---

१ तिस्रो मातॄस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्ति।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविद वाचमविश्वमिन्वाम ॥

ऋग्वेद १।१६४।१०

२ साकं जानां सप्तथमाहुरेकजं षळिद्यमा ऋषयो देवजा इति।
तेषामिष्टानि विहितानि धामश स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपश ॥

वही १।१६४।१५

वही इसे जान सकता है, जो इन्हें जानता है वह पिता का भी पिता हो जाता है।[1]

उत्तर– सूत्र ! सूर्य की रश्मियाँ यद्यपि स्त्रीलिंग होने से स्त्री हैं तथापि वे वृष्टि जल रूपी वीर्य का सेचन करके पृथ्वी को गर्भवती करने के कारण पुरुष हैं। सूक्ष्म दृष्टि वाला ही इन्हें जान सकता है।

(१०) सदव साथ रहने वाले तथा अत्यन्त मित्र दो उत्तम पंख वाले पक्षी एक ही वृक्ष पर आलिंगन किये हुए हैं। उनमे से एक उस पेड़ के मीठ-मीठ फलों को खाता है और दूसरा उन फलों को न खाता हुआ केवल प्रकाशित होता है।[2]

उत्तर—जीवात्मा और परमात्मा। ये दो सुपर्ण हैं अर्थात् उत्तम शक्ति से पूर्ण हैं। पर्ण-पंख शक्ति के प्रतीक हैं। ये परस्पर गाढ़ मित्र हैं और इकट्ठे रहते हैं। ये दोनों प्रकृति रूपी वृक्ष पर बैठे हुए हैं। इन दोनों मे जीवात्मा सुपर्ण इस प्रकृति रूपी वृक्ष के फलों को खाता है अर्थात् ससार मे आसक्त होकर सुख-दुःख रूपी फल भोगता है जबकि परमात्मा इस ससार सेनिर्लिप्त रहकर केवल प्रकाशित होता है।

(११) इस उत्तम रीति से दुग्ध दुहने वाली गाय को मैं बुलाता हू। इस गाय को उत्तम हाथो से युक्त दुग्ध दुहने वाला दुहे। सविता हमे श्रेष्ठ दुग्ध प्रदान करे। भट्टी गरम है इस बात को मैं कहता हू।[3]

उत्तर—महाप्रकृति ही कामधेनु गाय है। इसका वत्स प्राणरूप सूर्य है और यह ससार उस गायरूपी प्रकृति का दूध है। ज्ञानी ही इसको दुह सकता है अर्थात् वही इस ससार की वास्तविकता को जान सकता है। सविता यह मन और प्राण है। यह प्राण शरीर मे जीवन रस का सचार करता है। यह शरीर एक भट्टी है जो सदा तप्यमान रहता है और इसमे प्राण द्वारा उत्पन्न जीवन रस पकता रहता है।

(१२) आगामी रोचक पहेली एक ऋचा के चार भागो मे पूछी गई है और इससे आगे वाली सम्पूर्ण ऋचा इन चार पहेलियो को बूझती है—

इस पृथ्वी का आखिरी अन्त तुमसे पूछता हू। सब भुवन के केन्द्र के विषय मे मैं पूछता हू। बलवान् अश्व के वीर्य के विषय मे पूछता हू। वाणी का परम

१- स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान्न वि चेतदन्धः।
कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत यस्ता विजानात् स पितुष्पितासत्॥
ऋग्वेद १।१६४।१६

२ द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥ वही, १।१६४।२०

३ उप ह्वये सुदुघां धेनुमेतां सुहस्तो गोधुगुत दोहदेनाम्।
श्रेष्ठं सवं सविता साविषन्नोऽभीद्धो घर्मस्तदु षु प्रवोचम्॥ ऋक० १।१६४।२६

आकाश अर्थात् उत्पत्ति स्थान मे पूछता हू ।"[1]

उत्तर—यह वेदि पृथिवी का अन्तिम छोर है। यह यज्ञ ससार का केन्द्र है। यह सोम बलवान् का वीय है और यह ब्रह्म वाणी का परम उत्पत्ति स्थान है।[2]

अर्थात् यह वेदि अर्थात् प्रसवस्थान ही मातृत्व की पराकाष्ठा है। मातृत्व से बढ़कर और कोई तत्त्व नही इसलिए मातृत्व अन्तिम पराकाष्ठा है। स्त्री पुरुष का सयोग रूपी यज्ञ ही इस ससार का केन्द्र है। सोम अर्थात् सन्तान ही बलवान और शक्तिशाली पुरुष का वीय है। आत्मा ही वाणी का उत्पत्ति स्थान है। आत्मा किसी अभिप्राय को कहने के लिए ही इन्द्रियो से युक्त होकर वाणी उत्पन्न करता है।

(१३) तीन किरण वाले पदाथ ऋतु के अनुसार दिखाई देते हैं। इनमे से एक वष में एक बार उपजता है दूसरा शक्तियो से विश्व को प्रकाशित करता है और एक ही गति दीखती है परतु रूप नही।[3]

उत्तर—अग्नि आदित्य और वायु। अग्नि वष भर मे एक बार यज्ञ मे प्रज्वलित होती है यह सतत् प्रज्वलनशील है। उसी अग्नि से प्रतिदिन का यज्ञ निष्पन्न होता है। दूसरा सूय अपनी शक्तिशाली किरणो से समस्त ससार को प्रकाशित करता है। तीसरा वायु है जिसकी गति तो ज्ञात होती है पर रूप देखने मे नही आता।

(१४) एक चक्र को बारह अरे रहते हैं। उस चक्र की तीन नाभियाँ है। कोई विद्वान ही इसे जानता है उस चक्र मे अत्यत गति करने वाली तीन सौ साठ खूटियाँ लगी हुई हैं।[4]

उत्तर—एक चक्र अर्थात् सवत्सर रूपी चक्र है जिसमे बारह मास रूपी अरे लगे हुए है। ग्रीष्म शरद वर्षा रूपा तीन नाभियाँ हैं और ३६० दिवसरूपी कील इस चक्र मे लगी हुई है। ये दिवस रूपी कीलें सदव चलायमान हैं अर्थात सदव

---

१ पृच्छामि त्वा परम त पृथिव्या पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभि ।
पृच्छामि त्वा वृष्णो अश्वस्य रेत पृच्छामि वाच परम व्योम ॥

ऋग्वेद १।१६४।३४

२ इय वेदि परो अन्त पृथिव्या अय यज्ञो भुवनस्य नाभि ।
अय सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मा य वाच परम व्योम ॥

ऋक० १।१६४।३५

३ त्रय केशिन ऋतुथा विचक्षते सवत्सरे वपत एक एषाम ।
विश्वमेको अभि चष्टे शचीभिर्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम् ॥ वही १।१६४।४४

४ द्वादश प्रधयश्चक्रमेक त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत ।
तस्मिन्त्साक त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिता षष्टिर्न चलाचलास ॥

वही, १।१६४।४८

गति करती रहती हैं।

दूसरे प्रकार की पहेलियाँ वे हैं, जहाँ देवताओं के गुणों को वर्णित करके उनके नाम को छिपा लिया जाता है। जिन व्यक्तियों को वेदों में अभिरुचि है और उसका ज्ञान भी रखते हैं, वे सरलता से इनका देवता ढूढ सकते हैं। यथा—

१ वे जो अकेले ही वज्र धारण करके वृत्रादि का संहार करते हैं।"[1]

उत्तर—इन्द्र।

२ वे जो पवित्र हैं सुखदाता एव विकराल अपने हाथों में तीक्ष्ण आयुध धारण करते हैं।"[2]

उत्तर—रुद्र।

३- जिसने तीन परो से त्रलोक्य को नाप लिया उसके इस कम से देवता हर्षित हुए।[3]

उत्तर—विष्णु।

४ वे दो जो सूर्य के साथ प्रवासी के समान वास करते हैं।

उत्तर—अश्विनी कुमार।

इसी श्रणी के अन्तगत कतिपय अन्य ऋचायें भी है किन्तु इतनी सरल न होकर थोडी-सी दुरुह हो गई हैं। यथा—

५ गुप्त रहने वाले इसको तुममे से कौन जानता है? पुत्र होते हुए इस अग्नि ने माताओ को अपनी शक्तियो से प्रकट किया। बडा ज्ञानी निज धारक शक्तियो से युक्त सबके अन्दर रहने वाला बडे-बडे जल प्रवाहो के पास से निकल कर सचार करता है।"[5]

उत्तर— अग्नि। गुप्त रहने वाला अर्थात सभी पदार्थों मे रहने वाला पर दिखाई न देने वाला पुत्र होता हुआ भी यह अपनी माताओ को अपनी शक्तिया से पुष्ट करता है। अग्नि से पथिवी प्रदीप्त होती है विद्युत से अन्तरिक्ष और सूर्य से द्युलोक तेजस्वी होता है। विद्युत जलप्रवाहो से युक्त मेघ से निकलकर सचार करती है।

प्रस्तुत अध्ययन मे कतिपय चुनी हुई प्रहेलिकायें ही विस्तार से वर्णित हैं

---

१ वज्रमेको विभर्ति हस्त आहित तेन वृत्राणि जिघ्नते। ऋग्वेद ८।२९।४

२ तिग्ममेको बिभर्ति हस्त आयुध शुचिरुग्रो जलाषभेषज ॥ वही, ८।२९।५

३ त्रीण्येक उरुगायो विचक्रमे यत्र देवासो मदन्ति। वही ८।२९।७

४ विभिद्वा चरत एकया सह प्र प्रवासेव वसत। वही, ८।२९।८

५ क इम वो निण्यमा चिकेत वत्सो मातॄर्जनयत स्वधाभि।
बह्वीना गर्भो अपसामुपस्थान्महान् कविर्निश्चरति स्वधावान्। वही, १।९५।४

इनके अतिरिक्त भी ऋग्वेद मे बहुत-सी प्रहेलिकायें हैं।[1]

उपयुक्त उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि सामान्यत संस्कृत साहित्य में और विशेषतया वैदिक भाषा मे वाक्य रचना के विशिष्ट प्रकार को पहेली का नाम दे दिया जाता है, यदि हम आधुनिक दृष्टिकोण से देखें तो शायद इन्हें पहेली न कहे, परन्तु संस्कृत मे बहुविध पहेलियाँ हैं अर्थात पहेलियो के इतने प्रकार हैं कि इन्हे पहेली के अन्तर्गत लिया जा सकता है। संस्कृत इतना विस्तृत और समृद्ध साहित्य है कि इसमे पहेलियो के जितने पर्याय हैं उतनी आज पहेलियाँ भी नहीं हैं।[2]

समग्र विवेचन के पश्चात यह निष्कर्ष निकलता है कि पहेलियाँ संस्कृत साहित्य का एक विस्तृत एवं पृथक तथा आवश्यक अंग हैं। इन्हे मुक्तक शैली के अन्तर्गत रखा जा सकता है। प्रत्येक पहेली स्वयं मे एक अलग ऋचा है। भारतवर्ष में प्रारम्भ से ही इनका प्रचलन अधिक रहा इसी कारण से हम देखते हैं कि काव्य रचयिताओ ने अपने अभीष्ट को साधारणतया न कहकर घुमा फिराकर और उसमे गूढ़ता निहित करके पाठको के समक्ष रखा। पहेलियो को चौंसठ कलाओ मे से एक कला के रूप मे स्वीकार किया गया है।

४ मेला अथवा उत्सव

ऋग्वेद-काल मे उत्सव की भी व्यवस्था थी। मेला लगता था जिसम निवासियो को मनोरंजन का अवसर मिलता था। कलाकार तथा विज्ञ जन साग्रह उसमें भाग लेते थे। मेले के वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि विभिन्न प्रकार की रुचि वाले जनो का यह एक सामूहिक अभिरुचि का केन्द्र था। सम्भवत कलात्मक प्रतियोगिताओ को भी इस उत्सव मे स्थान मिलता था।

ऋग्वेद मे उत्सव के लिए समन शब्द का प्रयोग मिलता है किन्तु ऋग्वेद मे यह कुछ संदिग्ध आशय वाला शब्द है। रॉथ[1] ने इसके दो अनुवाद किये हैं युद्ध अथवा उत्सव[2]। वैदिक इण्डक्स[3] मे पिशेल के मत को उद्धृत किया गया है उनके मतानुसार यह एक सामान्य उत्सव था। इसमे स्त्रियाँ अपने मनोरंजन हेतु जाती

---

१ ऋग्वेद १।६८।४ १।१२४ सम्पूर्ण ५।५८।७ ६।५६।५ ६।६।२६।४, १०।१२।६ १०।२८।४ १०।२८।६ १०।३२। तीसरा भाग १०।५३।११ १०।१०२।५ १।१०२।१० १०।११४।६ १०।१२१।१०

२ इण्डियन रिडिल्स ल्युडविक स्टेनबक पृ० ३५

१ सैंट पीटर्सबर्ग कोश द्रष्टव्य वर्णक्रमानुसार।

२ ऋग्वेद ६।७५।३। ५, ८।६६।६ १०।१४३।४।

३ वही २।१६।७ ६।६०।२ ७।२।५ ८।१२।६ ६।६७।४७ १०।५५।५ ८६।१०।

४ वैदिक इण्डेक्स भाग २ पृ० ४२६।

थीं। वे समन[1] में अलंकृत और प्रसन्न बदन होकर आती थीं[2], इसमें कहा गया है कि घृत की धारायें अग्नि की ओर इस प्रकार प्रवाहित होती हैं जैसे कल्याणी[3] (सुन्दर वेश-धारिणी) मुस्कुराती हुई युवतियाँ समन की ओर जाती हैं। ऋग्वेद मे इसका अनेक बार उल्लेख हुआ है।[2] समन विवाह के योग्य अवस्था के युवा और युवतियों को विवाह का साथी चुनने में भी बड़े सहायक सिद्ध होते थे। अविवाहित युवा कन्यायें (अग्रुव) अपने योग्य युवको को आकर्षित करने के लिए सुन्दर वस्त्र तथा अलकरण धारण करके 'समन मे जाती थी।[3] सम्भवत युवतियो के इस कार्य से घर के बड़ लोग असन्तुष्ट नहीं होते थे प्रत्युत मातायें अपनी पुत्रियो को अलंकृत करके समन मे जाने को लिए उत्साहित करती थी[4]। इससे विदित होता है कि अविवाहित कन्या को घर से बाहर निकलने और स्वयं पति चयन की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त थी।

समन मे कविगण प्रसिद्धि प्राप्त करने के लिए[5] और अश्व दौड के लिये[6] जाते थे। समन धनुधारियो के उत्कर्ष की कसौटी था। धनुर्विद्या का प्रदर्शन करने के लिए धनुर्धारी समन म आते थे।[7] एक स्थल पर धनुष की प्रत्यंचा के माधुर्य की उपमा स्त्री के मधुर शब्द स की गई है।[8] एक अन्य ऋचा मे वीरो की पीठ पर बंधे हुए वाणो के तरकश से निकले हुए बाणो से सगठित हुए प्रतिद्वन्द्वियो को जीतने का उल्लेख प्राप्त होता है।[9]

समन मनुष्यो को काम करने को प्रेरित करता था और धनेच्छुओं को प्रेरित करता था। वह उत्सव प्रात काल तक चलता था।[10] इसे रॉथ ने व्यवसाय के लिए जाने वाले व्यक्तियो के आशय मे ग्रहण किया है।[11]

समन की यूनान के इन उत्सवो के साथ अत्यन्त समानता है जिसमे युवतियाँ मुक्त रूप से अपरिचितो से मिलती थीं और जो बाद मे परम्परा के अनेक

---

१ अभि प्रव न्त समनेव योषा कल्याण्य स्मयमानासो अग्निम। ऋग्वेद ४।५८।८।
२ वही १।४८।६ १२४।८ ४।५८।८ ६ ७।२।५ ६।४ १०।८६।१०।
३ पूर्वी शिशु न मातरा रिहाणे समग्रुवो न समनेष्वञ्जन। वही ७।२।५।
४ सुसङ्काशा मातृमृष्टेव योषा विस्तन्वं कृणुषे दृशेकम्। ऋग्वेद १।१२३।११।
५ वसान शर्म त्रिवरूथमप्सु होतेव याति समनेषु रेभन्। वही ९।९७।४७।
प्र न नाव न समने वचस्युव ब्रह्मणा यामि सवनेषु दाधृषि। वही २।१६।७।
६ सङ्क्षधार शतवाज इन्दुर्वाजी न सप्ति समना जिगाति। वही ९।९६।९।
७ वही ६।७५।३ ५।
८ योषेव शिङ्क्ते वितताधि धन्वञ्ज्या इयं समने पारयन्ती। वही ६।७५।३।
९ इषुधि सङ्का पृतनाश्च सर्वा पृष्ठे निनद्धो जयति प्रसूत। वही ६।७५।५।
१० वि या सृजति समन व्यर्थिन पद न वेत्योदती। वही १।४८।६।
११ वैदिक इण्डक्स भाग २ पृ० ४२९ (पादटिप्पणी में उद्धृत)।

सुखान्त नाटकों की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करते हैं।[1]

इस प्रकार ऋग्वैदिक समय मे मेले आदि का आयोजन होता था, जिनमें लोकमनोरजन के लिए विभिन्न कार्यक्रमों का आयोजन दृष्टिगत होता है।

५ सगीत

ऋग्वदिक नाना विध मनोरंजन के साधनो मे सगीत का भी पर्याप्त परिचय प्राप्त होता है। ललित कलाओ मे नृत्य गीत वाद्य-सभी का आविर्भाव हो चुका था। प्रतिस्पर्धामूलक दौड और आखेट के अतिरिक्त वदिक काल मे सगीत प्रभृति रचनात्मक कला की तीनो विधाओ के प्रसग प्राप्त होते है।

अ गायन—

वेदपाठ करने का ढग ही सुर ताल और लय पर आधारित है। ऋषि गण अपने आराध्य देवो की प्रशसा मे स्तोत्र रचना करते थे और उन प्रशसापरक स्तुतियो को छन्द और लय की एकरूपता प्रदान कर गाया करते थे। वस्तुत सगीत अथपूर्ण ध्वनि की जीती जागती प्रतिमूर्ति है।

ऋग्वेद मे गायक के लिए गाथिन् शब्द का प्रयोग आता है।[2] गायक इन्द्र का गान करते हैं अनेक मन्त्रो से उसकी अचना करते हैं और सामान्य जन अपनी वाणियो से इन्द्र की ही उपासना करते हैं।[3] ऋग्वेद मे गीत के लिये गाथा शब्द का प्रयोग किया गया है और बहुश[4] गाथा के गान का वणन आया है। शीघ्रता से काम करने वाले इन्द्र के सोम पान से उत्पन्न उत्साह मे किये गये कर्मो का वणन गाथा के रूप मे गाये जाने का उल्लेख है।[5] एक अन्य ऋचा मे भी इन्द्रदेव के लिए गाथा गायन का चित्रण किया गया है।[6]

अन्यत्र व्यापक तेज वाले अग्नि देव से अपनी रक्षा के लिए तथा धन प्राप्ति के लिए गाथा-गायन का निवेदन प्राप्त होता है।[7] इसी प्रकार सोमदेव के लिए भी स्तोत्रों का गायन उल्लिखित है।[8]

वैदिक इण्डक्स मे गाथा शब्द के अथ का आलोचनात्मक विवरण प्रस्तुत

---

१ वैदिक इण्डक्स भाग २ पृष्ठ ४२१ (पादटिप्पणी मे उद्धृत)

२ इन्द्रमिद्गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किण । इन्द्र वाणीरनूषत । ऋग्वेद, १।७।१।

३ वही।

४ वही ८।३२।१ ७१।१४ ९८।९ ९।११।४ ९९।४। गायद् गाथ सुत सोमो दुवस्यन्। वही १।१६७।६।

५ प्र कृतान्यृजीषिण कण्वा इन्द्रस्य गाथया। मदे सोमस्य वोचत। वही ८।३२।१।

६ युञ्जन्ति हरी इषिरस्य गाथयो रौ रथ उरुयुगे। इन्द्रवाहा वचोयुजा। वही ८।९८।९।

७- अग्निमीळिष्वावसे गाथाभि शीरशोचिषम्। वही, ८।७१।१४।

८ सोमाय गाथमर्चत। वही ९।११।४।

करते हुए इस शब्द के विविध स्थलों पर दिए गए अर्थ की भी विवेचना की गई है।[1] ऐतरेय आरण्यक मे उस स्थल पर इसके पद्यबद्ध होने का उल्लेख है जहाँ ऋच्, कुम्भ्या और गाथा को मन्त्रों का पृथक-पृथक् स्वरूप कहा गया है। ऐतरेय ब्राह्मण के ऋच् और गाथा का क्रमश दैवी और मानवीय होने के रूप मे विभेद किया गया है। शतपथब्राह्मण मे अनेक गाथायें सुरक्षित हैं जो सामान्यतः इसी वर्णन से सहमत हैं कि इनमे प्रसिद्ध राजाओं के यज्ञो के विवरण के सारांश सुरक्षित हैं। मैत्रायणी संहिता यह व्यक्त करती है कि विवाह के समय गाथा आनन्दप्रद होती है, जबकि तैत्तिरीयब्राह्मण मे इसका तात्पर्य अवश्य ही एक उदार दानी की प्रशस्ति होना चाहिए। सैंट पीटर्सबर्ग शब्दकोश के अनुसार विषयवस्तु की दृष्टि से गाथाय यद्यपि धार्मिक होती थी तथापि ऋच, यजुस और सामन् की तुलना मे इन्हे अवैदिक कहा गया है।[2] प्रत्येक मे बहुधा गाथा' का अथ केवल 'गीत' या मन्त्र ही विदित होता है।

गाजाओ के स्वामी के लिये गाथपति शब्द का प्रयोग मिलता है।[3]

गाथानी गीत के लिए व्यवहृत शब्द है।[4] सायण 'गाथान्य' का अर्थ गाथेति करते हैं।[5] शुद्ध रूप से गाने वाले को ऋजुगाथ कहा गया है।[6]

इन प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वैदिक ऋषियो ने सभ्यता की आदिम अवस्था मे भी अपने इष्टदेव की प्रशंसा मे स्तोत्रो की रचना एव गायन द्वारा अपनी बुद्धिशक्ति और कल्पना शक्ति को पर्याप्त रूप मे उभारा।

(आ) वादन

ऋग्वैदिक जन गायन के साथ साथ वादन से पूर्ण परिचित था। कठ संगीत के साथ यन्त्रादि बजाए जाते थे। ऋग्वेद मे विविध वाद्य-यन्त्रो का उल्लेख किया गया है। यथा —

(क) दुन्दुभि—ध्वनि की अनुकृति पर बना 'दुन्दुभि' शब्द युद्ध एव शान्ति काल मे बजाये जाने वाले एक वाद्य विशेष का नाम है। दुन्दुभि प्रत्यक्षत एक ध्वन्यानुकरणात्मक शब्द है। उलूखल से विजयी लोगो के खेल की भाँति ध्वनि

१ वैदिक इण्डक्स भाग १ पृ० २२४ २२५।

२ सट पीटर्सबर्ग कोश द्रष्टव्य वर्णक्रमानुसार।

३ गाथपतिं मेधपतिं रुद्र जलाषभेषजम्। तच्छयो सुम्नमीमहे। ऋग्वेद १।४३।४।

४ वही १।१९०।१ ८।९२।२।

५ द्रष्टव्य १।१९०।१ ऋचा पर सायण भाष्य।

६ धारवाकेष्वृजुगाथ शोभसे वर्धस्व पत्नीरभि जीवो अध्वरे।

ऋग्वेद ५।४४।५।

करने को कहा गया है ।[1]

सम्भवतः दुन्दुभि शुभसूचक मानी जाती थी । इसीलिए दुन्दुभि से कहा गया है कि वह पृथिवी और द्युलोक को अपने जयघोष से भर दे । विशेष रूप से स्थिर हुआ जगत् दुन्दुभि के शब्द को अनेक प्रकार से सम्मान दे । दुन्दुभि इन्द्र और अन्य देवों के साथ रहकर अत्यन्त दूर रहने वाले शत्रुओं को भी नष्ट कर दे ।

दुन्दुभि विजय घोष के लिए बजाई जाती थी । विजय पताका के साथ-साथ इसकी कर्णभेदी ध्वनि की गूंज सुनाई देती थी । एक ऋचा मे इन्द्रदेव से कहा गया है कि वह शत्रु सेना को हरा दे प्रार्थयिता की सेनाओं को वापस लौटा दे । दुन्दुभि झण्ड के साथ अत्यन्त शब्द करती रहे ।[3]

(ख) कर्करि— यह एक वाद्ययन्त्र है । कीथ और मक्डानल के मतानुसार सम्भवत यह वीणा ही है ।[4] ऋग्वेद मे शकुन पक्षी की ध्वनि को कर्करि के समान बताया गया है ।[5]

(ग) आघाटि—यह एक वाद्य यन्त्र है । वैदिक कोश के अनुसार आघाटि एक वाद्य यन्त्र अथवा करताल है जो नृत्य मे ताल के लिये खडकाया जाता है ।[6] वैदिक इण्डक्स के लेखको का भी यही मत है उनके कथनानुसार आघाटि नृत्य की संगत मे प्रयुक्त एक वाद्य-यन्त्र मजीरा है ।[7] ऋग्वेद मे एक स्थल[8] पर इसका उल्लेख किया गया है, इसमे कवि को ऐसा प्रतीत होता है कि एक जन्तु शब्द करता है और दूसरा प्रत्युत्तर देता है इस प्रकार मानो वाद्य यन्त्र (आघाटि) से ध्वनि निकालते हुए अरण्यानी का यशोगान किया जा रहा है ।

(घ) गर्गर—प्रत्यक्षत एक वाद्य यन्त्र का नाम है । ऋग्वेद मे केवल एक बार गर्गर शब्दायमान बाजे के रूप मे उल्लिखित है ।[9]

(ङ) गोधा—ऋग्वेद मे केवल तीन स्थलों[10] पर गोधा शब्द का प्रयोग आया

---

१ यच्चिद्धि त्वं गृहेगृह उलूखलक युज्यसे । इह द्युमत्तम वद जयतामिव दुन्दुभि ॥ ऋग्वेद १।२८।५ ।

२ उप श्वासय पृथिवीमुत द्यां पुरुत्रा ते मनुतां विष्ठितं जगत् ।
स दुन्दुभे सजूरिन्द्रेण देवैर्दूराद् दवीयो अप सेध शत्रून् ॥ वही ६।४७।२९

३ आमूरज प्रत्यावर्तयेमाः केतुमद् दुन्दुभिर्वावदीति । वही ६।४७।३१

४ वैदिक इण्डक्स भाग १ पृ० १३९ ।

५ यदुत्पतन् वदसि कर्करिर्यथा बृहद् वदेम विदथे सुवीराः । ऋग्वेद २।४३।३

६ वैदिक कोश सूर्यकान्त द्रष्टव्य वर्णक्रमानुसार ।

७ वैदिक इण्डक्स भाग १ पृ० ५३ ।

८ आघाटिभिरिव धावयन्नरण्यानिर्महीयते । वही १०।१४६।२ ।

९ अव स्वराति गर्गरो गोधा परि सनिष्वणत् । वही ८।६९।९ ।

१० वही १०।२८।१० ११, ८।६९।९ ।

है । प्रथम दो स्थलों पर (१०।२८।१० ११) गोधा का अर्थ 'धनुर्ज्या' निश्चित है दूसरी ऋचा (८-६९।६) में भी यह सम्भव है किन्तु रॉथ और हिलेब्रांट इस शब्द का आशय वाद्य-यन्त्र स्वीकार करते हैं ।[1]

(च) पिंगा—ऋग्वेद मे केवल एक स्थान[2] पर पिंगा शब्द का प्रयोग हुआ है सेंट पीटसबर्ग कोश[3] में सायणानुसार इसकी 'प्रत्यञ्चा' के रूप में व्याख्या की गई है किन्तु हिलेब्रांट का विचार है कि यहाँ कोई वाद्य-यन्त्र अभिप्रेत है ।[4]

(छ) नाडी—नाडी शब्द नड से बने किसी वाद्य य त्र के लिये आया है ऋग्वेद में एक स्थल पर यजमान को सुख देने वाले वेण वादन का उल्लेख आता है ।[5]

(ज) बकुर—ऋग्वद में केवल एक स्थान पर इसका उल्लेख मिलता है[6] इसमे अश्विनी देवो ने दस्युओ की ओर अपने बकुर' को फू ककर आर्यों के लिए प्रकाश उत्पन्न किया था । यास्क बकुर से वज्र' का आशय ग्रहण करते है । कीथ तथा मक्डॉनल राथ के दृष्टिकोण से सहमत प्रतीत होते हैं जिन्होन फूके गये उपकरण बकुर को एक वाद्य-यन्त्र स्वीकार किया है ।[8]

(झ) वाण—सटपीटसबग कोश के अनुसार वाण वाद्य सगीत का द्योतक है । मरुत देवो के सोमपान से उद्भ त आनन्द से वाण बाजा बजाकर रमणीय गानो का सजन किया ।[9] एक अन्य स्थल पर सोम के उद्देश्य से मित्ररूप याजक का साथ साथ वाण वाद्य बजाने का उल्लेख किया गया है ।[10] अन्यत्र ऋषि सोभरि के सुवर्णमय रथ के आसन पर स्वरो क साथ अर्थात् गाना सहित वाण नामक बाजा बजाये जाने का वणन प्राप्त होता है ।[11]

ऋग्वद[12] मे इस वाद्य यन्त्र की सात धातुओं' का स्पष्ट उल्लेख किया गया

---

१ वदिक इण्डक्स भाग १ पृ० २३७ ।
२ ऋग्वद ८।६९।९ ।
३ सेंट पीटसबग कोश द्रष्टव्य वर्णक्रमानुसार ।
४ वदिक कोश-द्रष्टव्य वर्णक्रमानुसार ।
५ इयमस्य धम्यते नाळीरय गीर्भि परिष्कृत । ऋग्वेद १०।१३५।७ ।
६ अभि दस्यु बकुरेण धमन्तोरु ज्योतिश्चक्रथुरार्याय । वही १।११७।२१ ।
७ निरुक्त ६।७५ ।
८ वदिक इण्डक्स भाग २ पृ० ५८ ।
९ धम नो वाण मरुत सुदानवो मदे सोमस्य रण्यानि चक्रिरे । ऋग्वेद १।८५।१० ।
१० आक्रन्द्य पवमान सखायो दुमर्ष साकं प्र वदन्ति वाणम् ।। वही, ९।९७।८ ।
११ गोभिर्वाणो अज्यते सोभरीणारथे कोशे हिरण्यये । वही, ८।२०।८ ।
१२ माता य मन्तुयू थस्य पूर्व्याभि वाणस्य सप्तधातुरिज्जन । वही १०।३२।४ ।

है। किन्ही टीकाकारा ने इस ब्याहृति से छन्द' का आशय लिया है,[1] यदि 'छन्द' अर्थ स्वीकार किया जाए तो यह प्रथम अर्थ (धातु) से भिन्न हो जायेगा।

(ञा) वाणीची ऋग्वेद मे एक स्थल[2] पर आया हैं। यहाँ सेंट पीटर्सबर्ग कोश के अनुसार वाणीची' से एक वाद्य-यन्त्र का आशय लिया गया है।

इस प्रकार ऋग्वदिक वाद्य यन्त्रो से तत्कालीन सगीत विषयक रुचि का पर्याप्त परिचय प्राप्त होता है। केवल स्वर ही नहीं स्वर को लययुक्त बनाकर वाद्य के साथ उसका प्रस्तुतीकरण ऋग्वदिक समाज की अभिरुचि थी।

(इ) नत्य

ऋग्वद मे ताल लय के साथ-साथ अग-सचालन का भी परिचय प्राप्त होता है, नत्य तत्कालीन मनोरजन का साधन रहा होगा ऐसा जान पडता है।

ऋग्वद काल मे पुरुष और स्त्रियाँ दोनो नत्य करते थे कितु सम्मिलित नत्य का काई सन्दभ कहीं प्राप्त नही होता।

(क) पुरुष नत्य के प्रसग—

ऋग्व द मे पुरुष द्वारा बाँस पर चढ़कर नत्य करने की परम्परा का आभास मिलता है प्रथम मण्डल मे एक दृष्टान्त के रूप मे ऐसे ननक का वणन आया है[3] जसे नतक बाँस को ऊँचा करके उस पर नत्य करता है उसी प्रकार इन्द्र को स्तोत्रो द्वारा ऊचा करके उसकी उच्चता का प्रतिपादन किया जाता है। सायण ने वशमिव का अथ किया है यथा—वशाग्रे नत्यन्त शिल्पिन प्रौढ वशमुन्नत कुर्वन्ति।[4] नतक को नत कहा जाता था।[5]

(ख) स्त्री नतन के प्रसग—नतकी को नत' कहा जाता था।[6] बडी सुन्दरता से उषस की तुलना नतकी से की गई है। उषा नतकी के समान विविध रूपो का धारण करती है।[7] प्रस्तुत ऋचा म सम्भवत ब्यावसायिक नर्तकी का वर्णन किया गया है जो कढाई ार रेशमी वस्त्रों (पेशांसि) को धारण करती थी और नत्य के समय अपन वक्षस्थल को अनावरित रखती थी। इसमे विदित होता है कि इस प्रकार का नत्य सवसाधारण के व्यवहार मे नही रहा होगा क्याकि ऋग्व द म

१ वदिक इण्डक्स भाग २ पृ० ३१८।
२ सुष्टुभो वा वषण्वसूरथे वाणीच्याहिता। ऋग्वद ५।७५।४।
३ ब्रह्मणस्त्वा शतक्रत उद् वशमिव यमिरे। वही १।१०।१।
४ वही।
५ द्रष्टव्य प्रस्तुत ऋचा पर सायणभाष्य।
६ ऋग्वेद, १।१३०।७।
७ वही १।९२।४।
८ वही, १।९२।४।

अन्यत्र[1] स्त्रियों के पूर्णतया वस्त्रों से आवृत सुन्दर रूप का वर्णन किया गया है।

(च) अन्य प्रसंग—एक स्थल[2] पर अन्त्येष्टि संस्कार के वर्णन मे 'नृति' को हास के साथ संयुक्त किया गया है। यद्यपि यह स्पष्ट है कि इससे किसी सुखद समारोह का अर्थ है, तथापि यहाँ इससे नृत्य का ही आशय है, ऐसा निश्चित रूप से कह सकना कठिन है।[3] श्री ए० सी० दास के मतानुसार अन्त्येष्टि के बाद सम्भवत नृत्य आदि की परम्परा रही होगी जिससे दु खपूर्ण वातावरण को परिवर्तित किया जा सके।[4]

एक ऋचा[5] मे नृत्य करते हुए नर्तक के पैर से उड़ती हुई धूलि का वर्णन किया गया है। सम्भवत तीव्रता से नाचने के कारण नर्तक के पैरों से उडती हुई धूल बादलो का-सा रूप धारण कर लेती है। प्रस्तुत सभी उदाहरण नृत्य के परिपोषक सदर्भो को पुष्ट करते हैं।

झूला

ऋग्वैदिक समाज झूला झूलने रूप मनोरजन के साधन से सर्वथा अनभिज्ञ नही था। सातवें[6] मण्डल मे झूला झूलने की परम्परा का सकेत प्राप्त होता है।

एसा प्रतीत होता है कि दर्शनशास्त्र की भाँति परोक्ष रीति से आत्मज्ञान को प्रबोधित कर जीवन के रहस्य का भेद खोजना तथा अनन्त और अव्यक्त की ओर खीचना ऋग्वैदिक सगीत का ध्येय था। कठ सगीत यत्र सगीत और छद तथा लय के साथ गति की भगिमा और अग प्रत्यगो का संचालन वर्तमान समय की भाँति ऋग्वैदिक जनो मे भी समान रूप से लोकप्रिय था।

७ जुआ

द्यूत ऋग्वैदिक आर्यो के मनोरजन का एक लोकप्रिय साधन था। जुआ ऋग्वैदिक कुरीतियो मे सर्वप्रमुख है। एक सम्पूर्ण सूक्त इसके निमित्त समर्पित है। अनेकश जुआरी का उल्लेख हुआ है किन्तु इसे घृणा की दृष्टि से देखा गया है और समाज के सदस्यो द्वारा अवगर्हित रहा है। मानसिक सघर्ष और जुए से होने वाली हानियो का बडा मनोवैज्ञानिक वर्णन प्राप्त होता है पिता द्वारा जुआरी पुत्र

---

१ यो वा यज्ञेभिरावृतोऽधिवस्त्रा वधूरिव। सपर्यन्ता शुभे चक्राते अश्विना।
अयमु त्वा विचर्षणे जनीरिवाभि सवृत। ऋग्वेद, ८।२६।१३।
प्र सोम इन्द्र सर्पतु। वही ८।१७।७।

२ इमे जीवा वि मृतैराववृत्रन्नभूद्भद्रा देवहूतिर्नो अद्य।
प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय द्राघीय आयु प्रतर दधाना वही १०।१८।३।

३ वैदिक इन्डेक्स भाग १, पृ० ४५७-५८।

४ ए० सी० दास० ऋग्वैदिक कल्चर पृ० २३२।

५- अत्रा वो नृत्यतामिव तीव्रो रेणुरपायत। ऋग्वेद, १०।७२।६।

६ गर्तो राजा वरुणश्चक्र एत दिवि प्रेङ्खं हिरण्यय शुभे कम्। वही, ७।८७।५।
अधि यदपां स्नुभिश्चराव प्र प्रेङ्ख ईङ्खयावहै शुभे कम्। वही, ७।८८।३।

को प्रवाहित करने का चित्रण है और जुए को छोड़ देने का उल्लेख है सद्वृत्ति से धनार्जन करके अपने पारिवारिक दायित्वों को उठाने का आग्रह है।

(अ) जुए के लिए प्राप्त प्रसंग—जुए को मनोविनोद के एक साधन के रूप में अपनाया जाता था। जुआरी जुआ खेलकर और पासों की क्रीडा को देखकर निरन्तर उत्साहित होता था और सोमपान के समान हर्ष को प्राप्त करता था।[1] जिनके द्वारा जुआ खेला जाता था उन गोटियों को अक्ष कहते थे।[2] 'दीव्' भी पासे के खेल का द्योतक है, स्पष्टतया वर्णित है कि द्यूत के स्थान में पासे डाले गए।[3] पंचम मण्डल में भी जुए के लिए 'दिव्' का प्रयोग हुआ है।[4]

(आ) जुए के उपकरण—जुआ कैसे खेला जाता था इसका स्पष्ट विवरण तो ऋग्वेद में नहीं मिलता किन्तु इसके लिए पासों का प्रयोग किया जाता था जिन्हें फेंककर खेल खेला जाता था सामान्यतया ये विभीदक से बने होते थे।[5] अक्ष सूक्त में भी ऐसा ही विवरण प्राप्त होता है।[6] पासे भूरे रंग के होते थे। ऋग्वेद में पासा फेंकने वाले को एक बड़े दल का नायक (सेनानीरमहतोगणस्य) कहा गया है।[8] पासे की संख्या के विषय में एक स्थान पर इन्हें 'त्रिपञ्चाश' कहा गया है[9] परन्तु इस शब्द के अनेक अर्थ किए गए हैं। ल्युडविग वेबर जिमर ने इसका अर्थ पन्द्रह बताया है जो व्याकरण की दृष्टि से सम्भव प्रतीत नहीं होता। ल्यूडर्स ने इसे एक सौ पच्चीस की संख्या माना है परन्तु यह निर्देश भी कर दिया है कि यह एक बड़ी संख्या का अस्पष्ट अभिव्यक मात्र हो सकता है।[10] रॉथ और ग्रासमन ने अपने अनुवाद में इसका अर्थ तरेपन किया है।[11]

---

१ प्रावेपा मा बृहतो मादयन्ति प्रवातेजा इरिणे वर्वृतानाः।
सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो विभीदको जागृविर्मह्यमच्छान्॥

ऋग्वेद १०।३४।१।

२ वही।

३ पीवानं मेषमपचन्त वीरा न्युप्ता अक्षा अनु दीव आसन्। वही १०।२७।१७।

४ नहीं निरेवन्त ग्रते ऋ० ५।८५।८ पर सायण भाष्य।

५ न स स्वो दक्षो वरुण ध्रुतिः सा सुरा मन्युर्विभीदको अचित्तिः।

ऋग्वेद ७।८६।६।

६ वही १०।३४।१।

७ न्युप्ताश्च बभ्रवो वाचमक्रत एमीदेषां निष्कृतं जारिणीव। वही, १०।३४।५।

८ यो वः सेनानीर्महतो गणस्य राजा व्रातस्य प्रथमो बभूव।

वही १०।३४।१२।

९ त्रिपञ्चाशः क्रीळति व्रात एषां देव इव सविता सत्यधर्मा। वही, १०।३४।८।

१० वैदिक इण्डेक्स में निर्दिष्ट भाग १ पृ० २।

११ ऋग्वेद १०।३४।८ के सायण भाष्य पर आधारित।

सामान्य खेल में पासे फेंके जाते थे।[1]

खेलने के लिए किसी तख्ते अथवा पट का प्रयोग खेलने मे नहीं आता। सम्भवत पृथ्वी पर ही जहाँ पासा फेंकते थे थोड़ा-सा स्थान (इरिण) बना लेते थे।[2] पासे की फेंक को 'ग्राभ' कहा जाता था।[3]

(इ) जुआरी के लिए प्रयुक्त शब्द

(क) कितव—जुआरी के लिए 'कितव शब्द का प्रयोग किया गया है। सम्पूर्ण अक्ष सूक्त मे जुआरी को कितव' नाम से अभिहित किया गया है।[4] अन्यत्र भी जुआरी को कितव कहा गया है।[5] पचम मण्डल मे भी एक स्थल पर जुआ खेलने वाले के लिए 'कितव शब्द का प्रयोग आया है।[6]

(ख) श्वघ्नी—ऋग्वेद मे स्पष्ट रूप से यह शब्द खेलने वाले' अथवा पेशेवर खेलने वाल के अथ मे आया है। प्रो० वेबर के अनुसार सम्भवतया मूलत इसका अर्थ शिकारी है।[8]

(ई) जुए में छल-कपट का प्रयोग

पचम मण्डल के ८५ वें सूक्त की आठवीं ऋचा मे जुआरी का खेल में छल पूवक व्यवहार एव एक दूसरे पर दोषारोपण का वर्णन प्राप्त होता है। वरुण देव से प्राथना की गई है— कि जिस तरह जुआरी जुए में एक दूसरे पर दोषारोपण करते है उसी प्रकार हम पर भी लोगो ने जो मिथ्या दोषारोपण किया हो अथवा जो वस्तुत हमने अपराध किया हो और जिस अपराध को हम न जानते हो बन्धन को शिथिल करने के समान उन सारे अपराधो से हमे मुक्त करें जिससे हम तेरे प्रिय बने रहे।[9]

---

१ ऋग्वेद १०।३४।१ ८ ६।

२ वही १०।३४।१।

३ अस्येदिन्द्रो मदेष्वा ग्राभ गृभ्णीत सानसिम्। वही ६।१०६।३।
  आ त इन्द्र क्षुमन्त चित्र ग्राभ स गभाय, महाहस्ती दक्षिणन। वही ८।८१।१

४ वही १०।३०।३ ७ १० ११, १३।

५ वही २।२६।५।

६ कितवासो यद्रिरिपुन दीवि यद्वा घा सत्यमुत यन्न विद्म।
  कितवास कितवाद्यूतकृत। द्रष्टव्य– ऋग्वेद ५।८५।८ पर सायण भाष्य।

७ ऋग्वेद १।९२।१०, २,१२।४, ४।२०।३, ८।४५।३८।

८– निर्दिष्ट वैदिक इन्डेक्स भाग २, पृ० ४०५।

९ कितवासो यद् रिपुर्न दीवि यद्वि वा घा सत्यमुत यन्न विद्म।
  सर्वाता विष्य शिथिरेव देवा आ ते स्याम वरुण प्रियास। ऋग्वेद ५।८५।८

(घ) प्रतिपक्षी से बदले की भावना

जुए के खेल मे व्यक्ति अपने को अतिशयित रूप से संयत कर लेने पर भी पुन पुन जुआ खेलने को उद्यत बना रहता है। निरन्तर अपने प्रतिपक्षी को हराने की भावना बार बार उसे उससे बदला लेने के लिए प्रेरित करती रहती है। ऋग्वेद, म एक स्थल पर कहा गया है— जुआरी जिससे हार जाता है उसे ढूढ कर हराने का प्रयत्न करता है जैसे कुकम करने वाल को इन्द्र हरा देता है।[1]

अन्यत्र जुआरी अक्षो से यह प्रार्थना करता है कि—'हमको मित्र मानकर हमारा कल्याण करो। हम पर अपना विपरीत प्रभाव मत डालो। तुम्हारा क्रोध हमारे शत्रुओ पर हो वही तुम्हारे चगुल मे फस रहे।'[2] इसम विदित होता है कि जुआरी अपने प्रतिपक्षी के प्रति सदैव ईर्ष्या की भावना से युक्त होता है और उसके अहित की कामना करता है।

दशम मण्डल के ४३ वें सूक्त की पाँचवी ऋचा मे भी जुआरी के जीतने की आशा द्योतित होती है। अक्ष सूक्त की एक ऋचा मे स्पष्टतया वर्णित है कि जुआरी उत्साहपूर्वक जीतने की आशा स जुए के स्थान पर पहुँचता है।[3] यद्यपि वह अनेक बार यह निश्चय करता है कि अब द्यूत नही खेलेगा।

(ङ) जुए से मानसिक अशांति

सम्पूर्ण अक्ष सूक्त वैदिक जीवन म दुर्व्यसन के कारण व्यक्ति की निराशा असन्तोष विषाद विक्षोभ आदि की अभिव्यक्ति करने के लिए बडा सफल प्रयास है। जुआरी जुआ खेलता है किन्तु उसकी जय पराजय खेलने वाले के अन्तर्मन को व्यथित तथा हर्षित कर देती है जब हाथ की चाल बिगड जाती है तब पाशा विद्रोही हो जाता है वह जुआरी के अनुकूल नही चलता तब वही पाशा जुआरी के हृदय म बाण के समान प्रविष्ट होता है छुरे के समान त्वचा को काटता है अकुश के समान चुभता है और तपे हुए लौह के समान दग्ध करने वाला होता है। जो जुआरी जीतता है उसी मे ससार भर का माधुर्य भर जाता है परन्तु पराजित जुआरी का तो मरण ही हो जाता है।[4]

---

१ उत प्रहामतिदीव्या जयाति कृत यच्छ्वघ्नी विचिनोति काले।

ऋग्वेद १०।४२।९।

२ कृत न श्वघ्नी विचिनोति। वही १०।४३।५।

३ सभामेति कितव पृच्छमानो जेष्यामीति तन्वा शूशुजान। वही, १०।३४।६।

४ वही १०।३४।५।

५ अक्षास इदङ्कुशिनो नितोदिनो निकृत्वानस्तपनास्तापयिष्णव।
कुमारदेष्णा जयत पुनर्हणो मध्वा सम्पृक्ता कितवस्य बर्हणा॥

वही १०।३४।७।

जुआरी अनेक बार जुए के परित्याग का निश्चय करने पर भी, जब अपने साथियों को क्रीड़ार्थ जाते हुए देखता है और गोटियों की खनखनाहट का मादक संगीत सुनता है तो स्वाभाविक दुर्बलता के वशीभूत होकर प्रणयी के पास जाने वाली अभिसारिका के समान क्रीडा-स्थल की ओर चल देता है।[1] कभी उसकी और कभी उसके विपक्षी की इच्छा बलवती होती है।[2]

पासा किसी के प्रति वफ़ादार नहीं होता। बड़े-बड़े राजा इसके समक्ष झुक जाते हैं। महान् वीर भी इसे अपने वश में नहीं रख सकता।[3] एक स्थल पर कहा गया है कि यह स्पर्श मे शीतल होते हुए भी हृदय को दग्ध कर डालते हैं।[4]

इस प्रकार कभी निराशा कभी विषाद असन्तोष और घुटन आदि ये सभी भावनाये एक द्यूतकार के मन को अपने दुर्व्यसन के कारण मथ डालती हैं। द्यूत कार की यह वैयक्तिक अनुभूति की तीव्रता ऋग्वैदिक समाज मे द्यूत को एक कुप्रवति सिद्ध करती है।

द्यूत से आर्थिक दुदशा

द्यूतकार जीतने की आशा से निरन्तर क्रीडा में प्रवृत्त होता है और बार बार हारने से उसका आर्थिक स्तर भी अस्त-व्यस्त हो जाता है इसीलिए वह दूसरो के ऐश्वय को देखकर अपने मन मे व्यथित होता है। प्रातःकाल जो जुआरी धन जीतने से अश्वारुढ होकर आता है साय उसी के पास शरीर पर वस्त्र भी नही रहता।[5] इससे विदित होता है कि जुआरी की आर्थिक स्थिति सदव सशय के दोल पर आरुढ रहती है।

एक स्थल पर वर्णित है कि यद्यपि इन पासो के हाथ नही होते तथापि वे कभी ऊपर उठते एव कभी नीचे गिरते हैं। हाथ वाले पुरुष इनसे हारते हैं। वह श्री सम्पन्न होते हुए भी प्रज्ज्वलित अंगार के समान ही चौसर पर प्रतिष्ठित होते है।[6]

सुचरित्रा सुशीला पत्नी भी आर्थिक कष्ट के कारण अपने पति को छोडकर

---

१ यदादीध्ये न दविषाण्येभि परायद्भ्योऽव हीये सखिभ्य।
 न्युप्ताश्च बभ्रवो वाचमक्रत एमीदेषां निष्कृत जारिणीव। ऋग्वेद १०।३४।५।

२ अक्षासो अस्य वि तिरन्ति काम प्रतिदीव्ने दधत आ कृतानि। वही १०।३४।६

३ वही १०।३४।८।

४ दिव्या अङगारा इरिणे न्युप्ता शीता सन्तो हृदय निर्दहन्ति।
 वही १०।३४।९।

५- स्त्रिय दृष्ट्वाय कितवं ततापान्येषां जाया सुकृतं च योनिम्।
 पूर्वाह्ण अश्वान्युयुजे हि बभ्रून्त्सो अग्नेरन्ते वृषल पपाद॥ वही, १०।३४।११

६- नीचा वर्तन्त उपरि स्फुरन्त्यहस्तासो हस्तवन्तं सहन्ते। वही १०।३४।९।

चली जाती है और मांगने पर जुआरी को कोई भी एक फूटी कौडी उधार नही देता। जैसे वृद्ध अश्व को कोई नहीं लेना चाहता वैसे ही जुआरी को भी कोई अपने पास नहीं बैठाना चाहता।[1] जुआरी को दिये गये धन के लौटने का कोई निश्चय नहीं रहता वह प्रदत्त धन सदैव सन्देह का विषय बना रहता है।[2] द्यूतकार को कभी मानसिक शान्ति नही रहती आर्थिक कष्ट के कारण वह दूसरो के आश्रय में ही अपनी रात्रि व्यतीत करता है।

इस प्रकाम द्यूत-क्रीडा मे सर्वस्व हार चुकने के पश्चात् सब ओर से तिरस्कृत और उपेक्षित द्यूतकार दुर्व्यसन के दुष्परिणामों मे अपनी आर्थिक स्थिति को पर्याप्त कष्टमय पाता हैं।[3]

(ए) द्यूत से उत्पन्न सामाजिक दुदशा

जुआरी स्वत' अपने मुख से अपनी भार्या की प्रशसा करता है कि मेरे परिवार मे वह मेरी और मेरे कुटुम्बी-जनो की सेवा शुश्रूषा करती रही है परन्तु अपने पति के इस दुव्यसन के कारण वह भी उसे छोडकर चली जाती है। द्यूतकार अपनी प्रेम करने वाली पत्नी से भी कदाचित् पृथक हो जाता है। पत्नी अपने माता पिता के घर चली जाती है। सम्भवतया वह धन की कामना से अपनी ससुराल जाता है परन्तु वहाँ उसकी सास उसको कोसती है।[5] यहाँ तक कि स्वय उसके माता पिता और भाई भी उसको पहचानने से मना कर देते हैं और उसे पकड़वा देते हैं।[6] द्यूत खेलने वाले की पत्नी का दूसरे व्यक्ति परामर्षण करते है। यह सदव सन्तप्त रहती है और उसका पुत्र भी दुर्दशा का शिकार बनता है। अपने पुत्र की चिन्ता मे वह और भी अधिक चिन्तातुर हो जाती है।

एसा नही है कि जुआरी की इस कुप्रवृत्ति से उसके सम्बन्धी जन ही व्यथित रहते हो वह स्वय भी अपने पारिवारिक विघटन से व्यथित रहता है। अपनी स्त्री के सन्ताप से सतप्त दूसरो की स्त्रियो के सौभाग्य तथा ऐश्वर्य को देख

---

१ द्वेष्टि श्वश्रूरप जाया रुणद्धि न नाथितो विन्दते मर्डितारम्।
अश्वस्येव जरतो वस्न्यस्य नाहं विन्दामि कितवस्य भोगम्।
ऋग्वेद १०।३४।३।

२ ऋणावा बिभ्यद्धनमिच्छमानोऽन्येषामस्तमुपनक्तमेति। वही १०।३४।१०।

३ वही १०।३४।१०

४ न मा मिमेथ न जिहीळ एषा शिवा सखिभ्य उत मह्यमासीत्।
अक्षस्याहमेकपरस्य हेतोरनुव्रतामप जायामरोधम। वही, १०।३४।२।

५ द्वेष्टि श्वश्रूरप वही १०।३४।३।

६ पिता माता भ्रातर एनमाहुर्न जानीमो नयता बद्धमेतम्। वही, १०।३४।४।

७ अन्ये जाया परिमृशन्त्यस्य। वही १०।३४।४।

८- वही, १०।३४।१०।

कर वह अपने मन को मसोसता है ।[१]

द्यूतकार के मुख से ही अपनी आर्थिक एवं सामाजिक दुर्दशा की वैयक्तिक अभिव्यक्ति होने से यह सूक्त आत्मपरक काव्य का भी सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है ।

(आ) द्यूत से घृणा

यद्यपि द्यूत ऋग्वैदिक आर्यों का सर्व प्रमुख मनोरंजन का साधन है, तथापि ऋग्वेद मे इसके प्रति घृणा का भाव निहित है, क्योंकि इससे होने वाली हानियाँ समाज मे रोष उत्पन्न करती हैं । एक स्थल पर कहा गया है कि जुए आदि बुरे कार्यों से पाप की उत्पत्ति होती है ।[२] द्वितीय मण्डल मे पिता द्वारा पुत्र को जुआ खेलने के कारण ताडना दी गई है ।[३]

(औ) जुआ खेलने का निषेध

जुए से होने वाले दुष्परिणामो के कारण जुआरी को इस दुर्व्यसन का परित्याग करके सदकार्यों मे प्रवृत्त होने का सुझाव दिया गया है । अन्तत: कृषि-कर्म अपनाने के लिये और उसी से जीविकोपार्जन करने का सन्देश दिया गया है । अक्ष सूक्त मे ही कहा गया है कि—'हे जुआरी ! जुआ खेलना छोडकर कृषि करो । उसमे जो लाभ हो उसी मे सतुष्ट हो । इसी कृषि के प्रवाह से गौए और भार्या आदि प्राप्त होगी ।'[४]

इस प्रकार द्यूत ऋग्वैदिक समाज का एक प्रिय मनोरंजन था । किन्तु साथ ही ऋग्वैदिक समाज इसके दुष्परिणामो से पूर्णतया परिचित था और इसके उन्मूलन हेतु प्रयत्नशील भी रहा ।

---

१ स्त्रियं दृष्ट्वाय कितवं ततापान्येषां जायां सुकृतं च योनिम् । ऋग्वेद,१०।३४।११

२ वही, ७।८६।६

३ प्र व एको मिमय भूर्यागो यन्मा पितेव कितवं शशास ।
आरे पाशा आरे अघानि देवा मा माधि पुत्रे विमिव ग्रभीष्ट ॥ वही, २।२९।५

४ अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः ।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः ॥

वही, १०।३४।१३

५ ऋग्वेद मे नारी

ऋग्वैदिक नारी

ऋग्वैदिक काल मे परिवार सस्था के रूप मे बद्धमूल हो चुका था। परिवार में सदस्यों के कर्तव्य और अधिकार पथक पथक निश्चित हो गये थे देव स्तुतियो से यह सरलतापूर्वक ज्ञात हो जाता है। एक ऋचा मे द्यु और पृथिवी को माता-पिता कहकर स्तुति की गई है।[1] आयजन देवो में भी पारिवारिक सम्बन्ध की कल्पना करके उनसे अधिक आनुकूल्य की आशा करत हैं। इससे विदित होता है कि परिवार के सदस्यो मे परस्पर कर्तव्य भावना पर्याप्त रूप मे व्याप्त थी। ऋग्वैदिक परिवार पितृप्रधान सामाजिक वग था। स्त्री-सम्बधो मे माता बहिन पुत्री पत्नी का अपेक्षाकृत विस्तृत वणन है किन्तु सास, ननद और पुत्रवधू का भी उल्लेख मिलता है। यद्यपि ऋग्वदिक समाज के परिवार पितृप्रधान थे और पुत्र की कामना स्थान-स्थान पर प्राप्त होती है। विविध देवो से गो अश्व एव अन्न के साथ-साथ पुत्र की भी कामना की गई है[2] तथापि वीर पुत्रो को उत्पन्न करने वाली स्त्री का परिवार मे बडा गौरवपूर्ण स्थान था।

ऋग्वेद मे नारी के स्वरूप स्थान और महत्त्व के आलोचनात्मक अध्ययन के लिये नारी के विविध रूपों को यथा—कन्या माता एव पत्नी को पथक पथक शीर्षकों के अन्तगत रखकर विचार करना अपेक्षित है जिसका पथक-पथक निरूपण आगे किया जा रहा है।

१ कन्या

प्रत्येक दम्पती सफल गृहस्थ जीवन के लिये सन्तान की कामना करता है जिसके अभाव मे सम्पूर्ण जीवन ही नीरस और शुष्क हो जाता है परन्तु सन्तान का भाव जीवन को सरस तथा आशापूर्ण कर देता है। वदिक साहित्य मे सन्तान के महत्त्व को स्वीकार किया गया हैं। विभिन्न शास्त्रानुसार सन्तान माता पिता के कल्याण का कारण है।

(अ) कन्या की कामना

ऋग्वदिक स्तुतियो म स्तोताओ ने अधिकाशतया अपने इष्टदेवों से अपनी समृद्धिवधक सामग्रियो की याचना की है।[3] अन्य वस्तुओ के साथ साथ सन्तान की कामना अनेक ऋचाओ मे प्राप्त होती है। विवाह सूक्त में नववधू को दस पुत्रो की माता होने का आशीर्वाद दिया गया है[4] किन्तु समग्र ऋग्वद मे पुत्री की कामना

---

१ ऋग्वद १।१८५।११

२ वही १।९।१ १।१०।६ १।१२।११ ५।६६।३ ७।३४।२०

३ वही ७।७५।८ ४।३६।६ १०।३६।३ ५।८३।४ ४।५०।६ आदि।

४ वही, १०।८५।४५

विषयक ऋचा कहीं भी प्राप्त नहीं होती। कन्या के जन्म पर किसी प्रकार के दुःख की सूचना ऋग्वेद नहीं देता। पुत्र जन्म पर आनन्द की भावना समुचित रूप से ऋग्वेद में है,[1] परन्तु पुत्री के जन्म पर प्रसन्नता की बाधायक कोई ऋचा नहीं है। साथ ही ऐसा भी नहीं है कि पुत्री के जन्म पर किसी प्रकार की व्याकुलता का भाव उत्पन्न होता हो जैसा कि उत्तरवर्ती साहित्य मे है।

डॉ० शिवराज शास्त्री ने 'ऋग्वैदिक काल मे पारिवारिक सम्बन्ध' नामक अपनी पुस्तक मे कन्या के विषय मे उत्तरवर्ती साहित्य मे उसकी स्थिति का वर्णन करते हुए लिखा है[2] — कि ऐतरेय ब्राह्मण में पुत्र को ज्योति परन्तु पुत्री को कृपण कहा गया है।'[3] यहाँ कृपण का 'मुसीबत' अर्थ ही लिया गया है, यह निश्चित नही है। अथर्ववेद मे पुत्री जन्म को प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण नहीं किया गया है।[4] इससे यह स्पष्ट होता है कि उत्तरवैदिक काल मे कन्या की स्थिति अच्छी नहीं थी किन्तु ऋग्वेद मे हीनता और उपेक्षा का भाव कही नहीं दीख पडता। ऋग्वैदिक आर्य पुत्री के साथ भी पुत्र की ही भाँति सम्पूर्ण आयु व्यतीत करना चाहता है[5] मनुस्मृति मे मनु ने पुत्री को पुत्र के समान ही बताया है।[6] ऋग्वेद मे एक स्थल पर पिता अपनी दो पुत्रियों को गोद मे बैठाये हुए उल्लिखित है।[7] पिता पुत्र और पुत्री दोनों को उत्पन्न करता है, उनमे से पुत्र पिता के सत्कार्यों को करता है और पुत्री समादरणीया होती है।[8] एक ऋचा मे असख्य बाणों को धारण करने वाले तूणीर को अनेक पुत्रियों का पिता —कहकर प्रशसा की गई है।[9]

इस प्रकार यह विदित होता है कि ऋग्वेद मे कन्या की स्थिति पर्याप्त सम्मानित और समादरणीय थी। आपस्तम्ब धर्मसूत्र मे अविवाहिता कन्या की निंदा वर्जित की गई है।[1] अत वैदिक साहित्य मे कन्या की स्थिति स्वाभाविक

१ ऋग्वेद १।६१।३
२ ऋ० पा० स०—पृ० २२५
३ कृपण ह दुहिता ज्योतिर्ह पुत्र परमे व्योमन्। वही पृ० २२५ पर उद्धृत
४ अथर्व० ८।६।२५ ६।११।३
५ पुत्रिणा ता कुमारिणा विश्वमायुर्व्यश्नुत। ऋग्वेद ८।३१।८
द्रष्टव्य प्रस्तुत ऋचा पर ग्रिफिथ का अनुवाद।
६ यथैवात्मा तथा पुत्र पुत्रेण दुहिता समा। मनुस्मृति ९।१३०
७ सगच्छमाने युवती समन्ते स्वसारा जामी पित्रोरुपस्थे। ऋग्वेद १।१८५।५
८ यदी मातरो जनयन्त वह्निमन्य कर्ता सुकृतोरन्य ऋन्धन्। वही, ३। १।२
९ बह्वीना पिता बहुरस्य पुत्रश्चिश्चा कृणोति समनावगत्य।
इषुधि सङ्का पृतनाश्च सर्वा पृष्ठे निनद्धो जयति प्रसूत। वही, ६।७५।५
१० गोर्न्क्षिणानां कुमार्याश्च परिवादान्विवर्जयेत। आ० ध० सू० १।११।३१।८

और उपयुक्त सिद्ध होती है।

ऋग्वैदिक समय में जसा कि ऊपर निरूपण किया जा चुका है, पुत्रों की कामना बलवती थी इसलिये कन्या का होना इस कारण भी समादृत हो सकता है कि कन्या ही भावी माता होगी, वह वीर पुत्रों की जननी बनेगी, सम्भवतया इस दृष्टि से भी कन्या जन्म पर किसी प्रकार के अवसाद का वर्णन अप्राप्य है।

(आ) कन्या के वाचक शब्द

ऋग्वेद मे पुत्री के लिये 'दुहितर' 'नप्ती', 'वहवी' 'योषणा' 'योषा' 'योषित' 'कना' 'कनी' 'कनीनका' 'कन्या' 'कन्यना'—शब्दो का प्राप्त प्रयोग होता है। दुहितर शब्द अनेकश व्यवहृत है। इसका अर्थ है—दोहने वाली।[1] प्रो० मक्डॉनल और कीथ ने वैदिक इण्डक्स मे दुहितर को √दुह धातु से निष्पन्न और इसका अर्थ दूध दोहने वाली अथवा दुग्ध पिलाने वाली न मानकर 'बच्चे का पालन करने वाली' लिया है।[2]

दशम मण्डल की एक ऋचा मे घोषा को एक राजा की पुत्री कहा गया है।[3] रात्रि और उषस दिव की पुत्रियाँ हैं।[4] पृथिवी को इन्द्र की दुहिता कहा गया है।[5] श्रद्धा सूर्य की पुत्री है।[6] अन्यत्र भी सूर्य की पुत्री का उल्लेख किया गया है।[7]

कना कनी आदि शब्द अविवाहिता कन्या के लिये आये हैं। कना √किम धातु से निष्पन्न प्रतीत होता है। जिसका अर्थ है—छोटी जसा कि ऋक० १०।६१।५ से स्पष्ट होता है—अनर्वा देव ने जो छोटी पुत्री मे धारण किया था उसे पुन निकाल दिया।[8] यहाँ 'कना' 'दुहितर्' का विशेषण बनकर आया है। 'कना' का अर्थ कन्या भी है। एक ऋचा मे 'कना' 'कन्या' के अर्थ मे प्रयुक्त है।[9] इसी प्रकार कनी भी 'अविवाहित कन्या' को कहा गया है। अग्निदेव अविवाहित

---

१ बाइप फोक्स ऑफ वड स प० १५०

२ वैदिक इण्डेक्स भाग १ प० ३७१

३ युवा ह घोषा पर्यश्विना यती राज्ञ ऊचे दुहिता पृच्छे वा नरा। ऋग्वेद १०।४०।५

४ अरुषस्य दुहितरा विरूपे स्तृभिर या पिपिशे सूरो अन्या। वही ६।४९।३

५ य आहना दुहितुर्वक्षणासु रूपा मिनानोअकृणोदिद न। वही ५।४२।१३

६ पर्जन्यवृद्ध महिष त सूर्यस्य दुहिताभरत्। वही ९।११३।३

७ वही ४।४३।२, ३।५३।१५

८ पुनस्तदा वृहति यत्कनाया दुहितुरा अनुभृतमनर्वा। वही १ ।६१।५

९ अधा गाव उपमाति कनाया अनु श्वान्तस्य कस्य चित्परेयु। वही १०।६१।२१

लडकियों के रहस्य को गुप्त रखते हैं इसलिये उन्हें 'अर्यमा' कहा जाता है।[1] अविवाहित कन्याओं के जार होते थे।[2]

'कन्या' की निरुक्ति यास्क ने 'कन्या कमनीया भवति' कहकर की है।[3] यह शब्द भी 'अविवाहित कन्या' का वाचक है। अनेक बार इसका प्रयोग किया गया है।[4] 'कन्यना' शब्द भी कन्या के अर्थ मे आया है।[5]

प्रस्तुत सभी शब्दों का विवरण डॉ० शिवराज शास्त्री ने अपनी पुस्तक मे विस्तारपूर्वक दिया है।[6] 'यह्वी' भी 'पुत्री' अर्थ मे प्रयुक्त शब्द है। उषस् और रात्रि को द्यौ की पुत्रियां कहा गया है। योषा[7] योषणा[8] 'योषित्'[9] √यु धातु से निष्पन्न 'युवा स्त्री' के वाचक शब्द है। ये शब्द सदा अविवाहित स्त्री के नही अपितु कही कहीं 'युवा पत्नी' और 'नवोढ़ा' के भी वाचक बनकर आये हैं।

कन्या का वाचक नप्ती शब्द ऋग्वेद मे अनेकशः उल्लिखित है।[11]

(इ) कन्या की स्वतन्त्रता

ऋग्वैदिक कन्या अपने उत्तरवर्ती काल की अपेक्षा कहीं अधिक स्वतन्त्र और आत्मनिर्भर थी। समाज मे अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखती थी पूर्णतया किसी पर आश्रित नही थीं। युवावस्था मे उसका कार्यक्षेत्र केवल घर की चारदीवारी ही नहीं था वरन् वह खुले वातावरण मे सामाजिक उत्सवो मे स्वतन्त्र रूप से भाग लेती थी। युवा कन्या बडे हर्षित चित्त और प्रसन्नवदन हो समन नामक मेले मे जाती थी[12] घुड दौड और रथो की दौड जिसका प्रमुख आकर्षण रहता था।[13] युवा कन्यायें

---

१ त्वमर्यमा भवसि यत्कनीना नाम स्वधावन् गुह्य बिभर्षि। ऋग्वेद ५।३।२

२ जार कनीनाम् पतिर्जनीनाम्। वही, १।६६।४

३ निरुक्त ४।१५

४ ऋग्वेद ३।३३।१० १।१२३।१० ६।५६।३

५ वही ४।३२।२३

६ ऋ० पा० स० पृ० २१५ २२४

७ उप व एष नन्येभि शूष प्र यह्वी दिवश्चितयद्भिरर्कै। ऋग्वेद ५।४१।७

८ सुसङ्काशा मातृमृष्टेव योषाविस्तन्व कृणुषे दृशे कम्। वही १।१२३।११, व १।११७।२०

९ वही १०।३६।७, ४।३२।१६, ८।४६।३३

१० वही ६।३८।४

११ वही ८।२।४२ आदि।

१२ अभि प्रवन्त समनेव योषा कल्याण्य स्मयमानासो अग्निम्। वही ४।५८।८ एव १।४८।६ १२४।८ ७।२।५ ६।४, १०।८६।१०

१३ वही, १०।१६८।२

समन में ही अपने उपयुक्त वर का चयन भी करती थी। रात्रि पर्यन्त यह उत्सव चलता था।[1] अविवाहित कन्यायें युवा पुरुषों को आकर्षित करने के लिये सुन्दर वस्त्र और अलङ्करण धारण करती थीं।[2] मातायें स्वयं उन्हे प्रसाधित करके भेजती थीं।[3] अविवाहित कन्याओं के प्रेमी 'जार' कहे जाते थे, वे संकेत-स्थलों पर उन्हें आमंत्रित करते थे।[4] रात्रि में भी वह प्रेमिका के कक्ष मे आकर उसे मिलने के लिए जगाता था।[5] इस प्रकार हम देखते हैं कि ऋग्वैदिक काल मे कन्या अतिशय रूप से स्वतन्त्र थी, वह अपने लिये स्वयं वर का चुनाव करती थी। सम्भवतया अन्तिम निर्णय उसके सम्बन्धी यथा पिता भ्राता ही लिया करते होंगे, जैसाकि विवाह सूक्त में भी सूर्या का पिता सूर्य ही अपनी पुत्री का विवाह सोम से करता है।[6] अभ्रातृमती कन्याओं के विवाह मे पर्याप्त कठिनाई होती थी उसे असत्यभाषी दुराचरण वाले व्यक्तियों की समता में रखा गया है। सम्भवत भाई के संरक्षण से विहीन कन्या होने के कारण दुष्ट व्यक्ति उनसे अप्रत्याशित लाभ प्राप्त करते हों।[7] एक स्थल पर घोषा को देवों की सहायता से भी वर प्राप्ति का उल्लेख किया गया है।[8] अविवाहित पुत्रियाँ आजीवन पिता के घर ही निवास करती थी। इ हे पितृषद्[9] 'अमाजुर्'[10] और अमू[11] संज्ञाओ द्वारा अभिहित किया गया है। विवाहित कन्यायें विवाहोपरान्त पतिगृह की शोभा बनती थी।

(ई) कन्या के कर्तव्य

कन्या को दुहितर् कहा जाता है जैसा कि इस शब्द से ज्ञात होता है जो √दुह से निष्पन्न है दूध दोहने का कार्य कन्या का प्रधान कार्य था। प्रो० मैक्समूलर ने इसका अर्थ दोहनेवाली[12] किया है, किन्तु वैदिक इण्डक्स के लेखकों के अनुसार दुहितर् का अर्थ दूध दोहनेवाली अथवा दूध पिलाने वाली न होकर

१ ऋग्वेद १।४८।६
२ वही ७।२।५
३ सुसङ्काशा मातृमृष्टेव योषाविस्तन्वं कृणुषे दृशे कम्। वही १।१२३।११
४ युप्तावव बभ्रवो वाचमक्रत एमीदेषा निष्कृत जारिणीव। वही १०। ३४।५
५ प्र बोधया पुरंधि जार आ ससतीमिव। वही १।१३४।३
६ वही १०।८५
७ अभ्रातरो न योषणो व्यन्त पतिरिपो न जनयो दुरेवा। वही ४।५।५
८ वही १०।४०।९
९ वही, १।११७।७ १०।८५।२१
१० वही २।१७।७ ८।२१।१५ १०।३९।३
११ वही, ४।१९।९, ७।२।५
१२ बायग्रेफीज ऑफ दी वड्स पृ० १५०

'वृक्षो का शासन करने वाली' है।[1] प्रो० बी० एस० उपाध्याय ने ब्लूमफील्ड और प्रो० एस० सी० सरकार को भी वैदिक इण्डेक्स के लेखकों के मत का ही समर्थक मानकर उनके मत का खण्डन किया है।[2] इनके अनुसार कन्या का दूध और घी निकालने से सम्बन्ध होता है।[3] डॉ० शिवराज शास्त्री दो प्रसगों[4] का उल्लेख करके उनमें स्त्रियों तथा कन्याओ से दूध, घी का सम्बन्ध सिद्ध करते हैं।[5]

सम्भवतया वस्त्र बुनने का कार्य भी कन्यायें किया करती थीं। फैले हुए धागो को बुनती हुई उषस व रात्रि का उल्लेख किया गया है, इससे यह ध्वनित होता है कि कन्या वस्त्र बुनने का कार्य करती थी।[6]

जल भरने का काम स्त्रियों का था प्रथम मण्डल मे घडे मे पानी भरकर ले जाने वाली स्त्रियों को उपमान रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। कहा है—इक्कीस मोरनियाँ स्वयं बहने वाली वे सात नदियाँ तेरे विष को उसी प्रकार हर ले जिस प्रकार घड वाली स्त्रियाँ पानी हरकर ले जाती हैं।[7] कन्या अपने पिता के कृषि काय में भी व्यस्त रहती थी। अपाला आत्रेयी को अपने पिता के खेत की उत्पादन शक्ति को बढ़ाने[8] और पिता के ही मरुस्थल रूप खेत को उर्वर बनाते हुए फसल युक्त बनाने का प्राथना करते हुए चित्रित किया गया है।[9]

इनके अतिरिक्त कन्या माता के साथ घरेलू कार्यों मे हाथ बटाती होगी। एक स्थल पर माता और पुत्री दोनो एक साथ मिलकर पालन का कार्य करती उल्लिखित है।[10]

(उ) कन्या की शिक्षा

ऋग्वेद मे ऐसी सस्था के उदाहरण प्राप्त होते है जहाँ अध्यापक और अध्येता दोनो आवाज से आवाज मिलाकर ऋचाओ का पाठ करते देखे गये हैं। ऋक्० ७।

---

१ वैदिक इण्डेक्स भाग १ पृ० ३७१
२ बी० एस० उपाध्याय, वीमेन इन ऋग्वेद पृ० ४४
३ वही।
४ ऋग्वेद १।२३।१६ १।१३५।७
५ ऋ० पा० स० पृ० २५७
६ तन्तु तत सवयन्ती समीची। ऋग्वेद २।३।६
७ त्रि सप्त मयूर्य सप्त स्वसारो अग्रुव
 तास्ते विषं वि जभ्रिर उदकं कुम्भिनीरिव। ऋग्वेद १।१९१।१४
८ वही ८।९१।५
९ वही ८।९१।६
१० माता च यत्र दुहिता च धेनू सबर्दुघे धापयेते समीची। वही ३।५५।१२

१०३।५ मे यह सवत्र दर्शनीय है।[1] जिस प्रकार मेढक वर्षा ऋतु में इकट्ठे होकर टर्र-टर्र की ध्वनि करते हैं उसी प्रकार गुरु एवं शिष्य सम्मिलित रूप से वेद-मन्त्रों का उच्चारण किया करते थे और तत्कालीन शिक्षा-प्रणाली मे सहायक होकर पीढ़ी दर पीढ़ी मौखिक रूप से वह सम्पदा हस्तान्तरित होती रहती थी। यह बहुत स्वाभाविक था कि कन्याय भी अपने पिता के साथ आवाज से आवाज मिलाकर गाती होंगी। यो तो स्त्रियों का अधिकाश जीवन उनके विवाह और विवाहोत्तर उत्तर-दायित्वो को वहन करने मे अपने पारिवारिक कायभार को धारण करने मे ही निकल जाता था, फिर भी ऋग्वैदिक कालीन कुछ स्त्रियाँ आध्यात्मिक शिक्षा ग्रहण किय हुए भी दीख पड़ती हैं।

ऋग्वदिक समाज मे एक शिक्षित युवती अपेक्षाकृत अधिक प्रशसनीय व प्रतिष्ठित थी। बौद्धिक विकास स्त्री के भौतिक सौंदर्य में वधक था और सुयाग्य वर चयन मे सुविधाजनक होता था। डॉ० बी० एस० उपाध्याय के मतानुसार शिक्षा एक ववाहिक आवश्यकता थी जिसे क या अपने पिता के और सम्भवतया अपने भाई एव निकट सम्बधी के साथ रहकर प्राप्त करती थी।[2]

शिक्षा के प्रकार के विषय मे जानना अति कठिन था क्य कि इसका कोई सुपुष्ट प्रमाण ऋग्वेद मे प्राप्त नही होता है। स्त्रियाँ साहित्य मे विशिष्ट अभिरुचि रखती थी। ऋग्वेद की अनुक्रमणी मे ऐसी बहुत सी ऋचायें है जो उनके विषय मे दिग्दर्शन कराती हैं। अनेक स्त्रियाँ ऐसी है जिनकी ऋषि होने की तथा कविता की सामथ्य उनकी दक्षता का मापदण्ड स्थापित करती है। अति उल्लास एव उत्साह से उनकी प्राथनायें मानव हित के लिये उनके आराध्य को समर्पित है।

ब्रह्मवादिनी स्त्रियो मे महान् ऋषि कक्षीवान् की पत्नी घोषा सर्वाग्रणी है। प्रथम मण्डल मे घोषा का वर्णन मिलता है। कहा गया है— हे अश्विनीदेवा पिता के घर पर ही वृद्ध हो जाने वाली घोषा को भी तुम दोनो ने पति दिया।[3] राजपुत्री घोषा की दैनिक आस्था और स्तुतियो ने जिन्होंने अश्विनीदेवो को पूणतया सन्तुष्ट और प्रसन्न किया[4] उसे वृद्धावस्था मे भी कक्षीवान् जैसा पति दिया है। दशम मण्डल के दो सूक्त सर्वथा इनकी प्रशसा की उद्घोषणा करते हैं[5] क्योंकि ये

१ यदेषामन्यो अन्यस्य वाच शाक्तस्येव वदति शिक्षमाण।
सर्वं तदेषां समृधेव पर्व यत्सुवाचो वदथनाध्यप्सु। ऋग्वेद ७।१०३।५

२ बी० एस० उपाध्याय वीमेन इन ऋग्वेद पृ० १८०

३ घोषायै चित् पितृषदे दुरोणे पतिं जुर्यन्त्या अश्विनावदत्तम्। ऋग्वेद १।११७।७

४ युवां ह घोषा पर्यश्विना यती राज्ञ ऊचे दुहिता पृच्छे वा नरा।
वही, १०।४०।५

५ वही १०।३९ १०।४०

सूक्त इनकी साहित्य प्रियता तथा इनकी सामर्थ्य के सूचक हैं।

लोपामुद्रा को अपने पति अगस्त्य के साथ मिलकर प्रथम मण्डल के १७९ वें सूक्त की रचना का श्रेय प्राप्त है। अपाला अष्टम मण्डल के ९१ वें सूक्त की ऋषि हैं। कक्षीवान् की दूसरी पत्नी राजा स्वानया की पुत्री रोमशा ने अपनी प्रतिभा-शालिता और कोमल भावनाओं का परिचय एक ऋचा में दिया।[1] अगस्त्य की बहन को १०।६०।६ ऋचा का ऋषि माना गया है। विश्ववारा आत्रेयी ५ वें मण्डल के २८ वें सूक्त की ऋषि हैं। इसकी प्रथम ऋचा से यह विदित होता है कि स्त्रियां भी स्तुति करने का अधिकार रखती थीं।[2]

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि कविता अपने विकसित रूप में विद्यमान थी और स्त्रियों को इसका पर्याप्त ज्ञान था। स्वयं ऋग्वेद इसका उदाहरण है जो मानवीय भाषाओं का प्रथम उज्जृम्भण कहा जाता है। जब नारी कविता करती थी तो यह बहुत स्वाभाविक है कि वह छन्द-शास्त्र का भी ज्ञान रखती होगी।

सामवेद स्पष्ट रूप से संकेत करता है कि संगीत तत्कालीन सम्पदा के रूप मे पजारियो के पास था किन्तु ऋग्वैदिक साक्ष्यों के आधार पर संगीत को कन्याओं का भी आभूषण सिद्ध किया जा सकता है। महत्त्वपूर्ण अवसरों और पर्वों पर मांगलिक गीत गाये जाते थे। उदाहरणतः सोम रस के अभिषवण पर सात बहनों के द्वारा एक पुजारी के चतुर्दिक घूम घूम कर गाना गाने का उल्लेख है।[3] अन्यत्र भी— दस कन्यायें स्वागत-गान गा रही हैं जैसे कोई कन्या अपने प्रेमी को बधाई देती है।[4] इससे विदित है कि कन्याओं को संगीत की शिक्षा भी दी जाती थी।

संगीत के साथ-साथ नृत्य में भी स्त्रियों की अभिरुचि परिलक्षित होती है। एक स्थल पर उषा देवी की उपमा एक नर्तकी से दी गई है।[5] नर्तकी पेशांसि

---

१ ऋग्वेद १।१२६।७

२ एति प्राची विश्ववारा नमोभिर्देवाँ ईळाना हविषा घृताची। वही ५।२८।१

३ समुत्वा धीभिरस्वरन्हिन्वतीः सप्त जामयः। विप्रमाजा विवस्वतः।

वही ८।६६।८

ग्रिफिथ ने सप्त जामय का अर्थ सात बहिनें किया है। जबकि सायण के अनुसार सात पुजारी ही लिया गया है। द्रष्टव्य—ग्रिफिथकृत अनुवाद और उसकी पादटिप्पणी।

४ अभित्वा योषणो दश जारं न कन्यानूषत। ऋग्वेद ९।५६।३। द्रष्टव्य—ग्रिफिथ कृत अनुवाद।

६ अधि पेशांसि वपते नृतुरिव। ऋग्वेद, १।९२।४

धारण करती थी,[1] और 'नृतु' कहलाती थी। नि संदेह यह एक व्यावसायिक नर्तकी का चित्र प्रतीत होता है।

ऋग्वैदिक नारी सैनिक शिक्षा मे भी निपुण दिखाई देती है। भयावह रण-क्षेत्रो में युद्ध-कौशल का प्रदर्शन करती थीं राजा खेल की पत्नी विश्पला का एक ऐसा ही आश्चर्यान्वित कर देने वाला उदाहरण प्राप्त होता है। एक ऋचा[2] में बड़ा रोचक वर्णन प्राप्त होता है जैसे पंछी का पंख गिर जाता है, उसी प्रकार युद्ध मे खेल नरेश की सम्बन्धिनी स्त्री का पैर टूट गया तब रात्रि के समय ही उस विश्पला के लिये युद्ध शुरू होने के पश्चात् चढ़ाई करने के लिये लोहे की टांग तत्क्षण ही अश्विनी देवो ने लगा दी।[3] अन्यत्र भी युद्ध मे रत विश्पला की अश्विनी देवो के द्वारा सहायता का उल्लेख प्राप्त होता है।

मुद्गलानी एक अन्य नारी, रथारूढ़ होकर शत्रुओ से युद्ध करती हुई और सहस्र सख्यक गौओं पर विजय प्राप्त करती हुई वर्णित की गई है।[4] एक ऋचा अनार्य स्त्री दानु का परिचय देती है जो युद्ध मे अपने पुत्र की रक्षा कर रही थी।[5] एक अनार्य स्त्री-सेना का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[6]

इस प्रकार ऋग्वैदिक नारी सशक्त सक्षम और सुशिक्षित प्रतीत होती है जो आध्यात्मिक और भौतिक दोनो क्षेत्रों मे समान अधिकार रखती थी।

(क) कन्या के अधिकार

कन्या के अधिकारो को दो श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं—१ पिता आदि पारिवारिक सदस्यों से प्राप्त अधिकार २ पिता का दायाद सम्बधी अधिकार।

(क) कन्या का अपने परिवार में स्वतन्त्र स्थ न होता है। पिता और भाई का उसके प्रति कर्तव्य होता है जिसे वे पूरा करते है। ऋग्वैदिक समाज मे कन्या को समन जैसे मेले मे जाकर स्वय अपने साथी का चयन करने की स्वतन्त्रता प्राप्त थी जसा कि पीछे वणन किया जा चुका है कि तु वे इस विषय मे घर के

---

१ सायण ने 'पेशासि' का अर्थ किया है—सब लोगो के द्वारा देखे जाने योग्य रूप। द्रष्टव्य-सायण भाष्य।

२ चरित्र हि वेरिवाच्छेदि पर्णमाजा खेलस्य परितक्म्यायाम्।
सद्यो जङ्घामायसीं विश्पलायै धने हिते सर्तवे प्रत्यधत्तम्। ऋग्वेद १।११६।१५

३ याभिर्विश्पला धनसामथर्व्यं सहस्रमीळ्ह आजावजिन्वतम्। वही, १।११२।१०

४ रथीरभून्मुद्गलानी गविष्टौ भरे कृत व्यचेदिन्द्रसेना। वही, १०।१०२।२

५ उत्तरा सूरधर पुत्र आसीद् दानु शये सहवत्सा न धेनु। वही, १।३२।९

६ स्त्रियो हि दास आयुधानि चक्रे किं मा करन्नबला अस्य सेना।
वही ५।३०।९

बड़े लोगों का सहयोग प्राप्त रखती थीं।[1] माताएँ उन्हें स्वयं सजा-सँवार कर भेजती थीं।[1] ऐसे प्रसंग ऋग्वेद में मिलते हैं, जहाँ पुत्री-विवाह का अंतिम निर्णय पिता ने ही लिया है। दशम मण्डल के ८५ वें सूक्त में सूर्या का विवाह उसके पिता सविता ही करते हैं। एक ऋचा में स्पष्ट लिखा है कि मन से पति की कामना करती हुई सूर्या को सविता ने दिया।[2] कदाचित् माता-पिता अपनी इच्छा न होने पर विवाह का प्रस्ताव अस्वीकार भी कर देते थे। बृहद्देवता[3] में वर्णित रथवीति की कथा में उन्होंने अपनी पत्नी के कहने से श्यावाश्व से अपनी पुत्री का विवाह अस्वीकृत कर दिया था। रथवीति का विवरण पंचम मण्डल में प्राप्त होता है।[4] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कन्या विवाह में माता पिता की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती थी जो कन्या के प्रति उनका अधिकार था।

रक्षा का अधिकार तो जन्मतः नारी जाति को प्राप्त है। ऋग्वेद मे भी पिता और अन्य सदस्य कन्या की रक्षा करते थे। डॉ० शिवराज शास्त्री ने डॉ० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री के मत को उद्धृत करते हुए लिखा है कि ऋग्वेद में पिता से अधिक भाई, बहन के पालन और रक्षण का उत्तरदायी था।[5] अभ्रातृमती कन्याओं के विवाह मे भी बड़ी कठिनाई दिखाई पड़ती है। सम्भवतः भाई के रक्षण में न होने से वे अनैतिक आचरण के दोष से ग्रसित हो जाती हों इसलिये कन्या के जीवन मे भाई का एक विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान है। रक्षा का एक बहुत बड़ा अधिकार कन्या अपने पिता एवं भ्राता से प्राप्त करती थी, जिससे आजीवन वह लाभान्वित होती थी। कहने का तात्पर्य यह है कि भाई का संरक्षण प्राप्त करके वह सरलतापूर्वक विवाहित हो सकती थी और अपने पतिगृह में सुख-सुविधाओं के पर्याप्त उपभोग की अधिकारिणी बनती थी।

(ख) वेद में कन्या को उपलब्ध होने वाली किसी वैधानिक सम्पत्ति का उल्लेख प्राप्त नहीं होता। गृह्यसूत्रों में नारी को दायाधिकार से वंचित रखने का विधान है। बौधायन[6] गौतम[7] वशिष्ठ[8] और आपस्तम्ब धर्मसूत्रों[9] में भी कन्या को

---

१ ऋग्वेद १।१२३।११
२ सूर्यां यत्पत्ये शंसन्तीं मनसा सविताददात्। वही १०।८५।९
३ बृहद्देवता ५।४९
४ ऋग्वेद ५।६१
५ ऋ० पा० स० पृ० ३०१
६ बौ० धर्म० १।५।११।११४
७ गौ० धर्म० २८।२१
८ वसि० धर्म० १५।७
९ आप० धर्म० २।१४ २-४

दायभाग प्राप्त करने का अधिकार नही है ऐसा कहा गया है। डॉ० शिवराज शास्त्री ने आधुनिक विद्वानो मे डॉ० कृष्णकमल भट्टाचार्य को भी वैदिक प्रमाणों के आधार पर स्त्री के साम्पत्तिक स्वत्व का प्रतिषेधक बताया है।[1]

एक ऋचा[2] को कन्या के साम्पत्तिक अधिकार में उद्धृत किया जाता है, जिसका अर्थ डॉ० शिवराज शास्त्री ने अपनी पुस्तक मे निरुक्तकार के मतानुसार प्रस्तुत किया है जो इस प्रकार है—

वोढा (विवाह करने वाला) सन्तान कर्म के लिये (अपनी पत्नी मे उत्पन्न) पुत्री के पुत्रभाव को प्रसिद्ध कर देता है क्योंकि वह नप्ता' को प्राप्त करता है। (पुत्री को पुत्र मानने का कारण है कि) वह दौहित्र को पौत्र मानकर ऋत (प्रजनन यज्ञ अथवा रेतस्) के विधान का आदर करता है। जब पिता विवाह मे न दी हुई पुत्री मे वीर्य का सिंचन करने वाले अर्थात् जामाता का स्वागत करता है तो सुखी चित्त से स्वयं को आश्वस्त कर लेता है।[3]

निरुक्त के टीकाकारों के मतानुसार पिता पुत्र के अभाव मे दौहित्र को अपना पौत्र बनाने के लिये पुत्री को पुत्र रूप मे प्रसिद्ध कर देता है। दूसरे जिस प्रजनन अथवा वीर्य से पुत्रोत्पत्ति होती है उसी से पुत्री भी उत्पन्न होती है, इसीलिये भी पुत्री को पुत्र मान लेता है। इन अर्थों के अनुसार ऐसा विदित होता है कि निरुक्तकार के समय मे पुत्र और पुत्री मे कोई भेद नहीं माना जाता था और दोनो में समान रूप से दाय का विभाग होता था किन्तु डॉ० शास्त्री ने कहा कि स्वयं निरुक्तकार भी कन्या को समान दाय का अधिकार देने के पोषक प्रतीक नही होते।[4]

एक अन्य ऋचा[5] को भी कन्या के दायाद्य के विषय मे उद्धृत किया जाता है किन्तु दोनो ऋचाओ (३।३१।१ २) का अर्थ बड़ा अस्पष्ट और सन्दिग्ध है। अत इनसे किसी स्पष्ट परिणाम की घोषणा नही की जा सकती। ऋग्वैदिक साक्ष्यो के आधार पर कन्या को दायाद्य का अधिकारी कहा जाना नितान्त भ्रामक है क्योंकि कोई भी सन्दर्भ इसके पक्ष मे नहीं ठहरता।

अविवाहित पुत्री के दाय अधिकार को प्रतिपादित करने वाली निम्न ऋचा उदाहृत की जाती है—

---

१ ऋ० पा० सं० पृ० २५८

२ शासद् वह्निर्दुहितुर्नप्त्यं गाद् विद्वाँ ऋतस्य दीधितिं सपर्यन्।
पिता यत्र दुहितुः सेकमृञ्जन् त्सं शग्म्येन मनसा दधन्वे। ऋग्वेद ३।३१।१

३ ऋ० पा० सं० पृ० १८१ १८२ पर निर्दिष्ट।

४ वही पृ० २६०

५ न जामये तान्वो रिक्थमारैक् चकार गर्भं सनितुर्निधानम्।
यदी मातरो जनयन्त वह्निमन्यः कर्ता सुकृतोरन्य ऋन्धन्॥ ऋग्वेद ३।३१।२

'अमाजूरिव पित्रो सचा सती समानादा सदसस्त्वामिये भगम् ।
कृधि प्रकेतमुप मास्या भर दद्धि भागं तन्वो येन मामह ॥"[1] ।

इसमें स्तोता पितृ-गृह मे वृद्धा होने वाली, माता पिता के साथ रहने वाली पुत्री की भाँति धन की याचना करता है, किन्तु विभिन्न विद्वानों ने इस ऋचा के विविध अर्थ किये हैं। अत दृढ़ता से इस ऋक् को भी पुत्री के दायाधिकार मे सबल युक्ति के रूप में प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता।

ऋग्वेद में पितृगृह मे ही वृद्धा होने वाली कन्याओ का उल्लेख मिलता है और कहीं भी पारिवारिक कलह का वातावरण उपलब्ध नहीं होता इससे अल्पाभास होता है कि सम्भवत आजीवन अविवाहित रहने वाली कन्याओं का अपने पिता की सम्पत्ति मे कुछ अंश अवश्य होता होगा, जिससे वे शांतिपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकती थी।

२ पत्नी

ऋग्वेद मे पारिवारिक सदस्यो का अल्प परिचय प्राप्त होता है। ऋग्वैदिक समाज मे माता पिता पति पत्नी पिता पुत्री पुत्र भाई बहिन—ये समस्त पारिवारिक सम्बध वर्णित हैं। परिवार वास्तव मे समाज की आधारभूत इकाई है। परिवार सतान उत्पत्ति द्वारा समाज के लिये नवीन सदस्यो को लाता है, जो मृत व्यक्तियो के रिक्त स्थान की पूर्ति करते रहते हैं इस प्रकार परिवार मे मृत्यु और अमरत्व का सुदर समन्वय हुआ है। वस्तुत परिवार एक ऐसा समूह है जो सुनिश्चित और स्थायी यौन सम्बधो द्वारा परिभाषित किया जाता है जो बच्चो के प्रजनन एव पालन पोषण के लिये अवसर प्रदान करता है। परिवार का आधार मनुष्य की दैहिक मानसिक और सामाजिक आवश्यकताये हैं। विवाह एक ऐसी सामाजिक सस्था है जो कि एक नवीन परिवार के अवयवो को संयुक्त करता है जो पति पत्नी कहे जाते हैं। पत्नी के विषय मे ऋग्वेद का अनुशीलन एक चित्र प्रस्तुत करता है जिससे उसका समाज मे स्थान, कर्तव्य और अधिकार के विषय मे कुछ ज्ञान प्राप्त होता है।

(अ) परिवार मे पत्नी का स्थान

पहले वर्णित किया जा चुका है कि नारी पूर्णतया स्वतंत्र थी। गृह कार्यों के अतिरिक्त भी वह पूर्णतया सक्रिय और समर्थ सदस्य रही। ऋग्वेद मे पत्नी का परिवार मे एक सम्माननीय स्थान था। ऋषि विश्वामित्र ने तो पत्नी को घर ही कह दिया है स्त्री की महत्ता का बोधक इससे अधिक स्पष्ट प्रमाण और क्या होगा? इन्द्र की स्तुति मे कहा गया है—'हे मघवन्! स्त्री ही घर है वही योनि

---

1 वही, ऋक् २।१७।७

है वहीं तुम्हें रथ में जुते हुए घोड़े ले जायँ।"[1] नवोढ़ा पत्नी को अपने घर की साम्राज्ञी होने का आशीर्वाद दिया गया है।[2] पत्नी शिवा[3] और शिवतमा[4] है पति अपनी कल्याणी पत्नी के पास ही अपेक्षित होता है। सोमपान से प्रसन्न इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि 'घर जाओ, तुम्हारे घर मे कल्याणी जाया प्रतीक्षा करती है।'[5] परिवार के लिये पत्नी कल्याणकारी और मंगलस्वरूपा होती है वह अपने पति के लिये अन्य सदस्यों एव पशु पक्षियो के लिये क्षेमकारिणी होती है, इसीलिये उसे अदुर्मंगली अघोरचक्षु एवं अपतिघ्नी तथा शिवा कहा गया है।[6] पत्नी से घर मे मधुरतापूर्ण वातावरण बना रहता था, इसी हेतु हर्षित पति अपनी प्रिय पत्नी के समीप जाता था। इन्द्र से कहा गया है कि—हे इन्द्र! तू अपने रथ से अन्न से तृप्त होकर प्रिय पत्नी के पास जा तू अपने अश्वो को शीघ्र जोड।"[7] पत्नी अपने पति की सम्पूर्ण सगिनी होती थी। एक प्रार्थना मे स्पष्ट रूप से कहा गया है कि—हे पूषन् देव नारी को पूर्णतया कल्याणमयी (शिवतमा) बनाकर प्रेरित करो जो पति के साथ उसके हर्ष मे सम्मिलित हो प्रेमपूर्ण सहयोग प्रदान कर सके और उसका स्वागत करें।[8]

ऋग्वेद में देवों से पत्नी के लिये प्रार्थना की गई है इससे यह विदित होता है कि पत्नी घर की लक्ष्मी थी और परिवार मे उच्च स्थान रखती थी। द्यावा पृथिवी से धन और पत्नी से युक्त घर की याचना की गई है।[9] एक अन्य ऋचा मे

---

१ आयेदस्त मघवन् त्सेदु योनिस्तदित् त्वा युक्ता हरयो वहन्तु ॥

ऋग्वेद ३।५३।४

२ सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव अधि देवृषु ॥ वही १०।८५।४६

३ वही ३।५३।६

४ वही, १०।८५।३७

५ अपा सोममस्तमिन्द्र प्र याहि कल्याणीर्जाया सुरणं गृहे ते। वही ३।५३।६
आ नः प्रजां जनयतु प्रजापतिराजरसाय समनक्त्वर्यमा।
अदुर्मङ्गली पतिलोकमा विश शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे।

वही १०।८५।४३

अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः।
वीरसूर्देवकामा स्योना शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥ वही, १०।८५।४४

७ तेन जायामुप प्रियां मन्दानो याह्यन्धसो योजा न्विन्द्र ते हरी। वही, १।८२।५

८ तां पूषञ्छिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या वपन्ति।
या न ऊरू उशती विश्रयाते यस्यामुशन्तः प्रहराम शेपम् ॥ वही १०।८५।३७

९ नू रोदसी बृहद्भिर्नो वरूथैः पत्नीवद्भिरिषयन्ती सजोषाः। वही, ४।५६।४

अग्नि से ऋत की वृद्धि करने वाले मनुष्यों को पत्नियों से युक्त करने का आग्रह किया गया है।[1]

पुरुष प्रधान परिवार होने के कारण पति को परिवार का प्रधान और स्वामी माना जाता था, किन्तु प्रधान पुरुष को जहाँ 'गृहपति'[2] कहा जाता था वहीं पत्नी को गृहपत्नी[3] भी कहा गया है। दम्पती द्विवचन का स्त्री और पुरुष दोनों के लिये प्रयोग हुआ है[4] जिससे स्त्री और पुरुष का दम् (घर) पर समान रूप से अधिकार प्रकट होता है।

(आ) पत्नी के वाचक प्रसंग

वैदिक इण्डैक्स के लेखकों के मतानुसार जिस प्रकार पति 'स्वामी' और पति (हसबैण्ड) का द्योतक है उसी प्रकार पत्नी के भी 'स्वामिनी और पत्नी' (वाइफ) दो अर्थ हैं। ऋग्वेद मे 'पत्नी' के ये दोनो अर्थ प्राप्त होते हैं स्वामिनी भी और पत्नी भी।[5] नारी' शब्द भी पत्नी के लिये प्रयुक्त हुआ है।[6] एक ऋचा मे नारी को पतिजुष्टा कहा गया है।[7] यहाँ नारी' स्पष्ट रूप से पत्नी' की वाचक है। अन्यत्र[8] भी नारी शब्द का प्रयोग हुआ है। कीथ एवं मकडॉनल के अनुसार[9] ऋग्वेद मे इस शब्द से स्पष्टत पत्नी के रूप में स्त्री का आशय है।

जाया' शब्द भी पति के साथ प्रयुक्त होकर पत्नी' अर्थ का ही कथन करता है। एक ऋचा में कहा गया है कि धन का इच्छुक व्यक्ति निश्चय ही धन प्राप्त करता है स्त्री पति को प्राप्त करती है।[10]

जनि अथवा जनी' शब्द का प्रयोग अधिकांशत पत्नी अर्थ में हुआ है अर्थात् सामान्यतया पति से उनके सम्बन्ध के सन्दर्भ म प्रयुक्त हुए हैं। कीथ तथा मैकडॉनल के अनुसार[11] जनि अथवा जनी मे नारी मात्र का अपेक्षाकृत अधिक

१ तान् यजत्रा ऋतावृधोऽग्ने पत्नीवतस्कृधि। ऋग्वेद, १।१४।७

२ अभि नो नय वसु वीर प्रयतदक्षिणम्। वाम गृहपति नय। वही ६।५३।२

३ गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो। वही १०।८५।२६

४ वही ५।३।२ ८।३१।५ १०।१०।५ आदि।

५ वही ७।७५।४

६ वही १।६२।११

७ अनवद्या पतिजुष्टेव नारी। वही, १।७३।३

८ वही ७।२०।५ ५५।८ ८।७७।८ १०।१८।७, ८६।१० ११

९ वैदिक इण्डैक्स भाग १, पृ० ४४६

१० अर्यमिद्वाऽ अर्थिम आ जाया युवते पतिम्। ऋग्वेद १।१०५।२

११ वैदिक इण्डैक्स, भाग १, पृ० २७४

बिल्कुल आशय संदिग्ध है। ये शब्द अधिकांशतया बहुवचन में आते हैं,[1] अतः ऐसा सम्भव है कि वह विशिष्टतः 'पत्नियों' के नहीं वरन् रखेलियों के वाचक हैं किन्तु यह मत ठीक प्रतीत नहीं होता। ऋग्वेद में पत्युर जनित्वम्[2] पद पति की पत्नी का द्योतक है। यम-यमी सूक्त में जनि[3] का एकवचन में भी प्रयोग प्राप्त होता है।[4]

'पत्नी' का बोधक एक और शब्द ऋग्वेद में प्रयोग में आया है— 'वधू' यह शब्द साधारणतया स्त्री के लिये व्यवहृत होता है। एक ऋचा में यह 'विवाहित स्त्री' अर्थात् 'पत्नी' के अर्थ में आया है – वधूरिव पतिमिच्छन्त्येति[5]। यह वधू पति की कामना करती हुई इधर आती है। डेलब्रूक के अनुसार वह या तो विवाहित अथवा पति की आकांक्षी या विवाह संस्कार में दुलहन बनी हुई स्त्री का द्योतक है।[6] वहतु (बारात) की भाँति वह शब्द भी $\sqrt{}$वह (ले जाना) धातु से व्युत्पन्न होता है अतः इसका वह जिसे घर ले जाना हो अथवा जो घर ले जाई गई हो अर्थ है। कुछ विद्वान् इस पर आपत्ति करते हैं और 'वधू' को उस भिन्न धातु से व्युत्पन्न मानते हैं जिसका अर्थ विवाह करना है।[7]

(३) दाम्पत्य-सुख

सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में सांसारिक सुखोपभोगों से आनन्द उठाने की भावना मिलती है। ऋग्वेद में भी विवाह के अवसर पर वर वधू को समान प्रीति वाले होकर निवास करने का और पुत्र पौत्रों सहित प्रसन्नतापूर्वक सुखोपभोग करते हुए रहने का आशीर्वचन दिया गया है।[8] मनु के मतानुसार जिस कुल में पति पत्नी एक दूसरे से प्रसन्न रहते हैं वहां सब सुख सम्पत्ति निवास करती है।[9] अथर्ववेद में भी ऐसे पति पत्नी के लिये तेजोमयी सम्पत्ति पाकर अक्षीण बने रहने की कामना विद्यमान है।[10]

---

१ ऋग्वेद १।८५।१ ४।५।५ १३।५ ७।१८।२ २६।२ आदि।

२ वही, १०।१८।८

३ जायु पतिस्तन्वमा विविश्या। वही, १०।१०।३

४ वही ५।४७।६ ७।६६।३ ८।२६।१३ १०।२७।१२ ८५।३०

५ वही ५।३७।३

६ निर्दिष्ट वैदिक इण्डेक्स भाग २ पृ० २३६

७ वही

८ इहैव स्त मा वियौष्ट विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे॥ ऋग्वेद १०।८५।४२

९ संतुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याण तत्र वै ध्रुवम्। मनुस्मृति ३।६०

१० अथर्ववेद ६।७८।२

ऋग्वेद में भी पति पत्नी के सम्बन्ध विषयक प्राप्त सन्दर्भों के आधार पर उनके माधुर्यमय सौख्यपूर्ण एवं सुन्दर व्यवहार की झलक प्राप्त होती है। पति अपनी पत्नी में आनन्द की अनुभूति करता है। एक स्तुति में उपासक ने कहा है, कि पति-पत्नी में जिस प्रकार आनन्द लेता है, उसी प्रकार हमारे पुरोडाश को आ और हमारी वाणियों मे भी आनन्द ले[1] अर्थात् हमारी स्तुतियो का सेवन कर।" यहां पति पत्नी के मधुर सम्बन्ध को उपमान रूप में निक्षिप्त किया गया है।

पति पत्नी परस्पर एक दूसरे की कामना करते हैं और मिलकर अपना परिवार बनाते हैं। एक ऋचा में इसी भाव की पुष्टि की गई है—पत्नी पति के साथ मिलती है दोनो मिलकर बलवान्, वीर्य प्र रज से सतान उत्पन्न करते हैं[2] और एक सुव्यवस्थित परिवार की संरचना करके सुखी जीवन व्यतीत करते हैं। यह गृहस्थाश्रम का कार्य पति-पत्नी की प्रबल इच्छा शक्ति के कारण ही होता है इसलिये सदैव मन में शुभेच्छा ही विद्यमान रहती है।

अन्यत्र कामना करती हुई स्त्रियों को अपने पति को सदैव अच्छी प्रकार प्रस न करती हुई वर्णित किया गया है।[3] सोम की अर्चना में कहा गया है—"तू जिस प्रकार पत्नी पति को सुख देती है उसी प्रकार स्तुतिकर्ता को सुख देता है।[4]" इन्द्र को अपनी पत्नी के साथ हर्षित होने को कहा गया है। स्तुति में प्रार्थना की गई है कि— वह अपने रथों द्वारा यज्ञ मे आवे तत्पश्चात् अपने घर जाकर प्रिय पत्नी के साथ हर्षित हो।[5] पत्नी हर्षित होते हुए पति की कामना करके उसके पास आती हुई वर्णित है।[6]

पत्नी अपने पति को आकृष्ट करने के लिय विविध आकर्षक वस्त्रों से स्वयं को सुसज्जित करती है। प्रभातकालीन उषा हसती हुई नारी के समान अपने सौंदर्य को उसी प्रकार प्रकट करती है जैसे पति की कामना करने वाली पति के पास जाने वाली स्त्री। एक ऋचा में स्तुतियो को चाहने वाले पुरातन अग्निदेव के निमित्त अभिनव स्तोत्र का उच्चारण करते हुए यह आशा की गई है कि सौभाग्यशीला सु दर वस्त्रालकारों से सज्जित पत्नी के समान स्तुतिया अग्निदेव के हृदय

---

१ पुरोळाशं च नो घसो जोषयासे गिरश्च नः। वधूयुरिव योषणाम्।
ऋग्वेद ४।३२।१६

२ अर्थमिद् वा उ अर्थिन आ जाया युवते पतिम्।
तुञ्जाते वृष्ण्यं पयः परिदाय रसं दुहे वित्तं मे अस्य रोदसी। वही १।१०५।२

३ उप प्र जिन्वन्नुशतीरुशन्त पतिं न नित्यं जनय समीळा। वही, १।७१।१

४ जायेव पत्यावधि शेव मंहसे। वही, ९।८२।४

५ पुषण्वान् वज्रिन्त्समु पत्न्या मद। वही १।८२।६

६ वही ५।३७।३

७ जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव निरिणीते अप्सः। वही, १।१२४।७

का स्पर्श करेंगी ।[1]

स्तोता यज्ञ में अग्नि को तैयार किये गये पवित्र स्थान पर आमंत्रित करता हुआ कहता है—"यह वह पवित्र और तैयार किया हुआ स्थान है जो कामना करने वाली उस पत्नी के समान है जो पति के लिये सुन्दर वस्त्र धारण करती है ।"[2]

वाणी के अर्थ को जानने वाले की उपमा पत्नी के पति के प्रति किये गये समर्पण से की गई है— कोई वाणी को समझकर, देखकर और सुनकर भी उसका ज्ञान प्राप्त नहीं करते और किसी के लिये इस प्रकार अपने शरीर को खोल देती है जैसे कि सुन्दर वस्त्र धारण किये हुए कामना करने वाली पत्नी पति के लिये अपने शरीर को खोल देती है ।[3] एक स्थल पर इन्द्र की स्तुति मे उच्चारित वाणी को पति के समीप जाने वाली पत्नी के समान कहा गया है ।[4]

पति पत्नी के प्रेम के रूप मे उसका ध्यान करता हुआ उल्लिखित है[5] इससे स्पष्ट लक्षित है कि पति पत्नी सुखपूर्वक अपने दाम्पत्य जीवन का निर्वाह करते थे ।

इन्द्राणी का कथन है कि कोई दूसरी नारी उनसे अधिक सौभाग्यशाली नही है । उनसे अधिक कोई स्त्री अपने स्वामी को सुख देने मे समर्थ नही होगी ।[6] इससे ध्वनित होता है कि पत्नी अपने व्यवहार से अपने पति को सुख देने को यथाशक्ति प्रयत्नशील रहती थी साथ ही अन्य नारियो की अपेक्षा एक आदर्श बनकर दिखाने की भावना रखती थी । नारी के माधुर्यपूर्ण सौहार्द का यह एक अनुपम उदाहरण है ।

पत्नी हर प्रकार से अपने पति की वृद्धि करती है ऐसा एक ऋचा मे उल्लेख किया गया है ।[7] अक्ष-सूक्त मे पत्नी की प्रशसा मे कहा गया है कि वह पति की और उसके कुटुम्ब जनों की भी सेवा करती रहती है, वह सुशीला है इसलिये उसे

---

१ इमां प्रत्नाय सुष्टुतिं नवीयसीं वोचेयमस्मा उशते शृणोतु न ।
भूया अन्तरा हृद्यस्य निस्पृशे जायेव पत्य उशती सुवासा ।। ऋग्वेद १०।९१।१३

२ अयं योनिश्चकृमा यं वयं ते जायेव पत्य उशती सुवासा । वही ४।३।२

३ उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासा । वही, १०।७१।४

४ तमी गिरो जनयो न पत्नी सुरभिष्टमं नरां नसन्त । वही १।१८६।७

५ वही ४।२०।५

६ न मत्स्त्री सुभसत्तरा न सुयाशुतरा भुवत् ।
न मत्प्रतिच्यवीयसी न सक्थ्युद्यमीयसी विश्वस्मादिन्द्र उत्तर । वही १०।८६।६

७ पत्नी व पूर्वहूतिं वावृधध्या उषासानक्ता पुरुधा विदाने । वही, १।१२२।५

'अनुव्रता' कहा गया है।[1] इन सभी कारणों से ऋग्वेद में पत्नी को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है और उसे घर का केन्द्र-बिन्दु ही कह दिया गया है।

(ई) पति-पत्नी में कलह

ऊपर पुष्ट किया जा चुका है कि ऋग्वैदिक काल में पति-पत्नी का सम्बंध एक आदर्श प्रस्तुत करते हैं किन्तु कतिपय प्रसंग इस चित्र के विपरीत पक्ष को भी किसी सीमा तक प्रकाशित करता है। पत्नी 'अनुव्रता' होती हुई भी पति के दुर्व्यसन के कारण उसका परित्याग कर देती है अक्ष-सूक्त में सुन्दर भार्या अपने पति का त्याग कर देती है, ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है।[2] इससे ध्वनित होता है कि सुमनोहर पारिवारिक सम्बधों के साथ-साथ ऋग्वैदिक आर्य यथार्थ के धरातल से बहुत दूर नही रहता था। पारस्परिक द्वेष तथा कलह गृहस्थ की शान्ति को भंग कर देते थे।[3]

ऋग्वेद पति से द्वेष करने वाली स्त्रियों का भी उल्लेख प्रस्तुत करता है, जो स्त्रियाँ दुराचारिणी हो जाती हैं उन्हे अगाध नरक स्थान का भागी बताया गया है। स्त्रियाँ ही नहीं पति भी अपनी पत्नियो का त्याग कर देते हैं उनसे द्वेष करते थे। सम्भवतया चारित्रिक हीनता के कारण ऋग्वैदिक समय मे पति अपनी पत्नी का परित्याग कर देता था। बृहस्पति द्वारा अपनी पत्नी जुहू का त्याग कर दिया गया था[5] किन्तु देवताओ द्वारा उसे निष्पाप और शुद्धचरित्र वाली कहे जाने पर पुन बृहस्पति द्वारा ग्रहण किये जाने का भी उल्लेख है।[6] अन्यत्र भी एक पत्नी के परित्याग का विवरण प्राप्त होता है।[7]

एक से अधिक पत्नियाँ भी पारिवारिक कलह का कारण होती हैं। स्तोता को विपत्ति जन्य सताप पत्नियो से उत्पन्न संताप के समान प्रतीत होता है।[8] द पत्नियों से घिरा व्यक्ति भी दुर्गति के गर्त मे लीन वर्णित हुआ है।[9] सपत्नीबाधन सूक्त म प्राप्त मन्त्रो से सपत्नी से डाह और उसके कारण उत्पन्न पारिवारिक कलह का बडा सजीव चित्रण प्राप्त होता है।[10]

---

१ अक्षस्याहमेकपरस्य हेतोरनुव्रतामप जायामरोधम्। ऋग्वेद, १०।३४।२

२ द्वेष्टि श्वश्रूरप जाया रुणद्धि। वही १०।३४।३

३ पतिरिपो न जनयो दुरेवा। वही ४।५।५

४ कुवित् पतिद्विषो यतीरिन्द्रेण सङ्गमामहे। वही ८।९१।४

५ वही १०।१०९।१

६ वही १०।१०९।२, ४ ६

७ परिवृक्तेव पतिविद्यमानट्। वही, १०।१०२।११

८ वही १।१०५।८, १०।३३।२

९ वही १०।१०१।११

१० वही १०।१४५ एवं १५९ में प्राप्त ऋचायें।

(ञ) पत्नी के कर्त्तव्य

ऋग्वैदिक काल मे पत्नी धार्मिक और सामाजिक दोनों क्षेत्रों को समान रूप से अपना कार्यक्षेत्र मानती थी। पितृ कुल से पृथक होकर पतिगृह में प्रतिष्ठित[1] स्त्री को विवाहावसर पर उसे श्रेष्ठ गृहिणी, श्वसुरादि पर शासन करने वाली उत्तम संतान उत्पन्न करने वाली पति के लिये कल्याण-स्वरूपिणी, द्विपदों और चतुष्पदों के प्रति कर्त्तव्यपरायणा होने का आशीर्वाद दिया गया है।[2] ऐसा प्रतीत होता है मानो विवाह-पथ पर ही कन्या को पत्नी के रूप में उसके कर्त्तव्यों का बोध आशीर्वचना के रूप मे करा दिया जाता था।

धार्मिक कार्यों मे भी पत्नी पति का साथ देती है, इस प्रकार पत्नी के कर्त्तव्य दो रूपों मे सामने आते हैं—

(१) धार्मिक (२) पारिवारिक

(क) धार्मिक कर्तव्य—वैदिक साहित्य मे नारी को धार्मिक अनुष्ठानो मे अधिकृत नहीं किया गया है,[3] किन्तु ऋग्वैदिक काल मे स्त्री का धार्मिक गतिविधियो मे गमन निषिद्ध प्रतीत नहीं होता। प्राप्त सन्दर्भ इस तथ्य की पुष्टि करते हैं।

पति और पत्नी दोनों मिलकर पूजार्चन का कार्य करते थे। एक स्थल पर अग्नि की पूजा करने वाले पति पत्नी को वृद्धावस्था तक पहुंच जाने का उल्लेख किया गया है। याजको का सम्यक रूप से अग्नि को जानकर अपनी पत्नियों सहित नमस्कार के योग्य अग्नि की पूजा का आधान करते हुए चित्रित किया गया है।[5] पति पत्नी दोनो समान मन वाले होकर सोमाभिषवण करते हैं तथा उसे छन्ने से छानते हैं।[6] अन्यत्र भी अग्नि मथन और सोम सवन मे अंगुलियो को स्त्रीवाची शब्दो से कथित किया है।[7] पति पत्नी युगल रूप से धार्मिक कार्यों को करते हैं। इसका उल्लेख अनेक बार ऋग्वेद मे किया गया है। यज्ञ करने वाले दम्पति की स्तुतियां देवताओं की इच्छा करती है और दम्पती उन्हे हवि प्रदान करते हैं।[8] एक स्थल पर पति और पत्नी दोनो का मिलकर पूजा करने का विधान

१ ऋग्वेद १०।८५।२५

२ वही १०।८५।२६, ४३ ४४ ४५।

३ वही पा० स पृ० ३५८ पर निर्दिष्ट।

४ बृहद्वयो बृहते तुभ्यमग्ने धियाजुरो मिथुनास सचन्त। ऋग्वेद ५।४३।१५

५ सजानाना उप सीदन्नभिज्ञु पत्नीवन्तो नमस्यं नमस्यम्। वही, १।७२।५

६ या दम्पती समनसा सुनुत आ च धावत। वही ८।३१।५

७ ऋ० ३।२६।३ ६।१।७

८ वीतिहोत्रा कृतद्वसू दशस्यन्तामृताय कम्।
समूधो रोमश हतो देवेषु कृणुतो दुव। ऋग्वेद ८।३१।९

है।[1] अन्यत्र भी इन्द्र के निमित्त यजमान पत्नी सहित यज्ञ का विस्तार करते हुए वर्णित है।[2] इसी प्रकार एक ऋचा में कहा गया है कि जब इन्द्र पति पत्नी को एक मन वाला कर देता है तो वे दोनो उन्हें मित्र के समान घृत से भूषित करते हैं।[3] दशम मण्डल की एक ऋचा मे यज्ञावसर पर पति-पत्नी दोनों के भाग लेने का उल्लेख है।[4]

विवाह-सूक्त में भी वधू के लिये गृह स्वामिनी बनने और सब पर शासन करके विदथ (देव पूजा) में भाग लेने की कामना की गई है।[5] वधू को गार्हपत्य और वृद्धावस्था पर्यन्त देव-पूजा में संलग्न रहने का उपदेश दिया जाता था।[6]

पत्नी अपने पति के साथ ही धार्मिक क्रियाओं मे सहचरी रहती थी ऐसा नही था वह पति की अनुपस्थिति मे भी यज्ञादि क्रियायें सम्पन्न करती थी। पुरुकुत्स की पत्नी ने अपने पति की अनुपस्थिति मे इन्द्र और वरुण को हवियों और स्तुतियो मे प्रसन्न किया था।[7] वध्रिमती ने अश्विनी द्वय को आहूत किया और उन्हे सन्तुष्ट करके पुत्र प्राप्त किया।[8] इन्द्र की पत्नी भी पति के युद्ध मे चले जाने पर उनकी रक्षा के निमित्त घर मे यज्ञ करती हुई दिखाई देती है।[9]

उपर्युक्त सन्दर्भो द्वारा इस तथ्य को बल मिलता है कि ऋग्वेद में नारी को धार्मिक कृत्या के लिये अयोग्य नही माना जाता था बल्कि धार्मिक कार्य सम्पादन उनके कर्त्तव्यो का एक भाग रहा। धार्मिक क्षेत्र में स्त्रियों की हीनता का विचार उत्तरकाल मे ही उत्पन्न हुआ।

(ख) पारिवारिक कर्त्तव्य—स्त्री का पहला कर्त्तव्य अपने परिवार के प्रति है। सन्तानोत्पत्ति द्वारा वंश वर्धन उसके कर्त्तव्यो में सर्वप्रथम आता है। पत्नी वीर प्रसवा हो यह अपेक्षा निरन्तर बनी रहती है। ऋग्वेद मे सांसारिक समृद्धि और सुरक्षा का हेतु वीर पुत्र समझा जाता था। ऋग्वेद संहिता के सभी भागो मे जिनमे सन्तान की विशेषत पुरुष सन्तान की कामना की गई है[10] वधू को वीर

१ अधि द्वयोरदधा उक्थ्यं वचो यतस्रुचा मिथुना या सपर्यत। ऋग्वेद १।८३।३
२ वि त्वा ततस्रे मिथुना अवस्यवो। वही १।१३१।३
३ अञ्जन्ति मित्रं सुधितं न गोभिर्यद्दम्पती समनसा कृणोषि वही, ५।३।२
४ स होत्रं स्म पुरा नारी समनं वाव गच्छति। वही १०।८६।१०
५ गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमा वदासि। वही १०।८५।२६
६ वही १०।८५।२७
७ पुरुकुत्सानी हि वामदाशद्धव्येभिरिन्द्रावरुणा नमोभि। वही ४।४२।९
८ पुत्रं हव वध्रिमत्या। वही १०।३९।७। द्रष्टव्य—६।६२।७
९ वही, ४।२४।८
१० वही १।१२।११ २।३०।५ ६।१।९ ४।५३।१५ १०।३७।७ ३।५४।८ ४।३६।९ ७।४१।७ ६।१८।६ ८।९८।१०

प्रसन्न होने का आशीर्वाद दिया गया है।[1] पुत्रों की संख्या दस कही गई है।[2]

ऋग्वैदिक नारी गृह कार्यों के प्रति पर्याप्त सजग दिखाई देती है। स्त्री को यशस्विनी और सरल स्वभाव वाली और निज-कार्य परायणा कहा गया है।[3] पत्नी को अपने पति की सेवा में उपस्थित रहने[4] तथा वधू को अपने घर में गृहपत्नी बनने का आशीर्वाद दिया जाता है।[5] गृहपत्नी कहने से प्रतीत होता है कि घर का सम्पूर्ण कार्यभार उसके कन्धों पर होता था। विवाहोपरान्त घर के पशुओं की देखरेख करना भी स्त्री के कार्यक्षेत्र में आता है इसीलिये गृह प्रवेश पर वधू को पशुओं के लिये भी हितकारिणी होने की कामना की गई है।[6] उससे ननद देवर सास और श्वसुर परिवार के सभी सदस्यों की आवश्यकतायें पूर्ण करने की अपेक्षा रखी जाती है। तभी तो उसे श्वसुर श्वश्रू ननान्दा और देवर पर शासन करने वाली सम्राज्ञी कहा गया है।

गृहस्वामिनी घर में प्रभात-वेला में ही सम्भवत सबसे पहले जागती थी। एक ऋचा में घर में सोने वाले व्यक्तियों को जगाने वाली स्त्री से उषा की उपमा दी गई है।[8] विशेषत सबका पालन करने वाली उत्तम गृहिणी स्त्री से उषा की उपमा दी गई है।[9] स्त्री घर में सम्पूर्ण सुखों को देने वाली होती है। एक ऋचा में कहा गया है—जिस प्रकार पत्नी से घर अलकृत होता है उसी प्रकार अग्नि से यज्ञशाला अलकृत रहती है।[10] नदियों को पत्नी के समान कल्याणकारिणी बताया गया है।[11]

(ऊ) पत्नी के अधिकार

(क) साम्पत्तिक—पत्नी के साम्पत्तिक अधिकार के विषय में ऋग्वेद में कोई स्पष्ट साक्ष्य प्राप्त नहीं होता। पत्नी माता और विधवा के सम्पत्ति विष

१ ऋग्वेद १०।८५।४४
२ वही १०।८५।४५ दशास्यां पुत्राना धेहि।
३ शुचिभ्राजा उषसो नवेदा यशस्वतीरपस्युवो न सत्या। वही १।६।१
४ ज या विशते पतिम्। वही १०।८५।२९
५ गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथास। वही १०।८५ २६
६ वही १।८५।४३ ४४
७ सम्राज्ञीश्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वा भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु। वही १०।८५।४६
८ अवासन्न ससतो बोधयन्ती शश्वत्तमागात् पुनरेयुषीणाम्। वही १।१२४।४
९ आ धा योषेव सूनर्युषा याति प्रभुञ्जती। वही १।४८।५
१० दुरोकशोचि क्रतुन नित्यो जायेव योनावर विश्वस्मै। वही १।६६।३
द्रष्टव्य प्रस्तुत ऋचा पर सायण भाष्य।
११ क्षम कृण्वाना जनयो न सिन्धव। वही १०।१२४।७

यक अधिकारों का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता। ऐसा भी कोई उदाहरण नहीं है, जो उनके विषय में दहेज, जो उत्तर वैदिक काल मे 'स्त्रीधन' कहा जाता था, की पुष्टि करता हो। एक ऋचा[1] मे शशीयसी द्वारा श्यावाश्व को धन देने का उल्लेख किया गया है किन्तु देय धन उसकी अपनी सम्पत्ति था अथवा पति की, यह सदिग्ध है। अत इसे पत्नी के साम्पत्तिक स्वत्व का पोषक प्रमाण नही कहा जा सकता। कीथ और मैक्डॉनल ने यह सम्भावना की है कि पत्नी के घर से यदि कुछ दहेज मिला हो अथवा पत्नी का अपना कोई स्वार्जित धन हो, तो उन दोनो पर पति का अधिकार होता था।[2] इस प्रकार पति और पत्नी के वैधानिक सम्बन्ध को व्यक्त करने वाले विवरण लुप्त प्राय ही हैं।

(ख) नियोग का अधिकार—ऋग्वैदिक काल मे सन्तानोत्पत्ति स्त्री का महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य था जैसा कि पहले वर्णित किया जा चुका है। स्त्री मे मातृत्व शक्ति का होना सबसे विशिष्ट लक्षण माना जाता था। पुरुष सन्तान प्राप्त करना इतना महत्त्वपूर्ण समझा जाता था कि पति की नपुसकता अनुपस्थिति अथवा मृत्यु भी सन्तानोत्पत्ति म बाधा नही बनती थी। उत्तरकालीन साहित्य मे इसी को नियोग' कहा गया।[3]

ऋग्वेद मे कतिपय सन्दभ एसे हैं जिनमे स्त्री को अपने पति की अनुपस्थिति मे पुत्र प्राप्त हुआ है पुरुकुत्सानी ने अपने पति की अनुपस्थिति में (पुरुकुत्स बाध कर कारागृह में डाल दिये गये थे) त्रसदस्यु नाम का पुत्र प्राप्त किया।[4] वध्रिमती ने भी अश्विनी द्वय की अनुकम्पा से हिरण्यहस्त नामक पुत्र प्राप्त किया ऋग्वेद में इसका अनेकश उल्लेख किया गया है।[5]

स्त्री अपने किसी भी समीपस्थ सम्बन्धी से नियोग प्राप्त कर सकती थी[6] किन्तु देवर को सम्भवत सबसे प्रथम स्थान दिया जाता था। विधवा के सन्दर्भ मे इसका विस्तार से विवेचन किया जायेगा। पति की मृत्यु के तुरन्त पश्चात् अन्तिम सस्कार के समय पर ही देवर उससे पाणिग्रहण का अनुरोध करता है।[7] और विधवा को देवर के प्रति आकृष्ट भी दिखाया गया है।[8] इससे ध्वनित होता है कि सन्तानोत्पत्ति के कारण ही ऐसा होता होगा। यह अवश्य सदिग्ध है कि यह

---

१ ऋग्वेद ५।६१।५
२ वैदिक इण्डक्स भाग १ पृ० ४८४
३ बी० एस० उपाध्याय वीमेन इन ऋग्वेद प० १०८
४ ऋग्वेद ४।४२।८,९
५ वही ६।११६।१३ ११७।२४ ६।६२।७ १०।३९।७ १०।६५।१२
६ वीमेन इन ऋग्वेद पृ० १०८
७ ऋग्वेद, १०।१८।८
८ वही १०।४०।२

सम्बन्ध नियोग द्वारा पुत्र की प्राप्ति पर्यन्त होता था अथवा जीवन पर्यन्त ।

(क) नारी की निन्दा

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवरण में नारी ऋग्वैदिक समाज की गरिमामयी प्रतिमा को प्रस्तुत करती है उसे गृहपत्नी और सम्राज्ञी कहा जाता था किन्तु इस चित्र का विपरीत भाग भी यत्र-तत्र आभासित हो जाता है ।

एक स्थल पर कहा गया है कि स्त्री के मन पर नियन्त्रण अति दुष्कर है क्योंकि स्त्री चंचल मन वाली होती है ।[1] एक अन्य ऋचा में तो स्त्री की बड़ी तीव्र निंदा की गयी है । मरणोत्सुक पुरुरवा को रोकते हुए कहा गया है— स्त्रियाँ और वृकों का हृदय एक जैसा होता है उनकी मित्रता अटूट नहीं होती ।[2] प्रस्तुत वचन उर्वशी के विषय में कहा गया है जो एक अप्सरा थी । प्राण त्याग जैसे अवसर पर दुखित हृदय को सान्त्वना प्रदान करने के लिये कही गई उक्ति है इस लिये व्यथित हृदय से निःसृत होने के कारण सम्पूर्ण जाति पर ही आरोप लगा दिया गया है, किंतु इससे ऋग्वैदिक काल की सम्पूर्ण नारी जाति के प्रति उनकी स्थिति के विषय में अनुमान लगाना न्याय संगत नहीं है ।

(ए) विधवा

ऋग्वेद में विधवा स्त्री के विषय में उल्लेख प्राप्त होते हैं परन्तु उन उल्लेखों से उसके जीवन अधिकार एवं कर्त्तव्यों के विषय में स्पष्ट प्रकाश नहीं पड़ता । पति की मृत्यु हो जाने पर स्त्री विधवा हो जाती है । विधवा संस्कृत—विध (अबला)[3] दृष्टिगोचर होने वाली—धातु से निष्पन्न है । यास्क ने विधवा को पोषक रहित कहा है क्योंकि उन्होंने विधवा शब्द की 'विधातृका भवति' (वि + $\sqrt{}$धा पोषक रहित) इस प्रकार व्याख्या की है । कतिपय विद्वान् इसकी व्याख्या वि+धवा अर्थात् पति रहित करते है ।[4] चर्मशिरस (निरुक्त में उद्धृत कोई प्राचीन आचार्य) के मत का उद्धृत करते हुए डा० शिवराज शास्त्री ने लिखा है कि विधवा को विधवा कहने का कारण है कि वह पति शोक अथवा अन्य भय से विह्वल होकर इधर उधर भागती थी ।[5]

यद्यपि विधवा विषयक सन्दर्भ अत्यल्प है परन्तु नगण्य होते हुए भी वे समाज में अपना एक अस्तित्व रखती थी इसकी झलक अवश्य मिलती है । दशम मण्डल

---

१ इन्द्रश्चिद् धा तदब्रवीत्स्त्रिया अशास्यं मनः । ऋग्वेद ८।३३।१७

२ न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता । वही १०।९५।१५

३ बक डिक्शनरी पृ० १३१

४ अपि वा धव इति मनुष्यनाम तद्वियोगाद्विधवा । निरुक्त ३।१५

५ मोनियर विलयम्स संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी पृ० ९६७

६ विधावनाद्वा इति चर्मशिरा निरुक्त ३।१५

उद्धृत ऋ० का० सं० पृ० ३७३

में उन विधवाओं का संकेत मिलता है जिनका पुनर्विवाह नहीं होता था। अश्विनी देवों को उन पतिविहीना स्त्रियों का रक्षक कहा गया है।[1] एक अन्य ऋचा भी 'विधवा' के अस्तित्व को प्रतिपादित करती है जिसमें इन्द्र की माता को किसने विधवा बनाया ? यह प्रश्न किया गया है।[2] अन्त्येष्टि संस्कार की एक ऋचा[3] में भी विधवाओं के होने की एक धूमिल सी झलक प्राप्त होती है। ऐसा लक्षित होता है कि विधवा नारियां समाज में जीवितावस्था में रहती थी। एक ऋचा में कहा गया है— ये अविधवा उत्तम पतियों वाली नारियां अंजन के रूप में घृत लगाकर बढ़ें। अश्रुरहित, रोगरहित और उत्तम रत्नों वाली स्त्रियां आगे स्थान ग्रहण करें।[4]

अविधवा' पद से यह ध्वनित होता है कि विधवायें भी होती होंगी इसी लिये केवल सधवाओं को आमन्त्रित किया गया है। प्रस्तुत ऋचा में विधवा नारियां आज की ही भाँति धार्मिक संस्कारों से दूर रखी जाया करती थीं। वर्णनीय संस्कार विधवा के पुनर्विवाह का प्रसंग है जिसका पति अभी मृत्यु को प्राप्त हुआ है और जो अपने मृत पति के समीप ही पड़ी हुई है। यह दुःखभरा अवसर तत्क्षण ही एक शुभ अवसर में परिवर्तित हो जाता है। विधवा के पुनर्विवाह हेतु उसे सजाने के लिये स्त्रियों को आमन्त्रित किया जाता था। इस अवसर पर विधवाओं का वहां पाया जाना वर्जित था।' नारीरविधवा पद समाज में उन विधवाओं के अस्तित्व को पुष्ट करता है जिनका पुनर्विवाह न हुआ हो।

इस प्रकार विधवा के अस्तित्व को तो ऋग्वैदिक साक्ष्यों के आधार पर प्रमाणित कर दिया गया है किन्तु उनकी सामाजिक स्थिति विचारणीय है। उनके सम्पत्तिक अधिकार के विषय में ऋग्वेद नितान्त मौन ही दिखाई देता है, कहीं कोई ऐसा साक्ष्य नहीं है जिसे विधवा के साम्पत्तिक स्वत्व के विषय में असंदिग्ध रूप से प्रस्तुत किया जा सके। एक ऋचा में पतिविहीना नारी पति के धन को जिस प्रकार प्राप्त करती है[5] यह उपमा प्राप्त होती है इससे विदित होता है कि सम्भवतया विधवा अपने मृत पति के धन को प्राप्त करती होगी किन्तु प्रस्तुत ऋचा का यह अर्थ संदिग्ध है। अतः इसको विधवा के दायाद में असंदिग्ध प्रमाण नहीं माना जा सकता।

---

१ युवं ह कृशं युवमश्विना शयुं युवं विधन्तं विधवामुरुष्यथः।
ऋग्वेद १०।४०।८

२ कस्ते मातरं विधवामचक्रत्। वही, ४।१८।१२

३ वही १०।१८।७

४ इमा नारीरविधवा सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा संविशन्तु।
अनश्रवोऽनमीवा सुरत्ना आरोहन्तु जनयो योनिमग्रे ।। वही, १०।१८।७

५ परिवृक्तेव पतिविद्यमानट्। ऋग्वेद १०।१०२।११

ऋग्वैदिक साक्ष्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सन्तानोत्पत्ति के योग्य अवस्था वाली विधवाओं को समाज मे पुनर्विवाह द्वारा सम्मानित स्थान दिया जाता था। पति की मृत्यु के उपरान्त मृतक के छोटे भाई से विधवा का पुनर्विवाह सम्भव था ऐसा अन्त्येष्टि सूक्त की एक ऋचा से ज्ञात होता है।[1] मृतक के पास लेटी हुई विधवा को सम्बोधित करके देवर कहता है—'उठो घर लौटो! तुम्हारा यह पति मृत्यु को प्राप्त हो चुका है अब तुम व्यर्थ ही इसके पास बैठी हो। मुझ हाथ पकड़ने वाले प्रेमी पति के साथ तेरा यह जनित्व (जाया भाव) प्रारम्भ हो गया है।[2] इस प्रकार देवर सन्तानोत्पत्ति के लिये मृतक भाई की पत्नी को आमन्त्रित करता था। यह निश्चित नहीं है कि वह आजीवन अपने देवर से पत्नीत्व भाव को प्राप्त करती थी अथवा नियोग के लिये यह परम्परा थी अर्थात् निर्धारित पुत्र संतति को उत्पन्न करने तक ही विधवा का देवर के साथ यौन सम्बन्ध रहता था।

एक अन्य ऋचा[3] भी विधवा विवाह को पुष्ट करती है जिसमें अश्विनी देवो से प्रश्न किया गया है— कौन तुम्हे घर लाता है? जैसे विधवा अपने पति के भाई को बिस्तर (शय्या) पर खींचती है जिस प्रकार बधू अपने पति को।[4]

इस प्रकार यह लक्षित होता है कि विधवा का अपने देवर से विवाह प्रचलित था। देवर अपनी विधवा भाभी को पत्नीत्व प्रदान करता था और पत्नी स्वरूपा विधवा देवृकामा[5] होकर उसे स्वीकार करती विदित होती है।

ऋग्वेद मे विधवा को पति के साथ जला देने का कोई साक्ष्य उपलब्ध नही है। ऋग्वेद १०।१८।८ के विषय में डॉ० शिवराज शास्त्री का मन्तव्य है कि ऋचा के पूर्वार्ध से प्रतीत होता है कि वक्ता केवल आचारमात्र के निर्वाह के लिये ऐसा नही कह रहा है बल्कि उसका अभिप्राय विधवा को प्राण त्यागने से रोकना है।[6]

ऋग्वेद की ऋचा १०।४०।२ से भी यह प्रकट होता है कि विधवा पति के मरण के उपरान्त भी जीवित रहती थी और उसका अपने पति के भाई के साथ घनिष्ठता का सम्बन्ध होता था। सती प्रथा पर वैवाहिक-संस्कार नामक अध्याय में विस्तार से विवेचन किया जायेगा। प्राप्त प्रसंगो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ऋग्वैदिक आर्य विधवा के पति के साथ सती होने से तो

१ ऋग्वेद १०।१८।८

२ उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ॥ वही,

३ वही, १०।४०।२

४ को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ। वही।

५ वही १०।८५।४४

६ ऋ० पा० सं० पृ० ३७९

परिचित थे किन्तु प्रचलित प्रथा के रूप में विधवा का सहमरण प्राप्त नहीं था। समग्र वैदिक साहित्य में विधवा सहमरण के समर्थन में एक शब्द भी प्राप्त नहीं होता।

३ जननी

ऋग्वेद में ऐसा कोई सूक्त अथवा ऋचा नहीं है जो विशेष रूप से माता' को सम्बोधित करके कही गयी हो। मानव जन्म के पश्चात् जब भी थोडा बहुत समझने योग्य होता है संसार म सबसे पहले माता के महत्त्व को पहचानता है। मातर् √मा धातु से निष्पन्न माना गया है जिसका अर्थ है 'उत्पन्न करना' अर्थात् जो उत्पन्न करे वह माता है यह इसका मूल अर्थ है किन्तु बाद मे इसके जो पालन करती है जो जीवित रखती है जो प्यार करती है' और जो रक्षा करती है' वह माँ है ये ग्य अर्थ भी विकसित हो गये हैं।[1] ऋग्वैदिक ऋषि माता के लिये इन सब भावनाओ के प्रति पर्याप्त सजग दिखाई देते हैं।

(अ) माता के लिये प्रयुक्त शब्द

माता के लिये अनेक शब्दो का प्रयोग किया गया है। डॉ० शिवराज शास्त्री ने इन सभी शब्दो का अपनी पुस्तक मे वर्णन किया है[2] ये शब्द हैं— १ मातर २ जनि जनित्री, ३ प्रसू, सू ४ अम्बा, अम्बि, ५ नना। इनमे से अधिकाश श० उत्पत्ति अर्थ को अपने में निहित किये हुए हैं। मातर शब्द देवों के लिये बहुश प्रयुक्त पद है। मनुष्य माताओ के लिये भी इसका प्रयोग हुआ है। शुन शेप ऋषि अपने माता और पिता को देखने के आकाक्षी है।[3]

सर्वत्र प्रख्यात अग्निदेव को माता की भाँति प्रत्येक का पोषण करने वाला कहा हैं।[4] अन्य स्थलो पर भी मनुष्य माता का उल्लेख किया गया है।[5] अपने पारिवारिक सदस्यो की क्षेम याचना मे भी माता का वर्णन किया गया है।[6] अ यत्र माता पिता के शक्ति से पूर्ण और महान् मन को स्तुतियो से प्रसन्न करने का वर्णन है।[7]

मातर माता पिता दोनो के लिये भी प्रयोग मे मिलता है।[8] माता शब्द देवो

---

१ डा० जी० के० भट्ट वैदिक थीम्स प० ६८
  ऋ० पा० सं० प० २७३ २७७
३ पितरं च दृशेय मातरं च। ऋग्वेद १।२४।१ २
४ मातेव यद् भरसे पप्रथानो जनजनं धायसे चक्षसे च। वही ५।१५।४
५ वही ६।७५।४, ७।४३।३, ५।३४।४ ८।१६, १०।३४।१० १८।११ ६४।१४
६ मा नो वधी पितरं मोत मातरं। वही १।११४।७
७ उत मन्ये पितुरद्रुहो मनो मातुर्महि स्वतवस्तद्धवीमभि। वही, १।१५९।२
८ वही, १।१५९।२, ३।१।७, २।२, ८।९९।६

के लिये अनेकश प्रयुक्त हुआ है।[1] ऋग्वैदिक ऋषियों ने माता को जीवनदात्री के रूप में प्रत्यक्ष रूप से प्रकृति के माध्यम द्वारा स्पष्ट किया है। पृथिवी रूपी माता ने अपने कर्म से जल के लिये पिता का सेवन किया इसके पश्चात् पिता रूपी द्यु प्रीतिपूर्वक मन से माता से सयुक्त हुआ वह गर्भ धारण करने की इच्छा वाली माता गर्भ को उत्पन्न करने वाले रस से युक्त हुई तब अन्न की उत्पत्ति होती है।[2] प्रस्तुत ऋचा प्रकृति की प्रतिभा को बहुत स्पष्ट कर देती है।

एक ही परिवार में कार्यों की विविधता प्रदर्शित करते हुए पारिवारिक सदस्यों के व्यवसायों के सन्दर्भ में माता का उल्लेख किया गया है—जो चक्की पीसने का काम करती है, स्तोता स्वयं कवि है और पिता वैद्य है।[3] प्रस्तुत ऋचा म माता के लिये नना शब्द का प्रयोग किया गया है।

सू और प्रसू शब्दों से भी माता का बोध कराया गया है। युद्ध-क्षेत्र मे माता दानु अपने पुत्र की रक्षा मे तत्पर प्रहार होने पर अपने पुत्र वृत्र के ऊपर लेट जाती है इस प्रकार माता ऊपर थी पुत्र नीचे था। दानु बछड़े युक्त गाय के समान लेटी है।[4] यहाँ माता को सू कहा गया है। ऋग्वेद मे अग्नि को पुत्र कहा गया है जिसे अरणियों ने उत्पन्न किया है इन अरणियों को प्रसू कहा गया है।[5]

'अम्बा' माता का वाचक है। जल को ऋत्विकों की माता कहा गया है[6] अधिकांशतया ये सम्बोधन म प्रयुक्त हुआ है। सरस्वती देवी को श्रेष्ठ माता और श्रेष्ठ नदी कहा गया है, यहाँ तमप् प्रत्यय लगाकर 'अम्बि' शब्द का प्रयोग मिलता है। जलों को भी अम्बितमा कहा है।[7] अन्यत्र अन्य मातृवाचक शब्दों मे भी तमप प्रत्यय लगाकर व्यवहार मे लाया गया है नदी का बोधक बन गया है।[8]

जनि √जन् धातु (उत्पन्न करना) से निष्पन्न है। प्रायः पत्नी के अर्थ में

---

१ वही १।१६४।८ ३।१।८६ ४।१६०।२ ६।६१।३३ ६।६१।६ ११३।१६ आदि
२ माता पितरमृत आ बभाज धीत्यग्रे मनसा स हि जग्मे।
सा बीभत्सुर्गर्भरसा निविद्धा नमस्वन्त इदुपवाकमीयु ॥ वही १।१६४।८
३ कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना। वही ९।११२।३
४ उत्तरा सूरधर पुत्र आसीद्दानु शये सहवत्सा न धेनु। ऋग्वेद १।३२।६
५ अन्तर्वावासु चरति प्रसूषु। वही १।९५।१०
६ अम्बयो यन्ति अध्वभिर्जामयो अध्वरीयताम्। वही, १।२३।१६
७ वही २।४१।१६, १०।९७।२ आदि।
८ अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति। वही, २।४१।१६
९ वही, ६।५०।७
१० वही १।१५८।५, २।४१।१६ ३।३३।३

गया है।[1] एक ऋचा में माताओं का बच्चों की ओर दौड़ने का वर्णन है।[2] 'जनित्री' पद माता के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अदिति इन्द्र की माता कही गई है, एक ऋचा में उन्हीं का बोधन 'जनित्री शब्द से किया गया है—' माता ने (अदिति) बुद्धिमान (इन्द्र) से बता दिया।'[3]
ऋग्वैदिक ऋषि ने अपनी देवताओं से याचना करने के लिये उनसे अपना माता पुत्र का सम्बन्ध स्थापित कर लिया है।[4] उनसे मातृवत् उदार होने की कामना की गई है। अनेक स्त्री-देवताओं में माता की कल्पना की है।[5] गौओं को भी माता कहा गया है।[6]

(आ) गर्भाधान और प्रसव

गर्भाधान जैसे पवित्र कर्त्तव्य के लिये वैदिक साहित्य में पुरुष और स्त्री के मिलन की उपमा पृथ्वी और आकाश से दी गई है। पिता रूपी आकाश जल वर्षा करके पृथ्वी रूपी माता को गर्भ धारण कराते हैं और वनस्पति की उत्पत्ति होती है।[7] एक स्थल पर रूपक द्वारा अंगिरसों का उषा के साथ यौन सम्बन्ध स्थापित करके प्रजनन का बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है।[8] अन्यत्र कहा गया है— हे इन्द्र! तेरी कामना से द्यावापृथिवी ने सोम को, जिस प्रकार माता गर्भ को धारण करती है उसी प्रकार धारण करते हैं।[9]

पंचम मण्डल के ७८ वें सूक्त की अन्तिम तीन ऋचायें जिन्हें— गर्भस्राविण्युपनिषत् कहा जाता है, प्रसव सम्बन्धी जानकारी देती है। गर्भावस्था का काल दस मास स्वीकृत किया गया है। एक ऋचा में कहा गया है कि दस मास पश्चात्

---

१ ऋ० पा० स० प० २७५
२ आभ प्र न्दुजनयो न गर्भं रथा इव प्र ययु साक मद्रय। ऋग्वेद ४।१९।५
ग्रिफिथ कृत अनुवाद।
३ प्र त जनित्री विदुष उवाच। ऋग्वेद २।३०।२
४ वही १।१६४।३३ ५।४७।१५ १०।६४।१ ८।७३।१७
५ वही, १।७२।९ १।१६४।३३ २।४१।१६ ३।८।१, ४।२।१५, ५।४२।१६, ५।५।६ ५।४५।२ ५।४५।६, ५।५।६ ५।४१।१५ ५।५२।१६, ५।४१।१९, ६।६६।३ ६।६७।४, ८।१०३।२, १०।६२।३ १०।२७।१४
६ वही, १।११३।१९ ७।७७।२
७ वही १।१६४।८
८ अधा मातुरुषस सप्त विप्रा जायेमहि प्रथमावेधसो नॄन्।
दिवस्पुत्रा अंगिरसो भवेमाद्रिं रुजेम धनिनं शुचन्त॥ वही, ४।२।१५
९ यं सोम मिन्द्र पृथिवीद्यावा गर्भं न माता बिभृतस्त्वाया॥ वही, ३।४८।१५

गर्भ बाहर आये ।[१] आगामी ऋचा मे भी सुखपूर्वक प्रसव के विषय मे कहा गया है ।[२] सम्भवत प्रसव क्रिया माता और शिशु के जीवन के लिये घातक भी हो सकती थी इसीलिये माता और शिशु दोनो के जीवन के प्रति सुरक्षा की कामना की गई है ।[३] इन्द्र की उत्पत्ति के अवसर पर उसकी माता के आसन्नमरण होने का उल्लेख है ।[४]

गर्भ यदि पूर्ण अवस्था प्राप्त न करे और अपूर्ण अवस्था मे ही स्रवित हो जाए तो ऋग्वैदिक आर्यों के मत मे यह किसी रोग अथवा दुरात्मा का परिणाम होता है जिससे मुक्ति के लिये एक सम्पूर्ण सूक्त समर्पित किया गया है ।[५]

कीथ और मैक्डॉनल के अनुसार ऋग्वेद में भी बच्चे के गुह्य नाम की मान्यता थी ।[६]

३ सन्तति की कामना

विवाह-सस्था का निर्माण आदिकाल से ही समाज के सुव्यवस्थित गठन के लिये हुआ था । प्रस्तुत अध्याय के पत्नी प्रकरण मे यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि विवाह मे कन्या को गृहपत्नी बनने का आशीर्वाद दिया जाता था और पत्नी का सवप्रथम कर्त्तव्य सन्तानोत्पत्ति है । वधूको दश पुत्रो की और वीर पुत्रो[७] को माता बनने की कामना की गई है । प्रजापति से स तान प्राप्ति के लिये प्राथना है ।[८] सूर्या सूक्त की अनेक ऋचाओ मे अपत्य प्राप्ति के लिये याचना की है ।[९] एक स्थल पर आशीर्वाद दिया गया है कि वर वधू पुत्र पौत्रो सहित प्रसन्नतापूवक निवास कर ।[११]

(ई) सन्तति माता की प्रतिष्ठा

माता अपने पुत्र की वीरता का उल्लेख करती है कि उसने शत्रु को मारकर

---

१ एवा ते गभ एजतु निरेतु दशमास्य । ऋग्वेद ५।७८।७
२ एवा त्व दशमास्य सहावेहि जरायुणा । व ी ५।७८।८
३ दश मासाञ्छशयान कुमारो अधि मातरि ।
   निरै तु जीवो अक्षतो जीवो जीवन्त्या अधि ।। वही ५।७८।९
४ वही ४।१८।३
५ वही १०।१६२।१-६
६ वही १० ५५।२ ७१।१ वैदिक इण्डक्स भाग १ पृ० ४४३
७ दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादश कृधि । ऋग्वेद १०।८५।४५
८ वीरसूर्देवकामा स्योना । वही १०। ५।४४
९ आ न प्रजा जनयतु प्रजापति । वही १०।८५।४३
१० वही १०।८५।३७, ३८ ४१ २७ १५
११ कीळन्ती पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे । वही १०।८५।४२

इन नदियों को विमुक्त कर दिया है।[1] वीर पुत्रों की माता स्वयं को सुरक्षित अनुभव करती थी। इन्द्राणी वृषाकपि से तिरस्कृत होने पर अपने वीर पुत्रों और पति के संरक्षण में गर्वित अनुभव करती है[2] और अपने पुत्रों को शत्रुहन्ता तथा पुत्री को विराट् कहती है।[3]

माता का वीर और दीप्तियुक्त सन्तान को जन्म देना, उसकी प्रतिष्ठा का कारण माना जाता था। पृश्नि को महान् संग्राम के लिये गतिशील मरुतों के दीप्ति युक्त समूह की जननी कहा गया है।[4] वीर पुत्रों की माता प्रशंसा का पात्र होती थी।[5] अन्यत्र वीर पुत्रों की उत्पत्ति हेतु और माता की भी दीर्घायु हेतु कामना की गई है।[6] निर्बल पुत्र की उत्पत्ति पर माता लज्जित भी होती है और अपनी सन्तान को छिपा लेना चाहती है।

एक से अधिक सन्तान भी माता के गौरव का कारण होती थी। दस पुत्रों की उत्पत्ति सन्तति की एक आदर्श संख्या मानी जाती थी क्योंकि वैर हो जाने पर प्रतिपक्षी के दस पुत्रों के नाश की ही कामना की गई है— जो मुझे झूठ ही यातुधान कहता है, वह दस पुत्रों से वियुक्त हो जाए।[8] सिनावली को अनेक प्रजाओं को उत्पन्न करने वाली कहा है।[9] मनु की पुत्री पर्शु ने बीस पुत्र उत्पन्न किये। सम्भवतया एक साथ अनेक शिशुओं का जन्म किसी अस्वाभाविकता को उत्पन्न नहीं करता था।

(उ) माता के कर्तव्य और वात्सल्यमय व्यवहार

सन्तानोत्पत्ति के पश्चात् माता बड़े स्नेह से उसका लालन पालन करती थी। ऋषि विश्वामित्र ने कहा है— हे इन्द्र द्यावा-पृथिवी तेरे लिये इस प्रकार सोम धारण करती है जैसे माता अपने बच्चे को रखती है।[10] माता शिशु को

---

१ ममतान् पुत्रो महता वधेन वृत्रं जघन्वाँ असृजद् वि सिन्धून्।
ऋग्वेद ४।१८।७

२ अवीरामिव मामयं शरारुरभि मन्यते।
उताहमस्मि वीरिणीन्द्रपत्नी मरुत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः। वही १०।८६।९

३ मम पुत्राः शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट्॥ वही, १०।१५९।३

४ वही २।२७।७

५ वही १०।६१।२०

६ जनिष्टो अपो नर्यः सुजातः प्रोर्वशी तिरत दीर्घमायुः। वही, १०।९५।१०

७ वही ४।१८।५

८ अधा स वीरैर्दशभिर्वि यूया यो मा मोघं यातुधानेत्याह। वही, ७।१०४।१५

९ या सुबाहुः स्वङ्गुरिः सुषूमा बहुसूवरी। वही, २।३२।७

१० वही, ३।४६।५, ५।१९।१

स्तन-पान कराती थी। ऋग्वेद में अनेकशः इसका उल्लेख हुआ है।[1] माता वक्ष में दुग्ध प्रस्रवित होते ही बच्चे को पिलाने के लिये व्यग्र हो उठती थी।[2] जब बच्चा दूध पीता था तो माता उसे थपथपाती थी।[3] माता आंचल से ढककर अपने बच्चे को दूध पिलाती थी।[4]

माता गोद मे बठाकर अपने शिशु को खिलाती थी। अग्नि के माता की गोद मे स्थित स्वरूप का वर्णन प्राप्त होता है।[5] अन्यत्र भी देवो को माता की गोद मे स्थित शिशुओ की भाँति आसन पर बठने का आमन्त्रण दिया गया है।[6] माता बच्चे के पालन मे पूर्ण सहयोग प्रदान करती थी। अग्नि को माता के समान पोषक कहा गया है। अन्यत्र भी माता द्वारा शिशु संवर्द्धन का व्यापार देखा गया है।[8] बच्चे बड़े स्नेहपूर्वक माता का आंचल पकड़कर घूमते थे।[9] माता का ममतामयी रूप ऋग्वैदिक काल मे भी विद्यमान था। माता गोद मे लेकर रोते हुए बच्चे को मनाती है किन्तु वह मानता नही है।[10]

भोजन बनाना और प्रेमपूर्वक खिलाना भी माता के लिए रुचिकर कार्य था। माता के पास जाकर अन्न प्राप्ति का उल्लेख मिलता है।[11] सम्भवत माता अपनी सन्तान को सबसे अच्छा भाग खाने को देती थी।[12] माता बड़े स्नेह मे खाना खिलाने के लिये बच्चे के पीछे पीछे घूमती वर्णित की गई है।[13]

ऋग्वैदिक माता अपने पुत्र मे गुणों को आधान करना अपना कर्त्तव्य समझती थी। मातायें पुत्रो की महिमा गान करके उन्हें उत्साहित करती थीं। इन्द्र के बलशालिता के लिये सोमपान करते ही माता ने उसकी महिमा का गान किया।[14]

१ ऋग्वेद ३।३३।१० १०।७९।३ आदि।
२ वही ३।३३।१०
३ वही २।३५।१३ १०।११४।४
४ अपीतो अधय मातुरूधः। वही १०।३२।८
५ अग्निर्होता न्यसीदत् यजीयानुपस्थे मातु सुरभा उ लोके। वही ५।१।६
६ आ पुत्रासो न मातरं विभृत्राः सानौ देवासो बर्हिषः सदन्तु। वही ७।४३।३
७ मातेव यद् भरसे पप्रथानो जनंजनं धायसे चक्षसे च। वही ५।१५।४
८ शिशुं न त्वा जेन्यं वर्धयन्ती माता बिभर्ति सचनस्यमाना। वही १०।४।३
९ वही १।१४०।९
१० गर्भ माता सुधितं वक्षणास्ववेनन्तं तुषयन्ती बिभर्ति। वही, १०।२७।१६
११ उपस्थाय मातरमन्नमैट्ट। वही ३।४८।३
१२ ज्येष्ठं माता सूनवे भागमाधात्। वही २।३८।५
१३ अत उ त्वा पितुभृतो जनित्रीरन्नावृधं प्रति चरन्त्यन्नैः वही १०।११४
१४ जज्ञानः सोमं सहसे पपाथ प्र ते माता महिमानमुवाच। वही, ७।९८।३

इन्द्र के बलवान् पुत्र के विषय में पूछने पर माता ने ओजस्वी और अतिशय बलवान् तथा प्रसिद्ध बताकर यह कामना की कि इन्द्र उनको और अन्य शत्रुओं का विजेता बने।[1] अन्यत्र भी पुत्र को माता द्वारा उत्साहित किये जाने का उल्लेख है।[2]

वस्त्र वयन करना भी माता का एक कर्तव्य था। मातायें अपने पुत्र के लिये वस्त्रों का निर्माण करती थीं। इसका स्पष्ट उल्लेख किया गया है।[3] माता अपने बच्चों को प्रसाधित भी करती थीं।[4] समनादि उत्सवों में जाने के लिये कन्याओं को सहर्ष प्रसाधित करती थीं।[5]

विपत्ति के समय माता अपनी सन्तति की रक्षा करती थी। बच्चे के रोने पर माता समस्त काम छोडकर उसके पीछे पीछे भागती थी।[6] पुत्र को बचाने के लिये माता युद्ध मे भी जाती थी।[7] नदी को माता के समान रक्षा करने वाली कहा गया है। दीर्घतमा ऋषि कहते हैं— जब मुझ दीर्घतमा को दासो ने भली-भाँति पकड कर और बाध कर नीचे मुख करके फेंक दिया तब मातृतुल्य उन नदियों ने मुझको नही डुबाया।[8]

माता अपने बच्चे को खेलने से नहीं रोकती थी।[9] बच्चे माता को खेल मे सताते थे[10] और कभी कभी दुर्व्यसनी भी बन जाते थे जिससे माता को पश्चाताप करना पडता था।[11]

माता के पास पुत्र सुख और शान्ति का अनुभव करता था। उसके आचल मे इतना सुख था कि मृत व्यक्ति के शव की व्यवस्था हेतु पृथिवी को सम्बोधित करते हुए भी माता के आचल की समानता को ही प्रस्तुत किया गया है। ऋचा मे वर्णित किया गया है—हे भूमि! इसे ऐसे आवृत कर लो जैसे माता पुत्र को

---

१ ऋग्वेद ८।७७।१-२

२ वही १०। ७३।१

३ वस्त्रा पुत्राय मातरो वयन्ति। वही, ५।४७।६

४ अभि वह्नीरनूषत यह्वीर्ऋतस्य मातर मर्मृज्यन्ते दिव शिशुम्।
वही ९।३३।५

५ सुसंकाशा मातृमृष्टेव योषा विस्तन्व कृणुषे दृशे कम्। वही १।१२३।११

६ अभि प्र दद्रुर्जनयो न गर्भम्। वही ४।१९।५

७ वही १।३२।९

८ न मा गरन्नद्यो मातृतमा दासा यदी सुसमुब्धमवाधु। वही १।१५८।५

९ शिशुला न क्रीळय सुमातर। वही १०।७८।६

१० क्रीळयो न मातर तुदन्त। वही १०।९४।१४

११ वही, १०।३४।१०

आंचल से दूध देती है।[1]

(ख) माता का महत्त्व

ऋग्वेद में माता का पत्नी से ऊँचा स्थान है। स्त्री की महत्ता माता बनने पर चरम सीमा का स्पर्श करने वाली होती है। मातर' यह अकेला शब्द पिता एवं माता दोनों का बोध कराने के लिये पर्याप्त है इससे निश्चित रूप से माता की स्थिति और महत्त्व का बोध होता है।

डॉ० शिवराज शास्त्री ने इसे माता का गौरव और महत्त्व स्वीकार किया है कि अनेक बार देवताओं को माता के नाम से जाना गया है।[2] देवों को 'इळायास्पुत्र पुत्रो अदिते' आदि कहा गया है।[3] श्याव को अपनी माता का पुत्र कहा गया है।[4] अदिति के पुत्र सूर्य को आदितेय[5] और आदित्य[6] भी कहा गया है। ऋषि दीर्घतमा को भी माता के नाम से पुकारा गया है। उन्हें उचथ का पुत्र औचथ्य[7] और मामतेय[8] कहा है।

माता का स्थान पिता से दूसरा था। ऋग्वेद मे इन्द्र को पहले पिता और फिर माता कहा गया है।[9] अन्यत्र पारिवारिक सम्बधो मे यही क्रम दिखाई पड़ता है।[10]

माता को आदर और सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। माता की दीर्घ आयु की कामना की गई है। रुद्र देव को सम्बोधित करके कहा गया है— हे रुद्र तुम हमारे पिता को न मारो न हमारी माता को मारो।[11]

इस प्रकार ऋग्वैदिक काल मे नारी को आदरणीय स्थान प्राप्त था।

---

१ माता पुत्र यथा सिचाभ्येन भूम ऊर्णु हि। वही, १०।१८।११

२ ऋ० पा० स० २७०

३ वही ३।२९।३, ४।४२।४ ७।४।१२ १०।१०।११२ ऋक०।

४ श्याव पुत्र वध्रिमत्या अजिन्वतम्। वही १०।६५।१२

५ वही १०।८८।११

६ वही १०।७७।२

७ वही १।१५८।१ ४

८ वही, १।१४७।३, ४।४।१३

९ त्व हि न पिता वसो त्व माता शतक्रतो बभूविथ। वही ८।९८।११

१० वही ६।५०।७ १।१९१।६ ६।५१।५

११ मा नो वधी पितर मोत मातरं। वही, १।११४।७

६ ऋग्वेद में वैवाहिक तथा अन्त्येष्टिक पद्धतियाँ

१ भारतीय संस्कार

(अ) संस्कार का अर्थ

संस्कार का अर्थ अनुष्ठान है। संस्कार अनेक प्रकार के होते हैं। वस्तुत संस्कार उन्हें कहते हैं जिनसे व्यक्ति का परिष्कार हो सके। चाहे वे भौतिक हों, मानसिक हों अथवा बौद्धिक हो इसके अन्तर्गत धार्मिक क्रियायें भी समाहित हों, जिनका उद्देश्य व्यक्ति का धार्मिक दृष्टि से पूर्ण परिष्कार है। संस्कार शब्द की निष्पत्ति सम उपसर्ग पूर्वक √कृञ् धातु में घञ प्रत्यय लगाने से होती है।

पं० रघुनन्दन शर्मा संस्कारों के माहात्म्य को स्वीकार करते हुए लिखते हैं कि संस्कार का अर्थ मन वाणी और शरीर का सुधार है।[1] जब तक व्यक्ति उत्तम संस्कारों द्वारा जन्म से ही संस्कृत न किया जाए तब तक वह समाज का सदाचारी सदस्य नहीं बन सकता।

वस्तुत मनुष्य के उन्नयन और विकास के पीछे छिपी हुई अदृश्य शक्ति ही संस्कार है। सम्पूर्ण आर्य जाति संस्कारों के प्रभाव से प्रभावित है। संस्कारों की प्रतिष्ठा व्यक्ति के विकास और निश्चित उन्नयन के साधन रूप में ही प्रतिष्ठित है। जब पशु-पक्षियों को पालतू बनाकर उनमे संस्कार द्वारा उपयोगिता स्थापित कर ली जाती है तब मनुष्य के विषय मे तो कहना ही क्या? तथ्य तो यह है कि मनुष्य संस्कार के माध्यम से अपनी अनभिव्यक्त प्रतिभा और सामर्थ्य को प्रकट करने का अवसर प्राप्त करता है। उसका विकास उचित रीति से उचित रूप मे होता है। भारतीय संस्कारो की एक लम्बी परम्परा है। यह मनुष्य की गर्भावस्था से लेकर मृत्युपर्यन्त निरन्तर चलती रहती है।

(आ) भारतीय संस्कारों की परम्परा और प्राचीनता

संस्कार शास्त्रीय दृष्टि से गृह्यसूत्रों के विषय क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं। गृह्यसूत्रों मे वर्णित संस्कारों की संख्या परस्पर भिन्नता रखती है। आश्वलायन गृह्यसूत्र ११ पारस्कर गृह्यसूत्र १३ बौधायन गृह्यसूत्र १३, वाराह गृह्यसूत्र १३ और वैखानस गृह्यसूत्र १८ संस्कारो का वर्णन करता है।[2]

संस्कार शब्द का प्रयोग धर्मसूत्रों में सामान्यत समस्त धार्मिक कृत्यो के अर्थ मे आया है। गौतम धर्मसूत्र आठ आत्मगुणों के साथ चालीस संस्कारो की सूची प्रस्तुत करता है।[3] मनुस्मृति[4] में गर्भाधान से लेकर मृत्यु पर्यन्त तेरह संस्कारो

---

१ पं० रघुनन्दन शर्मा वैदिक सम्पत्ति, पृ० ६२८।

२ डा० राजबली पाण्डेय—हिन्दू संस्कार, पृ० २१ २२ पर उद्धृत।

३ वही पृ० २२।

४ मनुस्मृति, २।१६ २६ २९, ३।१-४।

का उल्लेख है। उनके नाम हैं— १ गर्भाधान २ पुंसवन ३ सीमन्तोन्नयन, ४ जातकर्म, ५ नामधेय ६ निष्क्रमण ७ अन्नप्राशन ८ चूडाकर्म, ९ उपनयन अथवा मौञ्जीबन्धन १० केशांत ११ समावर्तन १२ विवाह १३ श्मशान। इसी प्रकार दैहिक और स्मार्त संस्कारो का वर्णन विविध स्मृतियो में किया गया है। संस्कारो की संख्या स्मृतियो मे सोलह तक पहुँच गई थी। दैहिक संस्कार केवल मध्यकाल मे प्रचलित थे।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत मे आर्यों की एक लम्बी संस्कार परम्परा अति प्राचीनकाल से चली आ रही है। संस्कार शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य मे प्राप्त नहीं होता किन्तु कतिपय संस्कारों का परिचय ऋग्वेद की ऋचाओ के कुछ स्थलो से प्राप्त होता है। गर्भाधान की ओर संकेत वाली ऋचाओं मे गर्भाधान संस्कार का बीज रूप प्राप्त होता हैं।[1] विवाह संस्कार का स्वरूप विवाह सूक्त और अन्त्येष्टि संस्कार का संकेत तद्विषयक सूक्तों से प्राप्त होता है।[3] संस्कार वदिकेतर काल मे धीरे धीरे क्रमिक अवस्था को प्राप्त कर गये और उनका समय एव पद्धति पूर्ण निश्चित हो गई।

(इ) संस्कारों की आवश्यकता तथा महत्व—

संस्कारो का सम्बन्ध सम्पूर्ण जीवन से है अतएव भारतीय संस्कृति को जानने के लिए संस्कारो का ज्ञान परमावश्यक है। संस्कार प्राचीन भारतीय समाज के आदर्शों और महत्वाकांक्षाओ को भी प्रकट करते हैं। डा० राजबली पाण्डेय ने संस्कारो के महत्व को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'संस्कार सामाजिक तन्द्रा और अवज्ञा का निराकरण करता है और जीवन के विकास के क्रमों के महत्त्व का स्पष्टीकरण सामूहिक तथा सामाजिक स्तर पर करता है। कोई भी संस्था अथवा समाज अपने विभिन्न अवसरो को सामाजिकता का बाह्य रूप दिये बिना जीवित नहीं रह सकते। संस्कार इसी सामाजिकता का माध्यम और प्रतीक है। भव यह है कि हमारे अनेक सामाजिक कार्य किसी न किसी संस्कार से आबद्ध हैं। संस्कारो के महत्त्व को आध्यात्मिक और सामाजिक दो भागों मे विभाजित किया जा सकता है।

(क) आध्यात्मिक महत्त्व—अध्यात्मवाद प्रायः सभी हिन्दुओं के रोम रोम में समाहित है। इसकी एक अनादि परम्परा रही है परन्तु यह युग विशेष मे अपनी दिशा को बदलता रहा है। संस्कारो के सम्यक अध्ययन से यह प्रकट होता है कि संस्कार आर्यो के सजीव धार्मिक अनुभव हैं। आर्य जाति ने मानव के

१ ऋग्वेद १०।१८४ सम्पूर्ण सूक्त।
२ वही १०।८५ सम्पूर्ण सूक्त।
३ वही १०।१४ १८ सूक्त।
४ डा० राजबली पाण्डेय— हिन्दू संस्कार पृ० ५।

आध्यात्मिक निर्माण के लिए जिन संस्कारों की कल्पना की, उनकी आधारशिला अतीव सुदृढ और गहरी रही है। संस्कार केवल जन्म के साथ ही नहीं, अपितु उससे पूर्व ही प्रारम्भ हो जाते हैं। संस्कार का प्रभाव आवश्यक रूप से जीवन पर पड़ता है, फलतः संस्कार युक्त प्राणी जीवन तथा सामाजिक नियमों के बन्धनों से बंधा हुआ नियमित जीवन का फल भोगता है।

(ख) सामाजिक महत्त्व— संस्कारों के आध्यात्मिक महत्त्व के साथ-साथ उनका सामाजिक महत्त्व भी कम नहीं है। संस्कृत-व्यक्तियों को शिष्ट समाज की संज्ञा प्राप्त होती है। अव्यवस्थित जन-समुदाय को भीड़ कहा जा सकता है समाज नहीं। वैयाकरणों ने इसे समज कहा है। समाज और समज में संस्कारों का ही अन्तर है। संस्कारो में चरित्र निर्माण आवश्यक रूप से होता है। डा० राजबली पाण्डेय के कथन से इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है। उन्होंने अंगिरा के मत को निम्न शब्दो मे उद्धृत किया है— जिस प्रकार चित्रकर्म में सफलता प्राप्त करने के लिए विविध रंग अपेक्षित होते हैं उसी प्रकार ब्राह्मण्य या चरित्र निर्माण भी विभिन्न संस्कारो द्वारा होता है।[1]

संस्कार अपने उद्देश्यो के साथ व्यवस्थित समाज मे प्रचलित रहते है। यहाँ हम उदाहरणस्वरूप विवाह तथा अन्त्येष्टि संस्कार को ले सकते हैं। इन संस्कारो से सामाजिक सम्बन्ध दृढ़ बने रहते है और आदान-प्रदान की परम्परा चलती रहती है। संस्कार नैतिकता की अभिवृद्धि करते हैं। जब नैतिकता मनुष्य से उठ जाती है तब उसका कार्यक्षेत्र समाज मे परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार समाज नैतिकता आदि गुणो के माध्यम से आप्लावित होता है जो गुण संस्कारवश अधिक प्रभावशाली बन जाते है।

(ङ) विवाह-संस्कार और उसका महत्त्व

(क) विवाह संस्कार—विवाह एक ऐसी सामाजिक प्रथा है जो विश्व के प्रत्येक भाग मे पाई जाती है। वस्तुतः विवाह परिवार की आधारशिला है। यह मनुष्य के जीवन का सबसे प्रधान संस्कार है, मनुष्य का जीवन इसके अभाव मे अधूरा है। तैत्तिरीय ब्राह्मण का कथन है कि जो मनुष्य अविवाहित है वह अपवित्र है और यज्ञ मे भाग लेने का अधिकारी नही हो सकता।[2] व्यक्ति विवाह द्वारा गृहस्थ आश्रम मे प्रवेश करके चारो पुरुषार्थों की प्राप्ति का प्रयत्न करता है। कतिपय पाश्चात्य विद्वानो ने हिन्दू विवाह के सम्बन्ध में कुछ भ्रामक धारणायें व्यक्त की है। रॉबर्ट ब्रिफाल्ट ने अपने लेख— 'सैक्स इन रिलीजन' में विशेष अवसरों पर हिन्दुओं मे यौन सम्बन्धी स्वतन्त्रता के विषय मे जिन विचारों को व्यक्त किया है उनसे यह स्पष्ट होता है कि हिन्दू-विवाह मे यौन-सम्बन्धों की सन्तुष्टि को प्राथमिकता दी गई है।[3] आर्यों में विवाह यौन-सम्बन्धो को प्राथमिकता न देकर

---

१ डा० राजबली पाण्डेय—हिन्दू संस्कार, पृ० ३६।

२ अयज्ञियो वा एष योऽपत्नीक' तै० ब्रा०, २।२।२।६।

३ पी० एच० प्रभु हिन्दू सोशल ऑर्गनाइजेशन, पृ० १४५, १४६ पर उद्धृत।

धार्मिक कार्यों को विशेष महत्त्व प्रदान करता है।

वैस्टरमार्क विवाह का अर्थ करते हुए लिखते हैं कि विवाह एक या अधिक पुरुषों का एक या अधिक स्त्रियों के साथ होने वाला वह सम्बन्ध है जिसे प्रथा या कानून द्वारा स्वीकृति प्राप्त होती है तथा जिसमे इस सगठन में आने वाले दोनों पक्षों और उनसे उत्पन्न बच्चो के अधिकार और कर्तव्यों का समावेश होता है।[१] यह परिभाषा दो विषयो की ओर सकेत करती है—प्रथम प्रथाओ का महत्त्व और द्वितीय-पति पत्नी के अधिकार एव कतव्य।

लावी ने विवाह को परिभाषित करते हुए लिखा है कि— विवाह स्पष्ट रूप से उन स्वीकृत सयोगो को व्यक्त करता है जो इन्द्रिय सम्बन्धी सन्तोष के पश्चात् भी स्थिर रहते हैं तथा पारिवारिक जीवन की आधारशिला बनाते हैं।[२] डा० के० एम० कापड़िया विवाह को एक सस्कार कहते है। विवाह का तात्पय शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से वधू को वर के घर ले जाना है किन्तु वास्तव मे वे सभी समारोह एव कमकाड विवाह के अन्तगत आ जाते हैं जिनके माध्यम से लडके एव लडकी समाज द्वारा मान्य पति एव पत्नी के सम्बन्धों में बधते है और वे एक दूसरे के प्रति कतव्यो एव अधिकारो को निभाते हैं। यह मनुस्मृति मे कहा गया है कि पुरुष को अपनी पत्नी के साथ ही धार्मिक काय सम्पन्न करना चाहिये।[३]

प्राचीन समय मे आर्यों को यह अनुभव हुआ था कि युद्ध प्रधान समय मे एक एसी प्रथा की आवश्यकता है जो सुरक्षा सरक्षण और स्थायित्व प्रदान कर सके। लाग विवाह इसलिये करते हैं कि वे एक सुव्यवस्थित परिवार म रहकर भली भाँति जीवन व्यतीत करने का अनुभव प्राप्त कर सकें। विवाह अथवा परिवार समाज मे रहने का प्रथम सोपान है। यही कारण है कि विवाह के विभिन्न रूप समाज मे उपलब्ध होते है।

महामहोपाध्याय डा० पी० वी० काण ने विवाह के सम्बन्ध मे कहा है कि विवाह बन्धन की शिथिलता भारत मे कभी नही थी।[४] विवाह की प्रथा ऋग्वेद मे पूर्णरूपेण प्रचलित थी। डा० अल्टेकर का मत है कि प्राचीन समय म विवाह बन्धन का अभाव सम्भव नही माना जा सकता।[५] यह मत नितान्त सत्य भी है, क्योंकि वैवाहिक विधियाँ ऋग्वदिक काल मे प्रचलित थी। हम आगे इस पर सविस्तार प्रकाश डालेंगे।

---

१ वस्टरमाक दि हिस्ट्री आफ ह्यूमैन मारज भाग १ पृ० २६।

२ रॉबर्ट एच० लावी इन्साइक्लोपीडिया आफ सोशल साईसेज (विवाह मे) भाग १० पृ० १४६।

३ मनु ९।९६।

४ डा० पी० वी० काणे हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र भाग २ पृ० ४२८।

५ डा० अल्टेकर पोजीशन आफ वीमन पृ० ३५।

(ख) विवाह-संस्कार का महत्व—डा० आर० एन० सक्सेना ने विवाह-संस्कार के महत्व पर प्रकाश डालते हुए कहा है—'हिन्दू धर्म-शास्त्रों के अनुसार, संस्कार शब्द का तात्पर्य ऐसे धार्मिक अनुष्ठान से है, जिसके द्वारा संस्कार दीक्षित व्यक्ति को स्तर विशेष प्राप्त होता है हाँ यह अवश्य है कि विवाह को सभी ने एक संस्कार माना है, जिसके बिना मनुष्य का धार्मिक सामाजिक और आध्यात्मिक उत्कर्ष असम्भव है ।'[1] इस मत से इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विवाह संस्कार का महत्व अनेक दृष्टियों से है । कतिपय प्रमुख कारणों का विवेचन आगे प्रस्तुत किया जा रहा है ।

१ धार्मिक महत्व—यह बात हिन्दू विवाह के उद्देश्यो से स्पष्ट हो जाती है कि धम' विवाह का प्रमुख आधार है । डा० कापड़िया ने इस विषय में उचित ही कहा है कि—'विवाह की इच्छा रति या सन्तानोत्पत्ति के लिए इतनी अधिक नहीं की जाती थी जितनी अपने धार्मिक कतव्यों के पालनार्थ एक साथी प्राप्त करने के लिए[2]। सन्तानोत्पत्ति विवाह का दूसरा उद्देश्य है ।' यह ऋग्वेद मे कहा गया है कि पुरुष स्त्री से गार्हपत्य के लिए विवाह करता है ।[3] स्त्री तथा पुरुष मिलकर देवो की पूजा का विधान करते हैं ऐसा ऋग्वेद मे उपलब्ध है ।[4] विवाह इस विषय का पूरक है । वदिकत्तर काल मे भी इन नियम का परिपालन हुआ है । भवभूति कृत उत्तररामचरित इसका प्रमाण है । यद्यपि स्त्री एव पुरुष द्वारा देवो की पूजा धार्मिक है परन्तु विवाह एक सामाजिक प्रथा है और विवाह द्वारा सम्बद्ध होकर देव पूजा करना धार्मिक तत्त्व की अपेक्षा विवाह के सामाजिक पक्ष को अधिक सफल बनाता है ।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र मे कहा गया है कि 'यदि प्रथम स्त्री धार्मिक-कृत्यों और पुत्र से युक्त हो तो पुरुष दूसरा विवाह न करे ।'[5] मनु के मत मे भी विवाह का प्रधान उद्देश्य पुत्रोत्पत्ति एव धम सपादन ही है ।[6] हिन्दू कानून मे सम्बन्धित ग्रन्थो मे बताया गया है कि विवाह सभी हिन्दुओं के लिए चाहे वे किसी भी जाति के क्यो न हो एक आवश्यक सस्कार का धार्मिक कृत्य है ।[7] पी० एच० प्रभु ने

---

१ उद्धृत—मोतीलाल गुप्ता भारतीय सामाजिक संस्थायें पृ० १३८ ।

२ के० एम का।ड़िया मैरिज एण्ड फैमीली इन इण्डिया, पृ० ६७ ।

३ गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्त मया पत्या जरदष्टिर्यथास ।
भगो अर्यमा सविता पुरंधिर्मह्य त्वादुर्गार्हपत्याय देवा । ऋग्वेद १०।८५।३६।

४ जायेदस्त मघवन्त्सेदु योनि स्तदित् त्वा युक्ता हरयो वहन्तु । वही, ३।५३।४ ।

५ धर्मप्रजासम्पन्ने दारे नान्यां कुर्वीत । आ० ध० सू० २।५।११।१२ ।

६ अपत्य धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा ।
दाराधीनस्तथा स्वर्ग पितृणामात्मनश्च हि । मनु० ९।२८ ।

७ उद्धृत मोतीलाल गुप्ता भारतीय सामाजिक सस्थायें, पृ० १४१ ।

हिन्दू विवाह की प्रकृति को अभिव्यक्त करते हुए लिखा है— हिन्दू के लिए विवाह एक संस्कार है तथा इस कारण विवाह सम्बन्ध में जुड़ने वाले पक्षों का सम्बन्ध संस्कार रूपी है न कि प्रसंविदा की प्रकृति का।[1] पी० वी० काणे ने हिन्दू विवाह सम्पन्न होने के लिए ३९ प्रमुख अनुष्ठानों एवं संस्कारों का उल्लेख किया है।[2] काणे महोदय के कथन से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि विवाह सभी संस्कारों में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण संस्कार है। यह संस्कार समाजिक और धार्मिक दोनों पक्षों को लेकर आगे बढ़ता है।

रति' हिन्दू विवाह का तृतीय उद्देश्य है। डा० कापड़िया का निम्नलिखित कथन इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है कि यद्यपि काम अथवा यौन सम्बन्ध विवाह का एक उद्देश्य अवश्य है किन्तु इसे तीसरा स्थान दिया गया है।[3] विज्ञानेश्वर ने उद्धरण देते हुए कहा है— आपस्तम्ब ने धर्म और प्रजा की प्राप्ति ही विवाह का उद्देश्य या प्रयोजन बताया गया है। काम की तृप्ति तो लौकिक फल है।[4]

(ज) अन्य-देशीय विवाह—अन्य देशों में भी विवाह को अत्यन्त सम्मानित स्थान प्राप्त है परन्तु भारतीय विवाह का उनके साथ तुलनात्मक अध्ययन में ज्ञात होता है कि भारत और अन्य देशों के विवाह के उद्देश्य में बहुत अन्तर है। सबसे बड़ा अन्तर धार्मिक भावना का है। हमारे शास्त्रों ने स्त्री को धर्मपत्नी कहा है। पत्नी सम्पूर्ण धार्मिक कार्यों में अपने पति को सहयोग देती है जिसका स्पष्ट उल्लेख ऊपर विवाह के धार्मिक महत्त्व में किया गया है। विवाह का दूसरा उद्देश्य पुत्रोत्पत्ति से समाज को स्थायित्व प्रदान करना है। काम वासना इसमें उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना सन्तान उत्पन्न करने की सामाजिक एवं धार्मिक भावना का महत्त्व है इसके विपरीत पाश्चात्य विवाहों का प्रधान उद्देश्य कामवासना की पूर्ति है। उनका सन्तान के प्रति प्रेम चिरस्थायी अथवा दीर्घकालिक नहीं होता क्योंकि प्राय देखा जाता है कि सन्तान का पालन पोषण अन्य स्थान पर होता है। शिक्षा स्वतन्त्र रूप से होती है और युवा होते-होते सन्तान माता पिता से पृथक स्वतन्त्र जीवन यापन करती है। एतत्सम्बन्धी अवस्थायें भारत में अत्यन्त स्वल्प और विपरीत है।

डा० राजबली पाण्डेय ने विलिस्टाइन गुडसेन की पुस्तक में उल्लिखित कतिपय विदेशीय वैवाहिक भावों को व्यक्त करते हुए लिखा है कि इजराइल की जनता में भी इसका आदर उन्हीं कारणों से था जिनसे हिन्दुओं में। यूनान में भी विवाह को अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखा जाता था और उसे एक पवित्र

१ पी० एच० प्रभु हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन पृ० १७३।
२ पी० वी० काणे हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, भाग २ पृ० ५३१ ३६।
३ के० एम० कापड़िया मैरिज एण्ड फैमिली इन इण्डिया पृ० १६७।
४ याज्ञ० स्मृति १।७८ पर मिताक्षरा टीका।

संस्कार समझा जाता था। प्लूटार्क ने लिखा है कि अविवाहित व्यक्ति स्पार्टा में अनेक अधिकारों से वंचित कर दिया जाता था और युवक अविवाहित वयोवृद्धों का आदर नहीं करते थे।[1]"

इस प्रकार हम देखते हैं कि विवाह प्राचीन काल से एक महत्त्वपूर्ण संस्था के रूप में चलता आ रहा है। विवाह अनिवार्य रूप से प्रत्येक समाज में चाहे वह आदिम हो अथवा आधुनिक ग्रामीण हो या नगरीय अत्यन्त प्राचीन काल से प्रत्येक देश में चला आ रहा है परन्तु उनकी पद्धतियों और भावनाओं में अन्तर अवश्य रहा है।

२ ऋग्वेद में वैवाहिक पद्धतियाँ

विवाह प्रायः सभी धर्मों में संयम का साधन माना जाता है। विवाह पद्धति की उत्पत्ति के विषय में विभिन्न मत पाये जाते हैं। वैवाहिक-पद्धतियों का नामांकन वेदों में नहीं है किन्तु उत्तरकाल में निर्धारित वैवाहिक पद्धतियों के बीज उन वेदों में अवश्य मिलते हैं। विवाह की विभिन्न पद्धतियों का सामान्य विचार ऋग्वेद की अपेक्षा अथर्ववेद और गृह्यसूत्रों में अधिक स्पष्ट है। ऋग्वैदिक काल विवाह के लिए स्त्री-पुरुष को अधिक स्वतन्त्रता प्रदान करता है। वर एवं वधू का सहयोग विवाह निर्णय में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है जिसका विवेचन आगे किया जायेगा। विवाह ऋग्वैदिक काल में अनिवार्य नहीं था, क्योंकि कुछ उद्धरण ऐसे मिलते हैं जिनसे पुष्ट होता है कि विवाह ऐच्छिक था। यही कारण है कि कतिपय स्त्रियाँ विवाह से तटस्थ रहकर पितृगृह में ही रहती थीं।

विवाह की अनेक पद्धतियों का उद्गम वैदिकेतर काल में हुआ जिनमें आसुर, स्वयंवर राक्षस प्राजापत्य आदि के बीज ऋग्वैदिक काल में मिलते हैं। इन विवाह पद्धतियों का उल्लेख ऋग्वेद में इतना अस्पष्ट है कि उनके आधार पर यह कहना बड़ा कठिन हो जाता है कि ये विशिष्ट पद्धतियाँ तत्कालीन समाज में अधिकांश रूप से प्रचलित थीं अथवा नहीं। विवाह के विभिन्न प्रकार ऋग्वेद में अनुमित हैं जिनका वर्णन निम्नलिखित है—

(अ) आसुर विवाह—कन्या के पिता को धन से सन्तुष्ट करके कन्या से विवाह करने की पद्धति को आसुर विवाह कहते हैं। इस विवाह-पद्धति से ज्ञात होता है कि धन विवाह का महान् साधन होता था। सन्तान प्राचीनकाल में पारिवारिक सम्पत्ति समझी जाती थी। धन के लिए कन्या का विवाह किसी भी पुरुष के साथ किया जा सकता था। ऋग्वेद में कतिपय ऐसे उदाहरण मिलते हैं जो इस प्रकार के विवाह की सूचना देते हैं। ऐसी ऋचाओं से ज्ञात होता है कि उस समय कन्या विक्रय की प्रथा प्रचलित थी और कन्यायें बहुत अधिक मूल्य लेकर बेची जाती थीं। एक ऋचा में इन्द्र और अग्नि देव को दामाद और साले से भी अधिक

---

१ उद्धृत डा० राजबली पाण्डेय हिन्दू संस्कार, पृ० १९८।

दान करने वाला कहा गया है।[1] इस ऋचा से यह स्पष्ट हो जाता है कि अपने श्वसुर को धन देकर वधू प्राप्त करने वाला जामाता प्रसिद्धि प्राप्त होता था अर्थात् विवाह के लिये कन्या के बदले कन्या पक्ष को वर-पक्ष की ओर से अतिशय धनराशि प्रदान की जाती थी इसीलिए अग्नि और इन्द्र को धन देने में उनसे भी अधिक उदारचेता होने की प्रार्थना की गई है। प्रस्तुत ऋचा मे जामाता की प्रशंसा की गई है। 'विजामातृ' का अर्थ यास्क के मत मे 'क्रीतापति' अर्थात् खरीदी गई कन्या का पति है। मैत्रायणी संहिता मे क्रीता पत्नी की चारित्रिक हीनता की निन्दा की गई है।[2]

ऋग्वेद में कुछ ऐसे भी संकेत प्राप्त होते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि कन्यायें सम्पत्ति के लोभवश अयोग्य युवको से विवाह कर लेती थीं। एक ऋचा[3] इसका प्रमाण है, जिसका अर्थ स्पष्टतः प्रदर्शित करता है कि कुछ स्त्रियाँ द्रव्य से ही पुरुष के वशीभूत हो जाती हैं परन्तु जो स्त्रियाँ सुशील स्वस्थ और श्रेष्ठ मन वाली है वे इच्छानुकूल पुरुष को पति के रूप मे वरण करती थीं।

प्रस्तुत उद्धरण मे ऋग्वैदिक आसुर विवाह-पद्धति का परिचय मिलता है। इस प्रकार के विवाह के प्रचलन का प्रमुख कारण यह प्रतीत होता है कि विवाह मे बिना कुछ दिये कन्या लेना परिवार के लिए अपमान जनक समझा जाता रहा होगा क्योंकि विवाह के उपरान्त माता एवं पिता कन्या की उपयोगिता से वंचित हो जाते थे अतएव सम्भवतः पति क्षतिपूर्ति के रूप मे कुछ धनराशि कन्या के पिता को देता था।

(आ) स्वयंवर-प्रथा—स्वयंवर प्रथा ऋग्वेद मे स्पष्टतः वर्णित है। कन्यायें विवाह की इस विधि मे स्वयं अपने पति का वरण करती थी। इसकी उत्पत्ति सम्भवतः प्रार्थियों की अधिकता के कारण नियोजित प्रतियोगिता के परिणाम स्वरूप हुई होगी। कन्या इस पद्धति के द्वारा बहुत से युवकों मे से अपनी इच्छानुसार स्वयं अपने पति का चयन करती थी। एक कन्या दशम-मण्डल मे एक स्थल पर स्वयं अपने पति का चयन करती हुई प्रस्तुत की गई है।[4] प्रस्तुत आशय की पुष्टि सायणभाष्य से हो जाती है। सायण ने ऊपर वर्णित ऋचा मे 'वनुते' का अर्थ स्वयंवर धर्म से पति वरण का संकेत स्वीकार किया है।[5]

---

१ अश्रवं हि भूरिदावत्तरा वां विजामातुरुत वा घा स्यालात्। ऋग्वेद १।१०९।२।

२ अनृतं वा एषा करोति या पत्युः क्रीता सती अन्यैः सञ्चरति।

मै० सं० १।१०।११

३ कियती योषा मर्यतो वधूयोः परिप्रीता पन्यसा वार्येण।
भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित्॥

ऋग्वेद १०।२७।१२।

४ वही।

५ द्रष्टव्य प्रस्तुत ऋचा पर सायण भाष्य।

एक दैवी स्वयंवर का वर्णन भी ऋग्वेद में प्राप्त होता है।[1] इसमें सूर्यपुत्री घुड़दौड़ से अपने लक्ष्य को जीत कर अश्विनी देवों के रथ पर आ बैठती है। प्रस्तुत ऋचा के अर्थ को सायण-भाष्य[2] के आधार पर सरलतापूर्वक समझा जा सकता है। ऊपर जिस दैवी-स्वयंवर का संकेत किया गया है, उसका अभिप्राय यह है कि सूर्य की पुत्री 'सूर्या' के अनेक प्रार्थी थे। फलत यह आयोजित किया गया कि वही सूर्या को प्राप्त करेगा, जो दौड मे प्रथम आयेगा। अश्विनीकुमारों ने इस नियोजित प्रतियोगिता मे विजय प्राप्त की। अत सूर्या उनके रथ पर आकर बैठ गई। इस घटना के स्पष्टीकरण के लिए कतिपय अन्य ऋचाओ पर भी सायण भाष्य द्रष्टव्य है।[3] प्रस्तुत उदाहरण से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि स्वयंवर प्रथा का प्रचलन ऋग्वैदिक काल में था।

(द) राक्षस विवाह पद्धति—बलात् कन्या का अपहरण कर उसके साथ विवाह करना राक्षस विवाह का मूल है। कन्या इसमे हठात् अपने पितृगृह से विवाह हेतु अपहृत कर ली जाती है, इस प्रकार के विवाह का प्रचलन ऋग्वेद मे खोजा जा सकता है। कुछ उदाहरण इस सम्बन्ध मे मिलते हैं जो इस पद्धति के प्रचलन को पुष्ट करते हैं। सम्भव है कि उस समय इस प्रथा का प्रचलन क्षत्रिय वर्ग मे रहा हो परन्तु इसका नितान्त अभाव अन्य वर्ग मे भी नहीं माना जा सकता।

राक्षस विवाह मे पिता की सहमति की अपेक्षा नही की जा सकती। ऋग्वेद म एक अत्यन्त ज्वलन्त उदाहरण मिलता है जो इस पद्धति के अस्तित्व का सूचक है। कामाद्या राजा पुरुमित्र की कन्या थी। विमद द्वारा उस राजकन्या को उसके पिता के घर से अपहृत कर लेने का वर्णन मिलता है।[4] वस्तुत विमद उस राजकन्या मे विवाह करना चाहते थे अत उन्होने अश्विनी देवो से तदर्थ प्रार्थना की। उनकी प्रार्थना सुन देवो ने उस कन्या को पितृगृह से उठा लिया, फलत विमद ने उस कन्या से विवाह कर लिया।

डा० अल्टेकर ने विमद की घटना को क्षात्र विवाह के अन्तर्गत माना है।[5] विमद का यह विवाह सायण के मतानुसार[6] राक्षस विवाह के अन्तर्गत न होकर स्वयंवर विवाह पद्धति मे समाहित होता है। उनके अनुसार विमद स्वयंवर से अपनी पत्नी को लेकर आ रहे थे तब निरुत्साहित प्रार्थियो ने उन पर आक्रमण

१ आ वां रथं दुहिता सूर्यस्य कार्ष्मेवातिष्ठदर्वता जयन्ती। ऋग्वेद १।११६।१७।
२- द्रष्टव्य प्रस्तुत ऋचा पर सायण भाष्य।
३ द्रष्टव्य १।११६।१, १०।८५।१४ पर सायण भाष्य।
४ ऋग्वेद १।११२।१९ ११६।१, ११७।२० १०।३९।७, ६५।१२।
५ डा० अल्टेकर दी पोजीशन आफ वीमैन इन हिन्दू सिविलाइजेशन, पृ० ३८
६ द्रष्टव्य सायणभाष्य ऋचा १।११६।१ पर

कर दिया। विमद अकेले उनसे प्रतिकार करने में असमर्थ थे, अतएव अश्विनी देवों से प्रार्थना करने पर उनकी सहायता की एवं आक्रमणकारियों को मारकर विमद की पत्नी को उनके घर पहुँचाया।[1] यह विवाह सायण के मतानुसार स्वयंवर के अन्तर्गत आता है, परन्तु इसका पूर्ववर्णित वृत्तान्त इसे राक्षस-पद्धति में डाल देता है।

वास्तविकता यह है कि ऋग्वैदिक समाज भी दुष्टों और पापाचारियों से मुक्त नहीं था। व्यभिचार और सतीत्व भ्रष्ट करने के अधम समाज में कभी-कभी घटित हो जाते थे। राक्षसों के समान मनुष्य उस समय भी समाज में थे। निःसन्देह कहा जा सकता है कि राक्षस विवाह पद्धति का जन्म इन्हीं कुकर्मों के फलस्वरूप हुआ।

(ई) प्राजापत्य विवाह पद्धति— इस पद्धति का सामाजिक प्रथा के रूप मे मे विकसित होने का सकेत ऋग्वेद के विवाह सूक्त मे मिलता है जिसमे विवाह का सम्पादन समाज द्वारा स्वीकृत नियमो से हुआ। इस पद्धति के अनुसार कन्या दान यह समझकर किया जाने लगा कि दम्पती युगल जीवन-पर्यन्त अपने धार्मिक कार्यों को सम्मिलित रूप से सम्पादित करेंगे। इसमे कन्या का विवाह पिता की सहमति से होता है और यह पद्धति ऋग्वैदिक काल मे प्रचलित थी।

विवाह के प्राजापत्य प्रकार के बीज भी ऋग्वेद मे प्राप्त होते हैं। यद्यपि कोई भी विवाह की रीति नामत वहाँ उल्लिखित नहीं है तथापि दशम मण्डल मे वर्णित विवाह सूक्त प्राजापत्य विवाह की ओर इंगित करता है। एक ऋचा मे सोम को वर और सूर्या को वधू रूप मे प्रदर्शित किया गया है।[2] एक अन्य ऋचा[3] में वर वधू के आजीवन साथ रहने एवं कभी भी वियुक्त न होने की कामना की गई है। अन्यत्र[4] दोनों को संयुक्त रूप मे गार्हपत्य जीवन के कर्तव्यों का निर्वाह करने की कामना की गई है। ये ऋग्वैदिक सकेत प्राजापत्य विधि की ओर सकेत करते है।

इस प्रकार विवाह के कतिपय प्रकारो का ऋग्वैदिक काल मे केवल अनुमान लगाया जा सकता है। वैदिक काल के उपरान्त धर्मसूत्रों स्मृतियो और गृह्यसूत्रो मे तो विवाह के अनेक प्रकारो का वर्णन किया गया है।

विवाह के सभी प्रकारो के महत्त्व को स्वीकार करते हुए डा० काण ने लिखा

---

१ द्रष्टव्य १।११२।२० १०।३९।७ पर सायण भाष्य।

२ सोमो वधूयुरभवदश्विनास्तामुभा वरा। ऋग्वेद, १०।८५।९।

३- इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे॥ वही १०।८५।४२।

४, इह प्रियं प्रजया ते समृध्यतामस्मिन्गृहे गार्हपत्याय जागृहि।
एना पत्या तन्वं सं सृजस्वाधा जिव्री विदथमा वदाथ॥ वही, १०।८५।२७।

है—

'विवाह के इन विभिन्न प्रकारों का भले ही कोई उपहास करे, परन्तु ये समाज को विवाह का उच्च आदर्श बतलाते हैं, सुन्दर एवं शान्तिपूर्ण जीवन बिताने का मार्ग दिखाते हैं तथा नैतिक शिक्षा का पाठ पढ़ाते हैं।'[1]

(अ) विवाह-योग्य आयु

विवाह-संस्था ऋग्वेद में एक महत्वपूर्ण संस्था के रूप में सामने आती है। विवाहोत्तर कर्त्तव्य और अधिकार यह अपेक्षा रखते हैं कि वर एवं वधू दोनों जिन्हें गृहस्थी का चक्र यथावत् चलाना है उपयुक्त क्षमताओं और विशिष्टताओं से युक्त हों। यह तभी सम्भव है, जब वर एवं वधू उचित अवस्था में विवाह बन्धन में बंधे। वैवाहिक आयु सम्बन्धी अनेक संकेत ऋग्वेद में प्राप्त होते हैं। एतत्सम्बन्धी संक्षिप्त विवेचन आगे प्रस्तुत किया जा रहा है—

(क) वधू की आयु-विषयक संकेत ऋग्वेद के पर्यालोचन से ज्ञात होता है कि वधू का विवाह उस समय परिपक्वावस्था में होता था। बाल विवाह का संकेत सम्पूर्ण ऋग्वेद में कहीं भी नहीं मिलता है। यह इस तथ्य की पुष्टि करता है कि परिपक्वावस्था ही उस समय विवाह योग्य अवस्था रही होगी। कतिपय विद्वानों ने ऋग्वेद की एक ऋचा[2] में अर्भ शब्द के आधार पर बाल विवाह को सिद्ध करने का प्रयास किया है किन्तु यहाँ 'अर्भ' शब्द का अर्थ 'कोमल' है बालक नहीं। वधू के वैवाहिक आयु विषयक कतिपय संकेत निम्नलिखित हैं—

(१) वर एवं वधू उस समय विवाह योग्य युवावस्था के लक्षणों से युक्त होने पर ही होते थे। इसे युवतयो युवानम कहकर[3] ऋग्वेद में प्रकट किया गया है। युवा शब्द √यु धातु से निष्पन्न है जिसका अर्थ 'मेल करना' है। ऐसे अनेक सन्दर्भ ऋग्वेद के विवाह सूक्त[4] में हैं जो यह प्रदर्शित करते हैं कि वधू विवाह के समय युवा होती थी और वह सहवास तथा प्रजनन की क्षमता रखती थी।

(२) अविवाहित कन्या के लिये प्रयुक्त शब्द योषा[5] युवति, कन्या[6] एवं दुहिता यौवन सम्पन्न लड़की का बोध कराते हैं। दुहिता शब्द दुह धातु से निष्पन्न है जिसका अर्थ 'दोहने वाली' है। 'कन्या' शब्द का प्रयोग विवाह योग्य अथवा

१ डा० पी० वी० काणे हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र वोल्यूम २, भाग १ पृ० ५२५।
२ अददा अर्भां महते वचस्यवे कक्षीवते वचयामिन्द्र सुन्वते। ऋग्वेद १।५१।१३।
३ तमस्मेरा युवतयो युवानं मर्मृज्यमाना परियन्त्यापः। वही, २।३५।४।
४ वही १०।८५।२५ ४१ ४२ ४३ ४५ ४६।
५ वही १।११७।२०।
६ वही १।१२३।१०।
७ वही, ३।५३।१५, ४।४३।२, ८।११३।३, ५।४२।१२।

नवविवाहिता लड़की के लिए हुआ है। इसका स्पष्ट प्रमाण ऋग्वेद में द्रष्टव्य है।[1] युवति शब्द पति से मिलने योग्य अवस्था का सूचक है। 'योषा' √यु धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ मिलने योग्य अवस्था वाली अथवा युवा स्त्री है।[3]

(३) पति एव पत्नी के वैवाहिक सामञ्जस्य तथा प्रसन्नतापूर्वक जीवन निर्वाह की कामनायें उनकी वयस्क अवस्था का परिचायक हैं। एक ऋचा[4] में अग्निदेव के लिये कहा गया है कि वे पति पत्नी को समान मन वाला बनाते हैं। इससे स्पष्ट सकेत मिलता है कि पति एव पत्नी इतनी अवस्था के होते थे जो एक दूसरे को समझ सकें।

(४) ऋग्वेद की ऋचाओं से अप्रत्यक्ष रूप से यह सिद्ध होता है कि विवाह स्त्री के रजोदर्शन के पश्चात् होता था। स्त्री एव पुरुष की प्रौढ़ावस्था के परिचायक कतिपय आंगिक चिह्न होते है। कतिपय ऋग्वैदिक प्रमाण प्रकृत सन्दर्भ मे प्रस्तुत किये जा सकते हैं। यथा अष्टम मण्डल मे एक स्त्री इन्द्रदेव से प्रौढ़ावस्था में होने वाले रोमों के लिए प्रार्थना करती है।[5] अन्यत्र[6] एक स्त्री अपने पति को सम्बोधित करते हुए कहती है कि उसके अगो मे युवावस्था के समस्त चिह्न दिखाई पड़ रहे हैं। अत वह पूर्ण युवती है। सायण[7] के मतानुसार प्रौढ़ावस्था सम्पन्न स्त्री की उपमा गान्धार प्रदेश की उन भेडो से दी गई है जो सर्वथा रोम युक्त हैं अर्थात युवती भी भेड़ो की भाँति समस्त शरीर पर रोमो से युक्त है। अत वह पूर्णतया प्रौढ़ा है। प्रस्तुत उदाहरण से यह स्पष्ट होता है कि विवाह के समय कन्या प्रौढ़त्व के पूर्ण चिह्नो से युक्त होती थी।

(५) वस्तुत वही कन्या ऋग्वेद मे विवाह योग्य समझी जाती थी जो आलिंगन से उत्पन्न आनन्द का अनुभव कर सके। इस अर्थ की अभिव्यक्ति स्वय

१ कन्येव तन्वा शाशदाना एषि देवि देवमियक्षमाणाम्।
सस्मयमाना युवति पुरस्तादाविर्वक्षासि कृणुषे विभाती। वही १।१२३।१०।

२ वही।

३ निरुक्त ३।१५ योषा यौते।

४ ऋग्वेद ५।३।२, ५।२८।३।

५ इमानि त्रीणि विष्टपा तानीन्द्र विरोहय शिरस्ततस्योर्वरामादिदं म उपोदरे।
वही ८।६१।५।
असौ च या न उर्वराऽदिमां तन्वं मम। अथो ततस्य यच्छिरः सर्वा ता रोमशा कृधि।

६ उपोप मे परा मृश मा मे दभ्राणि मन्यथा। वही ८।६१।५६।
सर्वाहमस्मि रोमशा गन्धारीणामिवाविका। वही १।१२६।७।

७ द्रष्टव्य प्रस्तुत ऋचा पर सायण भाष्य।

ऋग्वेद की एक ऋचा से होती है।[1] वैवाहिक आनन्द का अनुभव अविकल एवं प्रौढ़ अंगों से होता है, क्योंकि इन्द्रियाँ उस समय आनन्द भोगने में समर्थ होती हैं। एक अन्य ऋचा[2] में इसी ओर संकेत किया गया है। वहाँ यह प्रार्थना विश्वावसु से की गई है कि वह सुपुष्ट अंगो वाली कन्या ही को वर प्राप्त करें।

(६) कुछ ऐसे संकेत भी ऋग्वेद में मिलते हैं जहाँ कन्या स्वयं विवाहेच्छुक दिखाई पड़ती है। एक ऋचा[3] में इस ओर संकेत किया गया है। यह वर्णन सूर्या का है जहाँ स्वतः सूर्या पति की कामना करती है तथा पिता द्वारा पति को समर्पित कर दी जाती है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यही पद्धति समाज मे भी कुछ सीमा तक प्रचलित रही होगी। एक लौकिक सन्दर्भ उपयुक्त कथन की पुष्टि करता है। एक ऋचा[4] मे यौवन से उन्मत्त और पति के लिए लालायित रहने वाली स्त्री का वर्णन किया गया है।

(७) विवाहित दम्पती ऋग्वेद मे प्रौढ दिखाये गये हैं इसीलिए वे विवाहोपरान्त सन्तानोत्पत्ति मे समर्थ हो सकते थे। विवाह-सूक्त मे अनेक स्थलों[5] पर ऐसा वर्णन आया है जिसमे सन्तति के उत्पादन की तात्कालिक क्षमता सूचित होती है। वधू के लिये सुपुत्रा वीर प्रसवा और दशपुत्रवती होने की मंगल कामना की गई है। इससे ज्ञात होता है कि सहवास वैदिक विवाह का अनिवार्य अंग है। इससे यह भी पुष्ट होता है कि प्रजनन योग्य कन्या की आयु विवाह के लिए उस समय उचित मानी जाती थी।

पाणिग्रहण के लिये कन्या के शारीरिक विकास का बडा रोचक क्रम ऋग्वेद मे वर्णित है। दशम मण्डल के विवाह-सूक्त मे एक स्थल[6] पर वधू के लिए कहा गया है कि सब प्रथम सोम ने उसे पत्नी के रूप मे प्राप्त किया तब गन्धर्व ने।

---

१ नि ते नंसै पीप्यानेव योषा मर्यायेव कन्या शश्वचै ते। ऋग्वेद ३।३३।१०।

२ वही १०।८५।२३।

३ सूर्यां यत्पत्ये शंसन्तीं मनसा सविताददात्। वही १०।८५।९।

४ अन्यामिच्छ प्रफर्व्यं सं जायां पत्या सृज। वही १०।८५।२२।

५ यथेयमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रा सुभगासति। वही १०।८५।२५ १०।८५।२७।
आ नः प्रजां जनयतु प्रजापतिराजरसाय समनक्त्वर्यमा। वही १०।८५।४३।
वीरसूर्देवकामा स्योना शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे। वही १०।८५।४४।
दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि। वही, १०।८५।४५।

६ सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः। वही १०।८५।४०।
सोमो ददद्गन्धर्वाय गन्धर्वो दददग्नये।
रयिं च पुत्रांश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम्। वही १०।८५।४१।

अग्नि उसका तृतीय पति है और चौथा मनुष्यज था । सोम ने पहले इसे गन्धर्व को दिया, गन्धर्व ने अग्नि को दिया और अग्नि ने ऐश्वय तथा पुत्रो के लिये पति के हाथ में सौंप दिया है । सायणकृत व्याख्या का तात्पय इस प्रकार है—जब तक काम भोग की इच्छा भी उत्पन्न नहीं हो पाती उस समय सोम कन्या का उपभोग करता है जब कामेच्छा प्रारम्भ हो जाती है तब गन्धव उसे ग्रहण कर लेता है । तदनन्तर वह विवाह के समय उसे अग्नि को हस्तांतरित कर देता है । पुन मनुष्य उसे ऐश्वय और सन्तति के लिए प्राप्त कर लेता है ।[1] अत्रि-स्मृति[2] की व्याख्या इस अभिप्राय को स्पष्ट कर देती है । उस व्याख्या का भाव इस प्रकार है—स्त्रियो का भोग प्रथम सोम गन्धव और अग्निदेव करते हैं । सोम ने उन्हे पवित्रता प्रदान की गन्धव ने वाणी और अग्नि ने सर्वमेध्यत्व । अन्यत्र[3] स्त्री के शारीरिक विकास को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—कन्या का शारीरिक एव मानसिक विकास सोम देवता के आधीन है । गन्धर्व सौंदय का स्वामी है । कन्या को सुन्दर बनाना और उसकी वाणी को मधुरता देना उसका काय है, उसी के सरक्षण मे नितम्ब विकसित होते हैं स्तन गोल और आकषक बनते हैं । नेत्र प्रम की भाषा बोलते हैं और सम्पूण शरीर मे विचित्र सौंदय व्याप्त हो जाता है । गन्धव कन्या को अग्नि देव को हस्तातरित कर देता है । वही स्त्रियो मे रजोत्पत्ति करता है जिसके बाद स्त्रियां प्रजनन मे समर्थ हो जाती हैं और तब अग्नि उसे अपने चतुथ जन्मा पति को सौंप देता है ।

इस प्रकार विवाह से पूव कन्या के शारीरिक विकास को प्रदर्शित किया गया है इससे अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि कन्या का विवाह रजोदशन के पश्चात किया जाता था ।

(८) यह ऋग्वेद मे वर्णित है कि विवाहोपरान्त वधू अपने पति गृह जाकर सम्पूर्ण उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लेती थी । वह द्विपदो और चतुष्पदो (पशुओ) पर पूण शासन करती थी ।[4] वधू यदि विवाह के समय युवती न हो तो वह कैसे घर की सम्राज्ञी बनने के अधिकार को प्राप्त करेगी । इस कथन की पुष्टि विवाह सूक्त[5] से भलीभाँति हो जाती है ।

---

१ द्रष्टव्य ऋग्वेद १०।८५।४० ४१ पर सायण भाष्य ।

२ अत्रि स्मृति १३७ ।

३ दि आर्यन मरेज—हिन्दू सस्कार पृ० २६ ३७ की पादटिप्पणी मे उद्धृत पृ० २७६ ।

४ वीरसूर्देवकामा स्योना शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे । ऋग्वेद १०।८५।४४ ।
अदुर्मङ्गली पतिलोकमा विश शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ।
वही, १०।८५।४३ ।

५ सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव ।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु । वही १०।८५।४६ ।

(६) ऋग्वेद के प्रथम मण्डल[1] मे कहा गया है कि उस समय 'समन' उत्सव मनाये जाते थे। युवा कन्या बड़े हर्षित चित्त और प्रसन्नवदन हो 'समन' नामक मेले में जाती थी।[2] कन्यायें समन में ही अपने उपयुक्त वर का चुनाव करती थीं। अविवाहित कन्यायें युवा पुरुषो को आकृष्ट करने के लिए सुन्दर वस्त्र और अलंकरण धारण करती थीं।[3] मातायें स्वय उन्हे प्रसाधित करके भेजती थीं।[3] अविवाहित कन्याओ के प्रेमी 'जार' कहलाते थे वे सकेतित स्थलो पर अपनी प्रेमिका को आमन्त्रित करते थे।[4] प्रस्तुत उद्धरणों से ज्ञात होता है कि विवाह के समय कन्या पर्याप्त रूप मे विकसित अवस्था वाली होती थी, क्योंकि वह अकेले उत्सव मे जाती थी और वहाँ अपने अनुरूप वर का चयन भी स्वयं ही करती थी।

इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि कुछ प्रौढ़ स्त्रियाँ स्वेच्छापूर्वक आजीवन अविवाहिता रहती थीं।[5] उनका जीवन पितृ गृह मे ही व्यतीत होता था।[6] अपाला घोषा विश्वार आदि इसके उज्ज्वल उदाहरण हैं। एक स्थल[7] पर पितृ-गृह मे वृद्धा होने वाली घोषा को भी पति-प्राप्ति का वर्णन मिलता है। इससे यह सकेत मिलता है कि युवतियो का विवाह प्रौढ़ावस्था पर हो जाता था और वे अवस्था अधिक होने पर भी स्वेच्छापूर्वक विवाह कर सकती थी।

(ख) वर की आयुविषयक संकेत

(१) घोषा अधिक प्रौढ़ावस्था मे पति की इच्छा रखती हुई प्रदर्शित की गई है और प्रौढ़ावस्था मे उसने पति को प्राप्त किया।[8] इससे सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि पति की अवस्था भी उसी के अनुरूप प्रौढ़ ही रही होगी।

(२) पं रघुनन्दन शर्मा ने वर की विवाह के लिए आयु निर्धारण मे एक ऋचा[9] को प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार प्रस्तुत ऋचा का अर्थ है—जो युवावस्था को प्राप्त होकर विद्या पढ़कर और यज्ञोपवीत तथा सुन्दर वस्त्रो को पहने

---

१ आ भ प्रवन्त समनेव योषा कन्याण्य स्मयमानासो अग्निम्। ऋग्वेद ४।५८।८।
२ वही ७।२।५।
३ सुसंकाशा मातृमृष्टेव योषाविस्तन्व कृणुषे दृशे कम्। वही १।१२३।११।
४ गुप्ताश्च बभ्रवो वाचमक्रन् एमीदेषा निष्कृतंजारिणीव। वही १०।३४।५।
५- अमाजूरिव पित्रो सचा सती समानादा सदसस्त्वामिये भगम। वही २।१७।७
अमाजुरश्चिद् भवथो युव भगोऽनाशोश्चिदवितारापमस्य चित्। वही १०।३९।३
६, ७ घोषायै चित् पितृषदे दुरोणे पतिं जूर्यन्त्या अश्विनावदत्तम्। वही, १।११७।७
८ वही १।११७।७।
९ युवा सुवासा परिवीत आगात् स उ श्रेयान् भवति जायमान।
तं धीरास कवय उन्नयंति स्वाध्यो मनसा देवयन्त। वही ३।८।४।

हुए आता है, वही श्रेय को पाकर प्रसिद्ध होता है और उसी को विद्वान तथा वीर पुरुष अन्त करण से उन्नत करते हैं तथा बड़ा मानते हैं।[1] इस ऋचा में समावर्तन के समय की आयु का वर्णन है। समावर्तन के बाद ही विवाह होता है, अत हम इससे तत्कालीन पुरुष की वैवाहिक आयु का अनुमान लगा सकते हैं और यह कह सकते हैं कि पुरुष विवाह के समय युवा होता था।

(३) ऊपर वधू के आयु-वर्णन मे प्राप्त प्रसगो के अनुसार दम्पती मे सन्तानोत्पत्ति की योग्यता बताई गई है और वधू की आयु की ओर पर्याप्त सकेत किया गया है। प्राय यह देखा जाता है कि विवाह के समय वर की आयु वधू से कुछ अधिक ही होती है, इससे ऐसा प्रतीत होता है कि इस परम्परा का निर्वाह वैदिक काल मे भी अवश्य होता था।

उपर्युक्त विवेचन से इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि वर एव वधू ऋग्वैदिक काल मे इतनी अवस्था वाले होते थे कि वे स्वय किसी से विवाह का प्रस्ताव रख सकते थे। वे स्वेच्छानुसार अपने सहयोगी का चयन कर सकने मे सामर्थ्यवान होते थे। अतएव यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि बाल्यावस्था व्यतीत होने पर किशोरावस्था से भूषित आयु ऋग्वैदिक विवाह योग्य आयु निर्धारित थी।

(आ) साथी का चयन

(क) योग्यतायें तथा अयोग्यतायें

विवाह के लिए वर एव वधू मे कुछ योग्यताओ का होना आवश्यक है। विवाह से पूर्व कन्या देखने का प्रचलन आधुनिक समय मे इस बात का साक्षी है कि वधू का इच्छानुरूप चयन किया जा सके। अपनी आवश्यकताओ के अनुसार कन्या की योग्यताओ का मूल्याकन करके उसे अपना लिया जाता है इसी प्रकार कन्या पक्ष भी वर की सामर्थ्यशीलता का अनुमान करके और स्वय सन्तुष्ट होकर विवाह की स्वीकृति प्रदान करता है। विवाह के लिए कतिपय योग्यताओ और अयोग्यताओ के निर्धारण का आभास वैदिक युग मे भी प्राप्त होता है। यथा—

(१) सुशिक्षित सुशील और सुन्दर कन्यायें विवाह के लिये सरलतापूर्वक अपने साथी का वरण कर लेती थी किन्तु आर्थिक-स्थिति विवाह मे एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती थी। इन दोनो पक्षो के सकेत ऋग्वेद मे प्राप्त होते है। एक स्थल[2] पर कहा गया है कि कतिपय स्त्रियाँ द्रव्य से ही पुरुष के वशीभूत हो जाती थी परन्तु जो स्त्रियाँ सुशील स्वस्थ और श्रेष्ठ मन वाली होती थी वे इच्छानुरूप पुरुष को पति रूप मे वरण करती थी।

---

१ प० रघुनन्दन शर्मा वैदिक सम्पत्ति पृ० ६२६।

२ कियती योषा मर्यतो वधूयो परिप्रीता पन्यसा वार्येण।
भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशा स्वयं सा मित्र वनुते जनेचित्। ऋग्वेद १०।२७।१२

(२) रोग अथवा किसी प्रकार का दोष विवाह में बाधक होता था। घोषा त्वक् रोग से पीड़ित थी, अतएव वह विवाह योग्य आयु के व्यतीत हो जाने पर भी पिता के घर में बहुत समय तक निवास करती रहीं परन्तु उसने अश्विनी देवों की कृपा से रोगमुक्त होकर पति समागम को प्राप्त किया। ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं में इस तथ्य का वर्णन प्राप्त होता है।[१]

(३) नेत्रहीनता विवाह के लिये कोई अयोग्यता नहीं मानी जाती थी। इसका संकेत ऋग्वेद की एक ऋचा[२] में मिलता है। नेत्रहीन कन्या पितृगृह में और पतिगृह में भी अधिक सुरक्षापूर्वक रखी जाती थी। वैदिक युग का यह उदाहरण वास्तव में सराहनीय है।

प्रस्तुत विवरण से कन्या और वर की विवाह विषयक योग्यताओं और अयोग्यताओं का अल्प परिचय ऋग्वेद में मिलता है।

(ख) साथी के चयन में वधू एवं वर का हाथ

(१) साथी के चयन में वधू का हाथ—वैदिक कन्याओं को स्वेच्छापूर्वक विवाह करने का अधिकार प्राप्त था। पहले बताया जा चुका है कि कन्यायें अपने विवाह के समय युवती होती थीं अतएव वे अपने भावी पति का चयन करने में स्वयं स्वतन्त्र एवं सक्षम थी। कन्यायें सज धज कर समन[३] जैसे सामाजिक उत्सवों में सम्मिलित होती थी। समन के विषय में मतैक्य नहीं है। रॉथ ने इसे युद्ध अथवा उत्सव-काल कहा है।[४] पिशेल के मतानुसार—'समन एक सामान्य प्रसिद्ध उत्सव काल है। स्त्रियाँ उसमें अपने मनोरंजन के लिये कवि यश के लिए धनुर्धारी अपनी धनुर्विद्या में पुरस्कार प्राप्ति के लिए रात्रि पर्यन्त भाग लेते थे।'[५] कन्यायें हर्षित और प्रसन्नचित्त होकर समन में भाग लेती थीं[६] तथा वे अपने पति का वरण करती थी हमने इसका प्रतिपादन पहले कर दिया है। कन्यायें उच्छृंखल रूप से उत्सव में रात्रि पर्यन्त घूमती थी ऐसा प्रतीत नहीं होता क्योंकि मातायें स्वयं उन्हें आकर्षक रूप से सजाकर भेजती थी।[७] समन कन्याओं को एक ऐसा अवसर प्रदान करता था जिससे लड़कियाँ एकत्रित जन-समुदाय में से अपने योग्य

---

१ ऋग्वेद १।११७।७ २।१७।७ १०।३९।३ १०।४०।५।

२ यस्यानक्षा दुहिता जात्वास कस्तां विद्वाँ अभि मन्याते अन्धाम्।
कतरो मेनिं प्रति तं मुचाते य ईं वहाते य ईं वा वरेयात्। वही, १०।२७।११।

३ वही, ४।५८।८ ६।७५।४, ७।२।५, १०।८६।१०।

४ रॉथ—सट पीटर्सबर्ग डिक्शनरी, द्रष्टव्य 'समन' की व्याख्या।

५ उषा एम० आप्टे-सेक्रामेण्ट आफ मैरेज इन हिन्दू सोसायटी, पृ० १० पर उद्धृत।

६- ऋग्वेद १।४८।६ १।२४।८ ४।५८।८ ६, ७।९।४, १०।८६।१०।

७ वही, १।१२३।११।

वर का चयन कर लेती थीं। कन्याओ के प्रेमी 'जार' कहलाते थे।[1] उत्तरवर्ती धर्मशास्त्र एवं साहित्य मे 'जार' स्त्री के उपपति अथवा बुरे अर्थों में ग्रहण किया गया है किन्तु ऋग्वेद मे यह विशुद्ध प्रेमी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जिसमे नैतिक दुराचार का अल्पांश भी दृष्टिगोचर नहीं होता।[2] 'समन' एक ऋग्वैदिक सर्वमान्य विवाह-पद्धति का रूप था परन्तु कुछ अन्य पद्धतियाँ भी थीं जिनसे स्त्री एवं पुरुष दाम्पत्य भाव मे जुड़ते थे। प्रेम विवाह उनमें से एक है। तदनुसार कन्यायें अपने प्रेमियो से किसी संकेत स्थल पर मिलती थीं।[3] इस प्रकार विवाह गुप्त प्रेम पूर्व मिलन तथा पूर्वानुराग द्वारा भी होते थे।

इससे ज्ञात होता है कि कन्यायें स्वयं ऋग्वैदिक काल मे विवाह के निश्चय के सम्बन्ध मे पूर्णत सचेष्ट रहती थी। ऐसी कन्याओं को तत्कालीन समाज मे आदर एवं सम्मान प्राप्त होता था। अपने पति को चुनने वाली कन्या की प्रशंसा स्वत ऋग्वेद मे एक स्थल पर की गई है।[4]

(२) **विवाह सम्बन्धी निर्णय मे वधू के अभिभावकों का सहयोग**—विवाह के विषय मे अन्तिम निर्णय माता पिता का होता था। अभी ऊपर कहा गया है कि कन्याए स्वेच्छानुसार विवाह करती थी परन्तु इसका आशय यह कदापि नहीं है कि वे अपने माता एवं पिता की इच्छा के प्रतिकूल विवाह कर लेती थी। इसका स्पष्ट भाव यह है कि कन्याओ का चरित्र इतना ऊँचा होता था कि वे अपने विवाह के प्रति जो निर्णय लेती थी माता एवं पिता सहर्ष उसका अनुमोदन करते थे। विवाह-सूक्त मे स्पष्ट रूप से कहा गया है कि सूर्य ने अपनी पुत्री सूर्या को सोम के लिए देने का निश्चय किया था।[5]

माता पिता के बाद अभिभावको मे भाई प्रमुख माना जाता था। ऋग्वैदिक ऋचा[6] मे स्पष्ट रूप से संकेत किया गया है कि भ्रातृहीन कन्या को योग्य पति प्राप्त करने के लिए अत्यधिक प्रगल्भता पूर्वक सचेष्ट रहना पड़ता था। इसका यह अभिप्राय जान पड़ता है कि भाई अपने माता पिता की, अपनी बहन के पति वरण

---

१ अभ्रमगावो अनूषत योषा जारमिव प्रियम्। अगन्नाजि यथाहितम्।
ऋग्वेद ६।३२।५

२ डा० शिवराज शास्त्री ऋ० पा० स० पृ० २११।

३ युवोह मक्षा पर्यश्विना मध्वासा भरत निष्कृत न योषणा। ऋग्वेद १०।४०।६।
न्यप्ताश्च बभ्रवो वाचमक्रत अभीदेषा निष्कृत जारिणीव। वही १०।३४।५।

४ वही १०।२७।१२।

५ सोमो वधूयुरभवदश्विनास्तामुभा वरा।
सूर्यां यत्पत्ये शसन्ती मनसा सवितादवात्। वही, १०।८५।९।

६ अभ्रातेव पुस एति प्रतीची। वही, १।१२४।७।

में सहायता करता था अथवा स्वयं उनके अभाव में उनके द्वारा किये जाने वाले कार्यों को पूर्ण करता था, जिससे बहन का जीवन सफल हो सके। डा० शिवराज शास्त्री के मतानुसार अभ्रातृमती कन्या से विवाह न करने का एक कारण उसके नैतिक आचरण की संदिग्धता भी है।[1] माता एवं पिता के अभाव में भाई का कर्तव्य केवल उसके पालन और आचरण से ही सम्बद्ध नहीं होता था अपितु वह बहन के लिए योग्य पति को खोजने और तात्कालिक विधिविधान से विवाह करने का भी उत्तरदायी होता था।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कन्या यद्यपि अपने विवाह के लिये स्वयं सचेष्ट रहती थी परन्तु उसके सम्बन्धी भी कन्या की ओर से नितान्त चिन्ताविहीन नहीं थे क्योंकि अंतिम निर्णय माता पिता का ही होता था।

(३) साथी के चयन में वर का हाथ—वर स्वयं भी वधूचयन में संनद्ध होता था। एक स्थल[2] पर कहा गया है कि सूर्य प्रकाशमान और तेजयुक्त उषा देवी के पीछे उसी प्रकार जाता है जिस प्रकार युवा पुरुष अपने प्रेम-पात्री युवती स्त्री के पीछे जाता है। इससे यह ज्ञात होता है कि वर-वधू का स्वयं चयन करता था और उसका अनुगामी होता था। जिस प्रकार सूर्य स्वेच्छा से उषा का पीछा करता है युवक भी उसी प्रकार अपनी प्रेयसी का पीछा करता था। यह कथन वर की ओर से स्वेच्छापूर्वक विवाह करने को पुष्ट करता है।

(४) वर चयन में वर के अभिभावकों का सहयोग—ऋग्वेद के अधिकांश सन्दर्भों से यह ज्ञात होता है कि कन्या पक्ष ही वर के चयन में तत्पर रहता था परन्तु कतिपय उदाहरण वर पक्ष की तत्परता को अभिव्यक्त करते हैं। एक दैवी प्रसंगानुसार अश्विनी कुमार सूर्या-सूक्त[3] में सोम के लिये सूर्या के विवाह का प्रस्ताव रखते हैं। यह पद्धति लौकिक पद्धति का अनुमोदन करती हुई प्रतीत होती हैं।

डा० शिवराज शास्त्री ने इस विषय में अपना मत निम्नलिखित प्रकार से व्यक्त किया है—'प्रारम्भ में कदाचित् विवाहेच्छुक युवा पुरुष के पक्ष के उन व्यक्तियों को जो कन्या की मांग करने पर और उसके बाद विवाह के समय कन्या के घर आते थे 'वर' कहा जाता था।'[4] 'वर' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में अनेकश हुआ है।[5]

इससे यह स्पष्ट होता है कि वर पक्ष कन्या की मांग करने उसके यहाँ

---

१ डा० शिवराज शास्त्री ऋ० पा० सं० पृ० ३०३।

२ सूर्यो देवीमुषसं रोचमानां मर्यो न योषामभ्येति पश्चात्। ऋग्वेद १।११५।२।

३ वही, १०।८५।

४ डा० शिवराज शास्त्री ऋ० पा० सं०, पृ० २३८।

५ ऋग्वेद १।८३।२, ५।६०।४ ६।१०१।१४, १०।८५।८ ९।

जाता था और विवाह निर्धारण में वर-पक्ष के अन्य सदस्य वर के अभिभावकों को सहायता प्रदान करते थे।

(ङ) दहेज-प्रथा

आज हम दहेज की विभीषिकाओं से परिचित हैं अतएव यहाँ उसके विस्तार मे जाने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। प्रश्न यह है कि क्या दहेज प्रथा का स्रोत अत्यन्त प्राचीन है ? वस्तुतः ऋग्वेद इसको अस्वीकार नहीं करता। दहेज के कतिपय प्रमाण ऋग्वेद मे उपलब्ध होते हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि अनेक उपहार उस समय भी विवाह के अवसर पर प्रदान किये जाते थे, किन्तु तत्कालीन पद्धति आज से कुछ भिन्न थी। उस समय उपहार अपनी सामर्थ्यानुसार कम और अधिक दिये जाते थे। वधू पक्ष वर पक्ष को अनेक उपहार भेंट करता था। कुछ अन्य सकेत भी मिलते हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि वरवधू प्राप्ति के निमित्त वधू के अभिभावक को कुछ भेंट प्रदान करता था। इसका विस्तृत विवेचन निम्नलिखित है—

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल[1] मे ऐसा वर्णन किया गया है कि कक्षीवान् को विवाह के अवसर पर अपने श्वसुर से पत्नी के साथ साथ स्वर्ण पशु रथ और घोड़े प्राप्त हुए।

सूर्यासूक्त से विदित होता है कि सूर्या पति गृह गमन के समय अपने साथ कोष ले गई थी। एक ऋचा[2] मे कहा गया है कि सूर्या जब पति के घर पहुचती है तब वहाँ चैतन्य रूप चादर बना नेत्र उबटन हुआ और आकाश तथा पृथिवी कोश बने। यहाँ यह स्पष्ट होता है कि उस समय कुछ कोश कन्या-गमन के अवसर पर भेंट किया जाता होगा। ये उपहार स्वेच्छा से दिये जाते थे, इसलिये कुछ लोग इसे दहेज की सज्ञा नहीं देते। यदि इसे दहेज' कहा भी जाए तो इतना तो सत्य है कि आज अभी दहेज की लालसा भरी प्रवृत्ति उन उपहारो के पीछे नही थी।

एक स्थल[3] पर इन्द्रदेव को साले से भी अधिक देने वाला कहा गया है। इससे यह ध्वनित होता है कि कन्या का भाई वर को धन देने के लिए प्रसिद्ध था इसी प्रसिद्धि के कारण ही इन्द्र जैसे देव को उससे बढ़कर कहा गया है।

ऊपर वर्णन किया जा चुका है कि दशम मण्डल की एक ऋचा से ज्ञात होता है कि कन्या द्रव्य से भी पुरुष के वशीभूत हो जाती थी।[4]

प्रस्तुत सभी उदाहरणो मे यह स्पष्ट होता है कि ऋग्वैदिक काल मे वधू को

---

१ ऋग्वेद १।१२६।३।

२ चित्तिरा उपबर्हणं चक्षुरा अभ्यञ्जनम्।
द्यौर्भूमि कोश आसीद्यदयात्सूर्या पतिम्। वही, १०।८५।७।

३ अश्रवं हि भूरिदावत्तरा वां विजामातुरुत वा घा स्यालात्। वही १।१०९।२।

४ वही १०।२७।१२।

व्यवहार प्रयोग किये जाते थे ।

दहेज का एक पक्ष 'कन्या-शुल्क' के रूप में आता है । 'कन्या शुल्क' से यह तात्पर्य है कि विवाह के अवसर पर कन्या के माता-पिता को उसकी सेवाओं से वंचित कर देने के कारण वधू-पक्ष को दिया गया धन । यह प्रथा आसुर-विवाह को जन्म देती है, इसका विस्तृत विवरण विवाह के प्रकारों में 'आसुर-विवाह' में दिया जा चुका है ।

४ एक विवाह, बहु विवाह और विधवा विवाह

(अ) एक विवाह—एक विवाह का प्रचलन सदैव से हिन्दू समाज में रहा है । एक विवाह उस विवाह को कहते हैं जिसमें एक स्त्री का विवाह एक समय में एक ही पुरुष के साथ किया जाए । एक विवाह के सम्बन्ध में श्री बुकैनोविक लिखते हैं— उस विवाह को एक विवाह कहना चाहिये जिसमें न केवल एक पुरुष की एक पत्नी या एक स्त्री का एक ही पति हो बल्कि दोनों में से किसी की मृत्यु हो जाने पर भी दूसरा पक्ष अन्य विवाह न करे ।[1]

विवाह की यह प्रथा सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है । एक विवाह वर्तमान समय मे विवाह का आदर्श रूप माना जाता है । एक विवाह ऋग्वेद मे भी श्रेष्ठ माना गया है । ऋग्वैदिक देवता यदि कहीं विवाहित अथवा किसी स्त्री से सम्बद्ध दिखाया गया है तो वह एक पत्नीक ही है । ऋग्वैदिक अनेक उदाहरण ऐसे मिलते हैं, जिनसे तत्कालीन प्रचलित और मान्य एक विवाह की सूचना मिलती है ।[2] एक विवाह का अनुमान इनसे भिन्न कतिपय अन्य उद्धरणों के आधार पर अप्रत्यक्ष रूप से लगाया जा सकता है । 'दम्पती' शब्द का प्रयोग एक पति एवं एक पत्नी का सूचक है । कोश के अनुसार दम्पती[3] शब्द प्राय द्विवचन में आता है और गृहस्वामी तथा गृहस्वामिनी के रूप मे पति और पत्नी का बोधक है ।[4] मृतक के पास एक ही पत्नी के बैठने का उल्लेख अन्त्येष्टि-संस्कार[5] मे किया गया है जो एक विवाह की ओर सकेत करता है । विवाह-सूक्त[6] के अन्त मे वधू को सम्राज्ञी बनने का आशीर्वाद एक विवाह की ओर इंगित करता है । तदनुसार वधू सम्राज्ञी उसी समय बन सकती है, जब वह अकेली हो अर्थात् उसके पति की अन्य स्त्रियाँ

---

१ मोतीलाल गुप्ता भारतीय सामाजिक संस्थायें पृ० १५७ पर उद्धृत ।

२ ऋग्वेद १।१२४।७, ४।३।२, १०।७१।४, १०।१०४।३, १०।१०५।८, १०।१८६।७ ।

३ वही, ५।३।२ ८।३१।५, १०।१०।५, १०।६८।२, १०।८५।३२, १०।९५।१२ आदि ।

४ वैदिक कोश सूर्यकान्त, द्रष्टव्य 'दम्पति' शब्द की व्याख्या ।

५ ऋग्वेद १०।१८।८ ।

६- वही १०।८५।४६ ।

न हो। वह उसी समय वर पक्ष के सभी-व्यक्तियो पर शासन करने में समर्थ हो सकती है।

इसके अतिरिक्त कुछ ऋग्वैदिक सकेत ऐसे मिलते हैं जो एक विवाह को पुष्ट करते हैं। उदाहरण स्वरूप यहाँ देवो की उन स्तुतियों को लिया जा सकता है जिनमे वर एव वधू दोनो को एक करने की प्रार्थना की गई है। प्रस्तुत दोनों ऋचाओ म पति एव पत्नी के समान मति होकर रहने की प्रार्थना की गई है। सौभाग्यवती बनाने के लिये ही पति, पत्नी का हाथ ग्रहण करता था।[१] इसी प्रकार पति एव पत्नी के साथ-साथ सुखपूर्वक रहने तथा वृद्धावस्था तक साथ रहन की मगल कामना की गई है।

ये सभी सन्दर्भ एक पत्नी एव एक पति का बोध कराते हैं और एक विवाह को पुष्ट करते हैं। मलिनवास्की ने एक विवाह के विषय में कहा है— एक विवाह ही विवाह का वास्तविक स्वरूप रहा था रहा है और रहेगा।[४]

(आ) बहु विवाह—एक विवाह के साथ बहु विवाह की प्रथा भी प्राचीन काल स इस देश मे प्रचलित रही है। जब एक पुरुष या स्त्री का एक से अधिक स्त्रियो अथवा पुरुषो के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हो तब ऐसे विवाह को बहु विवाह कहा जाता है। बहु विवाह के दो रूप हैं—१ बहु-पत्नी प्रथा, २ बहु पति प्रथा।

(क) बहु पत्नी प्रथा—बहु पत्नी विवाह उस प्रथा को कहते हैं जिसमे एक पुरुष का विवाह एक स अधिक स्त्रियो के साथ होता है। बहु-पत्नी-विवाह भारत मे वैदिककाल स ही चला आ रहा है। श्री के० एम० कापड़िया न इस विषय मे लिखा है—'भारत वर्ष मे यह प्रतिमान वैदिक युग से वर्तमान समय तक प्रचलित रहा है।'[५]

---

१ अनक्षरा ऋजव सन्तु पन्था येभि सखायो यन्ति नो वरेयम।
समर्यमा स भगो नो निनीयात्स जास्पत्य सुयममस्तु देवा। ऋग्वेद १०।८५।२३
इह प्रिय प्रजया ते समृध्यतामस्मिन्गृहे गार्हपत्याय जागृहि।
एना पत्या तन्व स सृजस्वाधा जिव्री विदथमा वदाथ। वही १०।८५।२७।
वही १०।८५।३६।
वही १०।८५।३६ ३७।

४ Monogamy is, has been and will remain the only type of marriage मलिनवास्की बी – एनसाइक्लोपीडिया ऑफ ब्रिटैनिका, १९३८, भाग १४ पृ० ९४० ५०।

५ In India this pattern has persisted right from Vedic times to the present" के० एम० कापडिया, दी मैरिज एण्ड फैमिली इन इंडिया पृ० ९७।

डा० आर० एन० सक्सेना का मत भी ऋग्वैदिक बहुपत्नी विवाह का समर्थक है—'बहुपत्नीत्व को उत्तरवैदिक काल की साधारण प्रथा, नहीं माना जा सकता। वैदिक साहित्य में इस प्रथा का उल्लेख है। अनेक वैदिक विभूतियों ने एक से अधिक स्त्रियों से विवाह किये।'[1]

ऋग्वेद में कतिपय स्थल ऐसे हैं जो बहुपत्नीत्व पर प्रकाश डालते हैं। एक स्थल[2] स्पष्टत यह संकेत करता है कि मनुष्य एक समय में अपनी अनेक स्त्रियों की रक्षा का भाव रखता है। ऋग्वेद में ऐसी प्रार्थना मिलती है, जिसका मुख्य उद्देश्य कामना करने वाले पति को कामना करने वाली स्त्रियाँ प्रदान करना है।[3] हँसती हुई स्त्रियों का पति के समीप जाने का स्पष्ट उल्लेख चतुर्थ मण्डल में किया गया है।[4] इसी प्रकार कतिपय अन्य सन्दर्भ बहुपत्नी विषयक स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करते हैं।[5] तृतीय मण्डल में एक पति वाली नारियों का उल्लेख किया गया है।[6] अन्यत्र अनेक स्त्रियाँ एक पति का आलिंगन करती हुई प्रदर्शित की गई हैं।[7] एक अत्यन्त सुन्दर वर्णन पाँचवें मण्डल[8] में उपलब्ध होता है। यहाँ माताये अपने पुत्र के लिए कपड़ा बुनतीं हुई दिखाई गई हैं।

सपत्नियों का स्पष्ट उल्लेख दशम मण्डल की एक ऋचा[9] में प्राप्त होता है, इसमे सपत्नियों द्वारा प्राप्त दुख उपमान रूप में प्रस्तुत किया गया है। पसलियाँ चारों ओर से मनुष्य को उसी प्रकार सताती हैं जिस प्रकार सपत्नियाँ। इस प्रकार प्रस्तुत पंक्ति पति की अनेक पत्नियों द्वारा संतप्त अवस्था का बोध कराती हैं। दशम मण्डल का एक सम्पूर्ण सूक्त[10] सपत्नी के विषय मे उल्लिखित है। यह सूक्त सपत्नी बाधन सूक्त कहा जाता है। इस सूक्त की प्रथम ऋचा सपत्नी के क्लेश

---

१ मोतीलाल गुप्ता भारतीय सामाजिक संस्थायें पृ० १६० पर उद्धृत।

२ पुरू सहस्रा जनयो न पत्नीर्दुवस्यन्ति स्वसारो अह्रयाणम्। ऋग्वेद १।६२।१०।

३ उप प्र जिन्वन्नुशतीरुशन्त पतिं न नित्यं जनय सनीळा। वही, १।७१।१।

४ अभि प्रवन्त समनेव योषा कल्याण्य स्मयमानासो अग्निम। वही, ४।५८।८।

५ उरुक्रम ककुहो यस्य पूर्वीर्न मर्धन्ति युवतयो जनित्री। वही, ३।५४।१४।

क्षीरेण स्नात कुयवस्य योषे हते ते स्यातां प्रवणे शिफाया। वही १।१०४।३।

६ आस्के सपत्नी अजरे अमृक्ते सबर्दुघे उरुगायस्य धेनू। वही, ३।६।४।

वृष्णे सपत्नी शुचये सबन्धू उभे अस्मै मनुष्ये निपाहि। वही, ३।१।१०।

७ समद्रुव केशिनी स हि रेभिर ऊर्ध्वास्तस्थुर्मम्रुषी प्रायवे पुन।

वही, १।१४०।८।

परिष्वजन्ते जनयो यथा पति मर्यं न शुन्ध्यु मघवानमूतये। वही, १०।४३।१।

८ वि तन्वते धियो अस्मा अपांसि वस्त्रा पुत्राय मातरो वयन्ति। वही, ५।४७।६।

९- स मा तपन्त्यभित सपत्नीरिव पर्शव ऋग्वेद १०।३३।२ और १।१०५।८।

१० वही, १०।१४५।१-६।

न हो। वह उसी समय वर-पक्ष के सभी व्यक्तियों पर शासन करने में समर्थ हो सकती है।

इसके अतिरिक्त कुछ ऋग्वैदिक संकेत ऐसे मिलते हैं जो एक विवाह को पुष्ट करते हैं। उदाहरण स्वरूप यहाँ देवों की उन स्तुतियों को लिया जा सकता है जिनमें वर एवं वधू दोनों को एक करने की प्रार्थना की गई है। प्रस्तुत दोनों ऋचाओं में पति एवं पत्नी के समान मति होकर रहने की प्रार्थना की गई है। सौभाग्यवती बनाने के लिये ही पति पत्नी का हाथ ग्रहण करता था।[1] इसी प्रकार पति एवं पत्नी के साथ साथ सुखपूर्वक रहने तथा वृद्धावस्था तक साथ रहने की मंगल कामना की गई है।

ये सभी सन्दर्भ एक पत्नी एवं एक पति का बोध कराते हैं और एक विवाह को पुष्ट करते हैं। मलिनवास्की ने एक विवाह के विषय में कहा है—'एक विवाह ही विवाह का वास्तविक स्वरूप रहा था रहा है और रहेगा।

(आ) बहु विवाह—एक विवाह के साथ बहु विवाह की प्रथा भी प्राचीन काल से इस देश में प्रचलित रही है। जब एक पुरुष या स्त्री का एक से अधिक स्त्रियों अथवा पुरुषों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हो तब ऐसे विवाह को बहु विवाह कहा जाता है। बहु विवाह के दो रूप हैं—१ बहु पत्नी प्रथा, २ बहु पति प्रथा।

(क) बहु पत्नी प्रथा—बहु पत्नी विवाह उस प्रथा को कहते हैं जिसमें एक पुरुष का विवाह एक से अधिक स्त्रियों के साथ होता है। बहु-पत्नी विवाह भारत में वैदिककाल से ही चला आ रहा है। श्री के० एम० कापड़िया ने इस विषय में लिखा है—भारत वर्ष में यह प्रतिमान वैदिक युग से वर्तमान समय तक प्रचलित रहा है।[5]

---

१ अनक्षरा ऋजवः सन्तु पन्था येभिः सखायो यन्ति नो वरेयम्।
समर्यमा सं भगो नो निनीयात्सं जास्पत्यं सुयममस्तु देवाः। ऋग्वेद १०।८५।२३
इह प्रियं प्रजया ते समृध्यतामस्मिन्गृहे गार्हपत्याय जागृहि।
एना पत्या तन्वं सं सृजस्वाधा जिव्री विदथमा वदाथः। वही १०।८५।२७।
वही १०।८५।३६।
वही १०।८५।३६ ३७।

४ Monogamy is, has been and will remain the only type of marriage मलिनवास्की बी—एनसाइक्लोपीडिया आॅफ ब्रिटेनिका १६३८ भाग १४ पृ० ६४० ५०।

५ In India this pattern has persisted right from Vedic times to the present के० एम० कापड़िया दी मैरिज एण्ड फैमिली इन इंडिया, पृ० ६७।

डा० आर० एन० सक्सेना का मत की ऋग्वैदिक "बहुपत्नी विवाह का संकेत है— बहुपत्नीत्व को उत्तरवैदिक काल की साधारण प्रथा नहीं माना जा सकता, वैदिक साहित्य में इस प्रथा का उल्लेख है। अनेक वैदिक विभूतियों ने एक से अधिक स्त्रियों से विवाह किये।[1]

ऋग्वेद में कतिपय स्थल ऐसे हैं जो बहुपत्नीत्व पर प्रकाश डालते हैं। एक स्थल[2] स्पष्टतः यह संकेत करता है कि मनुष्य एक समय में अपनी अनेक स्त्रियों की रक्षा का भाव रखता है। ऋग्वेद में ऐसी प्रार्थना मिलती है, जिसका मुख्य उद्देश्य कामना करने वाले पति को कामना करने वाली स्त्रियाँ प्रदान करना है।[3] हँसती हुई स्त्रियों का पति के समीप आने का स्पष्ट उल्लेख चतुर्थ मण्डल में किया गया है।[4] इसी प्रकार कतिपय अन्य सन्दर्भ बहुपत्नी विषयक स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करते हैं।[5] तृतीय मण्डल में एक पति वाली नारियों का उल्लेख किया गया है।[6] अन्यत्र अनेक स्त्रियाँ एक पति का आलिंगन करती हुई प्रदर्शित की गई हैं।[7] एक अत्यन्त सुन्दर वर्णन पाँचवें मण्डल[8] में उपलब्ध होता है। यहाँ माताएँ अपने पुत्र के लिए कपड़ा बुनती हुई दिखाई गई हैं।

सपत्नियों का स्पष्ट उल्लेख दशम मण्डल की एक ऋचा[9] में प्राप्त होता है, इसमें सपत्नियों द्वारा प्राप्त दुःख उपमान रूप में प्रस्तुत किया गया है। पसलियाँ चारों ओर से मनुष्य को उसी प्रकार सताती हैं जिस प्रकार सपत्नियाँ। इस प्रकार प्रस्तुत पंक्ति पति को अनेक पत्नियों द्वारा संतप्त अवस्था का बोध कराती है। दशम मण्डल का एक सम्पूर्ण सूक्त[10] सपत्नी के विषय में उल्लिखित है। यह सूक्त सपत्नी बाधन-सूक्त कहा जाता है। इस सूक्त की प्रथम ऋचा सपत्नी के क्लेश

---

१ मोतीलाल गुप्ता भारतीय सामाजिक संस्थायें पृ० १६० पर उद्धृत।
२ पुरू सहस्रा जनयो न पत्नीर्दुवस्यन्ति स्वसारो अह्रयाणम्। ऋग्वेद १।६२।१०।
३ उप प्र जिन्वन्नुशतीरुशन्तं पतिं न नित्यं जनयः सनीळाः। वही, १।७१।१।
४ अभि प्रवन्त समनेव योषाः कल्याण्य स्मयमानासो अग्निम्। वही, ४।५८।८।
५ उरुक्रम ककुहो यस्य पूर्वीर्न मर्धन्ति युवतयो जनित्रीः। वही, ३।५४।१४।
 क्षीरेण स्नात कुयवस्य योषे हते ते स्यातां प्रवणे शिफायाः। वही, १।१०४।३।
६ आस्के सपत्नी अजरे अमृक्ते सबर्दुघे उरुगायस्य धेनू। वही, ३।६।४।
 वृष्ण सपत्नी शुचये सबन्धू उभे अस्मै मनुष्ये निपाहि। वही, ३।१।१०।
७ तमग्रुव केशिनी स हि रेभिर ऊर्ध्वास्तस्थुर्मम्रुषी प्रायवे पुनः।
 वही, १।१४०।८।

परिष्वजन्ते जनयो यथा पतिं मर्यं न शुन्ध्यु मघवानमूतये। वही, १०।४३।१।
८ वि तन्वते धियो अस्मा अपांसि वस्त्रा पुत्राय मातरो वयन्ति। वही, ५।४७।६।
९ स मा तपन्त्यभितः सपत्नीरिव पर्शवः ऋग्वेद १०।३३।२ और १।१०५।८।
१० वही १०।१४५।१ ६।

और उसके साथ बाधक बनाती है।[1] इन ऋचाओं का प्रभाव अद्वितीय है, क्योंकि इनसे सपत्नी का नाश होता है—तदनन्तर खुशियां मनाई जाती हैं। एतद्विषयक एक प्रमाण द्रष्टव्य है–विजेत्री स्त्री सपत्नी विनाश के उपरान्त अथवा मनोरथ पूर्ण होने पर आनन्दविभोर होकर गाती है। इसका वर्णन दशम मण्डल[2] में किया गया है। शची पोलोमी एक स्थल पर अपने हृदयोद्गारों को स्पष्ट करती हुई कहती है कि सूर्योदय ही उसका भाग्योदय है क्योंकि उसकी सभी सपत्नियां उससे पराभूत हो चुकी हैं और अपने पति को उसने अपने वश में कर लिया है।[3]

इस प्रकार दशम-मण्डल के दोनो सूक्त[4] बहु पत्नी प्रथा को प्रकट करते हैं और इसके दुष्परिणामो की ओर संकेत करते हैं। उपयुक्त सभी सन्दर्भों से यह पुष्ट होता है कि बहु पत्नी प्रथा का प्रचलन ऋग्वैदिक काल मे था किन्तु साथ ही यह भी विदित होता है कि यह प्रथा सामान्य जन समाज में अधिक प्रचलित नहीं थी अपितु राजा आदि ही एक से अधिक पत्नियाँ रखते थे। डा० ए० एस० अल्टेकर के मत से यह धारणा पुष्ट हो जाती है। उन्होने इस सम्बन्ध में लिखा है कि बहु पत्नी विवाह धनी शासक और अभिजात वर्ग के लोगो में सामान्य थे।[5] यह बात दशम मण्डल के सूक्तों[6] से स्पष्ट हो चुकी है कि इन्द्र की अनेक पत्नियाँ थीं और बहु पत्नियो के बीच एक राजा की भाँति शोभा देते थे। सप्तम मण्डल मे कहा गया है कि जिस प्रकार स्त्रियो के साथ राजा रहता था उसी प्रकार इन्द्रदेव दीप्तियो के साथ निवास करते थे।[7] प्रो० सरकार ने ऋग्वैदिक राजाओ के चार रानियाँ तक रखने का सकेत दिया प्रो० सरकार लिखते हैं— दासियो के अतिरिक्त राजा चार पत्नियाँ कानूनन रख सकता था जिन्हे धार्मिक सस्कारो के लिये मान्यता प्राप्त थी।[8]

महिषी शब्द एक स अधिक बार ऋग्वद मे प्रयुक्त हुआ है।[9] वैदिक कोश

---

१ इमा खनाम्योषधिं वीरुधं बलवत्तमाम्।
यया सपत्नी बाधते यया संविन्दते पतिम्। वही १०।१४५।१।

२ वही १०।१५९।१ ६।

३ उदसौ सूर्यो अगादुदयं मामको भग।
अहं तद्विद्वला पतिमभ्यसाक्षि विषासहि। वही ज०।१५९।१।

४ वही १०।१४५ १०।१५९।

५ डा० ए० एस० अल्टेकर दी पोजीशन आफ वीमैन इन हिन्दू सिविलाइजेशन पृ० १०४।

६- ऋग्वेद १०।१४५ और १५९।

७ राजेव हि जनिभिः क्षेष्येवाऽव द्युभिरभि विदुष्कविः सन्। वही ७।१८।२।

८ बी० एस० उपाध्याय वी मैन इन ऋग्वेद, पृ० ११५ पर उद्धृत।

९- ऋग्वेद ५।२।२, ५।३७।३।

में 'महिषी' की व्याख्या में लिखा गया है कि 'राजा की चार रानियों में से पहली को महिषी कहा गया है। सम्भवतः ऋग्वेद में भी यही भाव है।[1] 'महिषी' शब्द का प्रयोग स्पष्ट रूप से यह बताता है कि राजाओं की बहुत-सी रानियाँ होती थीं तभी उनमें से प्रधान रानी का 'महिषी' पद से विभूषित किया जाता था।'

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल की एक ऋचा[2] में ऋषि कक्षीवान् को कमनीय नारियों का पति बनाने हेतु अश्विनी कुमारों की प्रशंसा की गई है। इस समस्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वेद में बहु-पत्नी-प्रथा का प्रचलन था।

(ख) बहु-पति प्रथा—बहु-पति-विवाह, बहु-पत्नी-विवाह का दूसरा रूप है। डा० कापडिया बहु-पति विवाह का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि–'बहुपति विवाह एक प्रकार का सम्बन्ध है जिसमें एक स्त्री के एक समय में एक से अधिक पति होते हैं या जिसमें सब भाई एक पत्नी या पत्नियों का सम्मिलित रूप से उपभोग करते हैं।"[3] यद्यपि यह प्रथा आर्यों में प्रचलित थी, परन्तु यह एक सामान्य प्रथा नहीं थी क्योंकि इसके उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। डा० अल्टेकर इसे नहीं के बराबर मानते हैं। उनका कथन है कि—'हिन्दू समाज वास्तव में बहु-पति विवाह प्रथा से अपरिचित रहा है।[4] बहु-पति विवाह के संकेत ऋग्वेद में अत्यन्त अल्प हैं। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ऋग्वैदिक आर्यों में यह विवाह अमान्य था।

एक ऋचा[5] में अश्विनों को एक स्त्री के साथ रहते हुए दिखाया गया है। कुछ लोग इसे बहुपति विवाह मानते हैं, किन्तु इस विषय में श्री ए० सी० दास का मत इससे भिन्न है उनके अनुसार सम्भवतः वह स्त्री वेश्या रही होगी और पुरुष उसके उपपति होंगे।[6]

एतद्विवाह सम्बन्धी उद्धरण अधिकांशतः देवों के हैं वे समूह रूप में एक ही स्त्री के पति कहे गये हैं। प्रथम मण्डल की एक ऋचा[7] में कहा गया है कि मित्रता की इच्छा करने वाली, विजय से प्राप्त करने योग्य स्त्री अश्विनी देवों (दोनों) से पतित्व की कामना करने वाली उन दोनों को पति के रूप में स्वीकार

---

१ सूर्यकान्त वैदिक कोश द्रष्टव्य महिषी' शब्द पर यथास्थान व्याख्या।

२ प्रातिरतं जाहुषस्यायुर्दस्रादित् पतिमकृणुतं कनीनाम्। ऋग्वेद १।११६।१०।

३ डा० कापडिया दी मरिज एण्ड फैमीली इन इण्डिया (१९५९) पृ० ५२।

४ डा० ए० एस० अल्टेकर दी पोजीशन आफ वीमैन इन हिन्दू सिविलाइजेशन, पृ० ११२।

५ त्रिभिर्ह्य चरत एकया सह प्र प्रवासेव वसतः। ऋग्वेद ८।२९।८।

६ ए० सी० दास ऋग्वैदिक कल्चर पृ०, १०४।

७ आ वां पतित्वं सख्याय जग्मुषी योषावृणीत जेन्या युवां पती। ऋग्वेद १।११९।५।

कर चुकी है। अन्यत्र[1] वीर मरुतो की नित्य सहवास मे रहती हुई, बलशाली, नवयौवना स्वपत्नी का उल्लेख प्राप्त होता है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि बहु पति-विवाह ऋग्वैदिक काल मे सामान्य जन मे अत्यल्प रूप से प्रचलित था। ऋग्वैदिक ऐसे अनेक प्रसंग मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि एक देवी के अनेक पति थे परन्तु मानवीय स्त्रियो के अनेक पतियों के सन्दर्भ प्राप्त नहीं होते।

(इ) विधवा-विवाह—विधवा की दुर्दशा का वर्णन ऋग्वेद मे नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि विधवा का पुनर्विवाह उस समय की इच्छा पर निर्भर होता था। वह अपनी इच्छानुसार अपने मृत पति के भाई से विवाह कर सकती थी।[2] विधवा स्त्री अपने देवर के साथ कितने समय तक उसकी पत्नी के रूप मे रहती थी अथवा पुनर्विवाह का प्रयोजन केवल मात्र सन्तानोत्पत्ति ही था एवं सन्तानोत्पत्ति के पश्चात् उनके यौन सम्बन्ध रहते थे अथवा नहीं, ये सब स्पष्ट नही है। हाँ यह अवश्य प्रतीत होता है कि समाज सम्भवत प्रजननयोग्या विधवाओं को अपने मे अन्तर्निहित कर लेता था इसका एक मात्र माध्यम विधवा का पुनर्विवाह था। पुत्रोत्पत्ति के लिये व्यग्रता उस समय विविध स्थलों पर दर्शनीय है। विवाह सूक्त मे वधू को दशपुत्रवती होने का उल्लेख है[3] इसलिये मृत पति के भाई से विधवा के विवाह की सम्भावना उपयुक्त प्रतीत होती है।

अन्त्येष्टि सूक्त की एक ऋचा का उत्तरार्द्ध विधवा विवाह का पोषक माना जाता है। प्रस्तुत ऋचा म 'हस्त ग्राभस्य', 'दिधिषो' और 'पत्यु' षष्ठयन्त शब्द नये भावी पति का संकेत करते हैं। सायणाचार्य न दिधिषु का अर्थ विधवा के प्रति विवाह का प्रस्ताव किया है[5] किन्तु प्रो० काण (हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र मे) आश्वलायन गृह्यसूत्र और बृहद्देवता उक्त ऋचा मे हस्तग्राभ का अर्थ मृत पति की चिता से विधवा को उठाना मात्र करते हैं[6] विवाह का प्रस्ताव नही। इस प्रकार विधवा के प्रति देवर के विवाह प्रस्ताव का संकेत इस ऋचा मे संदिग्ध ही है।

डा० अल्टेकर विधवा विवाह के सम्बन्ध मे लिखते हैं—वैदिक साहित्य मे विधवाओ के नियमित पुनर्विवाह के उदाहरण बहुत कम हैं क्योंकि इस समय

---

१ आस्थापयन्त युवतिं युवानः शुभे निमिश्लां विदथेषु पज्राम्। ऋग्वेद १।१६७।६।

२ को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ।
वही १०।४०।२।

३ ऋग्वेद १०।८५।४५।

४ हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ। वही, १०।१८।८।

५ द्रष्टव्य प्रस्तुत ऋचा पर सायण भाष्य।

६ डा० शिवराज शास्त्री ऋ० पा० सं० पृ० ३७५ पर उद्धृत।

पुनर्विवाह की अपेक्षा 'नियोग' अधिक प्रचलित था ।[1] डा० ए० सी० दास के अनुसार विधवा-विवाह ऋग्वैदिक काल में प्रचलन में नहीं था । उन्होंने उस समय इसका अस्तित्व ही स्वीकार नहीं किया है । इसे स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि 'विवाह ऋग्वेद में युवावस्था में होते थे, इसलिये वैधव्य की सम्भावना अल्प आयु में कम थी और वैधव्य वृद्धावस्था में पुनर्विवाह की अपेक्षा नहीं रखता था ।'[2]

सम्पूर्ण विवरण से यह स्पष्ट होता है कि ऋग्वेद विधवा-विवाह से अपरिचित नहीं था । विधवाओं का स्तर ऋग्वैदिक काल में अन्य कालों से अपेक्षाकृत उच्च है । विधवा विवाह अथर्ववेद के समय में बहुत प्रचलित था । अथर्ववेद के एक[3] मंत्र से यह स्पष्ट होता है कि विधवा नये पति के साथ सन्तान और धन प्राप्त करती थी । विधवा-विवाह का स्मृतियों मे अधिक उल्लेख है । मनु[4] ने स्वयं अक्षतयोनि बाल विधवा के पुनर्विवाह का उल्लेख किया है ।

किसी घटना का आत्यन्तिक अभाव किसी भी काल में नहीं माना जा सकता । यह निर्विवाद सत्य है कि ऋग्वैदिक काल सतयुग की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करता है । मनुष्य दीर्घायु होता था, अतएव स्त्रियाँ भी वैधव्य को कम ही प्राप्त करती थीं । यदि वे वैधव्य प्राप्त करती भी थीं, तो उनके विवाह की सम्भावना उपर्युक्त आधार पर की जा सकती है ।

(ई) अन्तर्जातीय विवाह

जाति प्रथा वर्तमान समय की भाँति ऋग्वैदिक काल में भी विद्यमान थी । ऋग्वेद मे प्राप्त ब्राह्मणों के वर्णन से ज्ञात होता है कि ब्राह्मणों का समाज मे पृथक स्थान था । विवाह सूक्त मे वधू के वस्त्रों को ब्राह्मण को देने का विधान है ।[5]

ऋग्वेद कहीं भी अन्तर्जातीय विवाह का निषेध नहीं करता । ऐसा कोई पुष्ट प्रमाण ऋग्वैदिक संहिता मे प्राप्त नहीं होता जिससे यह कहा जा सके कि ऋग्वैदिक आर्य विवाह के नियमित प्रकारो के विषय में कोई विशिष्ट नियमावली रखते थे जिसके अनुसार ऋग्वेद में अनुलोम और प्रतिलोम विवाह की सिद्धि की जा सके । वस्तुतः जब निम्न वर्ण, जाति, उपजाति अथवा कुल की लड़की का विवाह उसी के समान अथवा उच्चवर्णों के कुल में किया जाए तब ऐसे विवाह को अनुलोम विवाह कहते हैं जब उच्च कुल, जाति अथवा वर्ण की लड़की का निम्न

१ डा० ए० एस० अ टेकर दी पोजीशन आफ दी वीमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन पृ० १५१ ।

२ ए० सी० दास ऋग्वैदिक कल्चर, पृ० ४२६-४३२ ।

३ अथर्व०, १८।३।१ ।

४ मनु० ९।१६६ ।

५ परा देहि शामुल्यं ब्रह्मभ्यो वि भजा वसु । ऋग्वेद १०।८५।२९ ।

कुल, जाति या वर्ण के लड़के से विवाह होता है तब वह प्रतिलोम विवाह कहलाता है। इन दोनों प्रकार के विवाहों का प्रचलन ऋग्वेद में पाया गया है।

च्यवन[1] श्यावाश्व[2] कक्षीवान्[3] तथा विमद[4], अन्तर्जातीय विवाह के अनुलोम' प्रकार को पुष्ट करते हैं। इन ब्राह्मण ऋषि अथवा ऋषि-पुत्रों ने क्षत्रिय राजाओं की कन्याओं से विवाह किया। ब्राह्मणों को अन्य वर्णों की कन्याओं के लिये अथर्ववेद में सर्वोत्तम पति स्वीकार किया गया है।[5]

कतिपय अन्य ऋग्वैदिक उदाहरण विवाह के प्रतिलोम' प्रकार को पुष्ट करते हैं जिससे यह ज्ञात होता है कि ऋग्वेद विवाह के इस प्रकार को मान्यता प्रदान करता था। ऋषि अंगिरस की पुत्री सरस्वती का विवाह राजा असंग से हुआ था।[6] भव्य के सुपुत्र राजा भावयव्य का विवाह भी एक ब्राह्मण कन्या के साथ ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १२६ वें सूक्त मे वर्णित है। नहुष के पुत्र ययाति का विवाह पौराणिक काल में ऋषि शुक्राचार्य की पुत्री से वर्णित है। ऋग्वेद[7] मे केवल ययाति और कन्या के पिता का नाम वर्णित है। उसका सम्पूर्ण आख्यान पुराणो से ज्ञात होता है। यह विवाह भी अन्तर्जातीय विवाह के प्रतिलोम प्रकार की कोटि मे रखा जा सकता है।

इस विवेचन से यह ज्ञात होता है कि अन्तर्जातीय विवाह को ऋग्वैदिक काल मे बुरा नहीं माना जाता था। कुछ सन्दर्भ तो ऋग्वेद मे ऐसे भी मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि आर्यों का विवाह दास एवं दस्युओ की कन्याओ से भी होता था।[8] ऋग्वैदिक आर्यों की माताओ का उल्लेख दास माताओं के रूप मे भी प्राप्त होता है। प्रस्तुत समग्र उदाहरण ऋग्वैदिक काल मे अन्तर्जातीय विवाह की मान्यता को पुष्ट करते हैं।

५ ऋग्वेद में अन्त्येष्टिक पद्धति

अन्त्येष्टि क्रिया से सम्बद्ध कोई प्राग्वैदिक विधान हमे प्राप्त नहीं होता है। पुरातत्त्व के नवीन अनुसंधानों से ज्ञात कतिपय उद्धरण शवो की समुचित व्यवस्था

---

१ ऋग्वेद १।११६।१०, ११७।१३, ११८।६ ५।७४।५ ७।६८।६, ७।७१।५ १०।३९।४।

२ वही ५।५२ ६१ ५।८१ ८२ ८।३५ ३८, ९।३२।

३ वही १।१२६।३ १।५१।१३।

४ वही १।११२।१९ १।११६।१ १।११७।२० १०।३९।७, १०।६५।१२।

५ अथर्व० ५।१७।८ ९।

६ ऋग्वेद ८।१।३४।

७ वही १०।६३।१।

८ वही ६।२७।८, ८।१९।३६।

पर पूर्ण प्रकाश डालने में असमर्थ है। यहाँ केवल शव को गाड़ने का ही संकेत प्राप्त होता है। तदनन्तर ऋग्वैदिक काल आता है।[1] प्रस्तुत प्रसंगानुसार हमारे मन में एक स्वाभाविक जिज्ञासा उठती है कि ऋग्वैदिक काल में शवों की क्या-क्या व्यवस्था थी। कर्ण परम्परा से सुना जाता है कि अति प्राचीन काल में राजाओं अथवा महान् व्यक्तियों के शवों को द्रव्य विशेष के लेप से बहुत दिन तक सुरक्षित रखा जाता था। आज शवों को धरती में गाड़ते हैं अथवा नदी में बहाते हैं और भारत में तो अधिकतर शवों को जलाया जाता है, अतः ऋग्वैदिक स्थिति विचारणीय है।

(अ) शव को सुरक्षित न रखने की प्रथा

अन्त्येष्टि क्रियाओं का प्राचीनतम उल्लेख ऋग्वेद एवं अथर्ववेद में स्पष्ट प्राप्त होता है। शव को घर में सुरक्षित रखने की प्रथा का संकेत मात्र भी ऋग्वेद में प्राप्त नहीं होता। ऋग्वेद में वर्णित समाज अत्युन्नत था। मनुष्य की शव के प्रति धारणा का उल्लेख कई ऋचाओं में उपलब्ध होता है। ऋग्वैदिक लोगों का दृढ़ विश्वास था कि आत्मा मृत्यु के उपरान्त देह से पृथक हो जाती है अतएव उस पार्थिव शरीर को सुरक्षित रखने में कोई लाभ नहीं है। एक ऋचा में अग्नि देव से प्रार्थना की गई है कि वह मृतक के अज भाग को अपने ताप से तपाये। उसकी ज्वालायें और दीप्ति मृतक को तपायें एवं अग्नि की कल्याणकारिणी मूर्तियाँ उसे पुण्यकर्म करने वालों (सुकृतों) के लोक में पहुँचायें[1]।

शरीर से आत्मा के पृथक्करण का उल्लेख दशम मण्डल की तीन ऋचाओं में स्पष्ट रूप से मिलता है।[2] यहाँ एक ऋचा में मृतक को सम्बोधित करते हुए उसी मार्ग से गमन करने को जिससे उसके पूर्वज गये हैं और वहाँ स्वधा से प्रसन्न हुए एक राजा यम और वरुण देवता के दर्शन करने को कहा गया है।[3] इसी प्रकार आठवीं और नवीं ऋचा में भी आत्मा को इस मृत देह से पृथक होकर अपने पितरों के पास जाकर आनन्दमग्न होने का संदेश दिया गया है।

यहाँ आत्मा का आध्यात्मिक रूप प्रस्तुत किया गया है। वस्तुतः मृत शरीर पितरों के पास नहीं जा सकता। ऋक्० १०।१४।४ के सम्बन्ध से अग्नि का उल्लेख हुआ है और उसकी ज्वालाओं से प्रार्थना की गई है कि वह मृतक को जलाये। यहाँ एक अत्यन्त विचारणीय बात यह है कि ऋग्वेद में यज्ञ के सम्बन्ध से सभी देवों का आह्वान किया गया है। अग्नि यज्ञ का देव है अतएव उपर्युक्त प्रसंगों से ज्ञात होता है कि शव सर्वप्रथम अग्नि को समर्पित होता था। यम केवल आत्मा

---

१ अजोभागस्तपसा तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः।
यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं सुकृतामु लोकम्। ऋग्वेद १०।१६।४।

२ वही, १०।१४।७-९।

३ वही १०।१४।७।

का हरण करता था। इस प्रकार शव को सुरक्षित रखने की प्रथा का संकेत ऋग्वेद में अनुपलब्ध नहीं होता।

(आ) नदी में न बहाने की प्रथा

आज शव को नदी अथवा जल में प्रवाहित कर देना भी हिन्दू धर्म में अन्त्येष्टि क्रिया का एक प्रकार माना जाता है। यह शव-विसर्जन का एक अति सरल प्रकार है किन्तु शव-व्यवस्था का यह प्रकार सर्वमान्य प्रकार नहीं है। ऐसा विश्वास है कि दुष्टात्मायें पुन लौटकर जीवित व्यक्तियो को पीडित न करें इसलिये उन्हें जल मे विसर्जित कर दिया जाता है। सम्भवत जल में दुष्टात्माओ को भगा देने का सामर्थ्य इस प्रथा का मूल कारण है।

शव-व्यवस्था की आधुनिक पद्धतियो में शिशुओ को जल में बहा देने की प्रथा विद्यमान है। संन्यासियो अथवा महात्माओ के शव को भी जल-निखात की व्यवस्था प्रदान की जाती है, क्योंकि उनका कोई सम्बन्धी अन्त्येष्टि क्रिया के लिये वर्तमान नही होता। जिन व्यक्तियो की मृत्यु संक्रामक रोगो से होती हैं, उनका अन्तिम संस्कार जल निखात ही है।[1]

(इ) दाह-संस्कार की प्रथा

ऋग्वैदिक आर्य अग्नि को देवताओ का दूत और देवों के प्रति समर्पित हव्यो को उन तक ले जाने वाला मानते हैं।[2] मनुष्यो द्वारा देवों को समर्पित सामग्री ज्यो की त्यो देवों तक बिना किसी दैवी साधन के नही पहुँचायी जा सकती अतएव एक दैवी दूत की आवश्यकता अनुभव हुई और इस निमित्त अग्नि को निश्चित किया गया यही सिद्धान्त मृतक के लिये भी अपनाया गया। मृतक का पार्थिव शरीर अग्नि को समर्पित किया जाने लगा, जिससे मृतक यम-लोक मे एक नवीन शरीर को प्राप्त कर सके और अपने पूर्वजो तथा पितरो से सम्बद्ध हो सके।[3] दाह संस्कार के मूल मे निश्चित रूप से धर्मभाव से ओत प्रोत यही सबलतम धारणा निहित रही होगी। अत यह कहना कि दाह-संस्कार केवल निष्प्राण देह रूप गन्दगी को दूर करने के लिये प्रारम्भ हुआ, कुछ अनुचित ही प्रतीत होता है। इसके विपरीत प्रो० मैक्डॉनल के मतानुसार भूत प्रेत अधिकांशत पृथ्वी में गड़े हुए मृतक की आत्मा से उत्पन्न होते हैं[5] अतएव इससे बचने की धारणा से शव दाह की प्रथा का प्रचार एवं प्रसार हुआ।

---

१ ई० एस० हार्टलण्ड इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड इथिक्स, भाग ४ पृ० २४१।

२ डा० राजबली पाण्डेय हिन्दू संस्कार, पृ० ३०३।

३ ऋग्वेद १।६०।१, १०।१२।३।

४ वही १०।१४।८।

५ ए० ए० मैक्डॉनल वैदिक माइथोलोजी, पृ० ७०।

(ख) दाह-संस्कार-प्रक्रिया

ऐसा प्रतीत होता है कि मृत शरीर को उसके सम्बन्धियों एवं मित्रों द्वारा श्मशान-भूमि में ले जाया जाता था तथा मृतक की विधवा एवं अन्य सधवा नारियाँ उसको साथ देती थीं। तदनन्तर संस्कार को करने वाला पुरुष मृत्यु को सम्बोधित करके उसे देवयान मार्ग से जाने के लिये और अपने जीवित सम्बन्धियों को किसी प्रकार की हानि न पहुँचाने के लिये कहता था। पुनः मृतक के कुटुम्बियों के लिये समृद्धि और सम्पन्नता की शुभकामना की जाती थी।[1] तदनन्तर मृतक का भाई विधवा स्त्री को सान्त्वनापूर्ण वचन कहकर उसे अपना पत्नीत्व स्वीकार करने का आग्रह करता था।[2] विधवा को हाथ से पकड़ कर उठा लिये जाने के बाद अग्नि-संस्कार प्रारम्भ होने पर मृतक से वह शरीर त्याग कर तेजस्वी शरीर को धारण करने की प्रार्थना की गई है।[3] सम्भवतः श्मशान भूमि में पिशाच आकर बाधक बनते थे, इसीलिये पिशाचों को सम्बोधित करके उनसे दूर जाने की अभ्यर्थना की जाती थी। एक ऋचा में कहा गया है कि—'श्मशान के पिशाचो! यह स्थान पितरों ने मृत के लिये निश्चित किया है अतएव यहाँ से दूर जाओ। राजा यम ने यह स्थान मृतक के लिये निश्चित किया है तथा यह जल दिवस और रात्रि से युक्त है।'[4] प्रस्तुत ऋचा में प्रयुक्त 'अद्भिः' शब्द से यह सूचित होता है कि सम्भवतः श्मशान भूमि नदी के तट पर स्थित होती थी। आगे मृतक को यम के दूत रूप दो कुत्तों से बच कर अपने पितरों के पास जाने का उल्लेख है।[5] समस्त पितरों और अग्नि देव का आह्वान किया गया है। दाह संस्कार को एक यज्ञ मानकर उनसे स्वधायुक्त हवि ग्रहण करने का आग्रह किया गया है।[6] कतिपय विद्वानों का मत है कि दाह-संस्कार मे पितरो तथा अग्नि को एक मृत गौ अथवा बकरी समर्पित की जाती थी, जो उनका भोज्य होता था। श्री रागोजिन[7] ने इस पदार्थ को बकरी तथा प्रो० ए० सी० दास[8] ने इसे गाय कहा है जो शीघ्र मारकर मृतक पर डाली जाती थी। इन विद्वानों के मत से इस प्रथा का मुख्य कारण पितरों और अग्नि को तृप्त करना था। दाह-संस्कार करते समय अग्नि को तृप्त करन का विधान था। तदर्थ स्वाहा और स्वधा अग्नि को अर्पित की जाती थी और अग्नि से मृतक को कष्ट न देने की

---

१ ऋग्वेद १०।१८।१६।
२ वही, १०।१८।८।
३ वही १०।१४।७-८।
४ वही १०।१४।९।
५ वही, १०।१४।१०।
६ वही, १०।१४।१६, १३-१६।
७ जैद ए० रागोजिन वैदिक इंडिया, पृ० ४१७।
८ ए० सी० दास ऋग्वैदिक कल्चर, पृ० ४१७।

प्रार्थना की जाती थी। यहाँ रागोजिन और ए० सी० दास के मत उचित प्रतीत नहीं होते, क्योंकि द्रव्य के लिए समर्पित पदार्थ में कहीं भी स्पष्ट रूप से किसी जीव (भेड़ अथवा बकरी) का वर्णन नहीं है केवल द्रव्य का वर्णन मिलता है।

एक ऋचा[1] में मृतक के विभिन्न अंगों का विलय प्रकृति के विभिन्न अवयवों में अर्पित किया गया है। श्वास वायु मे नेत्र सूर्य में और उसके शरीर के अंश का वनस्पति में व्याप्त होने का वर्णन है।[2] पुन एक अन्य ऋचा मे अग्नि से प्रार्थना की गई है कि वह अपने ताप से मृतक के अजो भाग को तपाये।[3] सम्भवत यहाँ अजोभाग से तात्पर्य आत्मा से है। मनुष्य के इस अजो भाग को जलाने की अपेक्षा अग्नि देव से तपाकर शुद्ध करने और पुण्य लोक में पहुँचाने की प्रार्थना की गई है। सायण ने 'तपस्व' का अर्थ 'तप्तकुरु' तथा द्वितीय पाद मे तपतु का अर्थ 'संस्करोतु' किया है। सायण ने प्रस्तुत ऋचा पर भाष्य करते हुए लिखा है— 'अज जननरहित शरीरेन्द्रियादिभागव्यतिरिक्तोऽन्तरपुरुषलक्षणो य भाग अस्ति।'[4] विद्वानों ने अजोभाग पद मे अज का अर्थ भिन्न भिन्न किया है। ग्रिफिथ ने अज का अर्थ 'बकरा (गोट) किया है।[5] यहाँ ग्रिफिथ का अर्थ प्रसगानुकूल प्रतीत नहीं होता, सायणकृत अर्थ अधिक उपयुक्त और युक्तिसंगत है। इस प्रकार अग्निदेव से मृतक के अजो भाग को तपाने और अपनी कल्याण मयी विभूतियो से पुण्यलोक की प्राप्ति कराने की प्रार्थना की गई है।

अन्यत्र अग्नि को सम्बोधित करके कहा गया है कि उसने जिसको दग्ध किया उसे शान्त करे और वहा धास एव जल व्याप्त हो।[6] इससे यह प्रतीत होता है कि शवदाह के पश्चात् सम्भवत उस पर जल छिड़का जाता था और मगल कामना की जाती थी। तदनन्तर सभी सम्बन्धी जन घर लौट आते थे। एक ऋचा[7] मे सधवा नारियो के अश्रुओ को त्याग कर घर लौट जाने का वर्णन मिलता है। प्रो० रगोजिन[8] यह अर्थ स्वीकार करते हैं कि सधवा नारियाँ जो माताय भी हैं वे आसुओं एव मनोमालिन्य से रहित होकर मृतक के ऊपर घी छिड़कती

---

१ ऋग्वेद १०।१६।१-२।

२ ऋग्वेद १०।१६।३।

३ अजोभागस्तपसा त तपस्व त ते शोचिस्तपतु त ते अर्चि । वही १०।१६।४।

४ द्रष्टव्य प्रस्तुत ऋचा पर सायण भाष्य।

५ द्रष्टव्य प्रस्तुत ऋचा पर ग्रिफिथकृत व्याख्या।

६ य त्वमग्ने समदहस्तमु निर्वापया पुन ।
कियाम्ब्वत्र रोहतु पाकदूर्वा व्यल्कशा। ऋग्वेद १०।१६।१३।

७ इमा नारीरविधवा सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा स विशन्तु।
अनश्रवोऽनमीवा सुरत्ना आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे ॥ वही, १०।१८।७।

८ प्रो० ए० रागोजिन वैदिक इण्डिया, पृ० ३५२।

है, किन्तु सायण[1] के अनुसार इसका भिन्न अर्थ किया गया है। उनकी व्याख्या के अनुसार प्रस्तुत ऋचा का भाव है—सुन्दर पति वाली सधवा नारियाँ घृतयुक्त काजल लगाती हुई अपने गृह को प्राप्त हों। ये नारियाँ अश्रुओं को त्याग कर, मनोविकार को दूर करती हुई सुन्दर ऐश्वर्य वाली होकर सबसे आगे चलती हुई अपने घरों को प्राप्त करें।" प्रस्तुत अर्थ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि दाह-संस्कार समाप्त हो जाने पर स्त्रियों का घर लौट जाना स्वाभाविक ही है।

अन्तत दशम-मण्डल की कतिपय ऋचायें[2] अत्यन्त विवादास्पद हैं। बहुत से विद्वान् उक्त ऋचाओं में व्यक्ति को पृथ्वी में गाड़ने का वर्णन स्वीकार करते हैं। श्री ए० सी० दास[3] शव को पृथ्वी मे गाड़ने की प्रथा का अनुमोदन करते हैं और उक्त ऋचाओं को भू-निखात-प्रथा की परिपोषक स्वीकार करते हैं। प्रो० राजोजिन[4] भी इसी मत से पूर्णतया सहमत हैं किन्तु आश्वलायन गृह्यसूत्र पर आधारित सायण का मत इसके विपरीत है।[5] तदनुसार ऋचाओं का उच्चारण मृतक व्यक्ति के लिए नहीं होता था अपितु दाह-सस्कार किये जा चुके व्यक्ति के अस्थि-अवशेषों को एक पात्र में रखकर गाड़ते समय किया जाता था। सायण का यह मत दो कारणों से स्वीकार्य नहीं माना गया, जिनका वर्णन आगे विस्तार से किया जा रहा है।

(ख) शव को गाड़ने की प्रथा के परिपोषक और उद्बोधक तथ्य

शव के भू निखात प्रथा के परिपोषक विद्वान् सायण के मत को अस्वीकार करते हुए अपना मत प्रस्तुत करते हैं—

(१) मृतक का दाह-सस्कार करते समय मृतक को आकाश के उच्चतम स्थानो मे भेजने के लिये अग्निदेव से यह प्रार्थना की गई है कि वह मृतक को पितरों के पास पहुँचा दे।[6] एक अन्य ऋचा मे मृतक से यह कहा गया है कि विद्वानों और पशुओ को विनाश से बचाने वाला और समस्त प्राणियों का रक्षक पूषन देव उसे इस लोक से उत्तम लोक की ओर ले जाये। वह पूषन् मृतक को पितरो को दे दे और अग्नि उत्तम धन वाले देवताओ को प्रदान कर दे।[7]

यहाँ सायण ने 'पितर एव देव शब्दों से उनके लोकों का अभिप्राय ग्रहण

---

१ द्रष्टव्य प्रस्तुत ऋचा पर सायण-भाष्य।

२ ऋग्वेद १०।१८।१० १३।

३ ए० सी० दास ऋग्वैदिक कल्चर पृ० ४०८।

४ जैड ए० रागोजिन, वैदिक इंडिया पृ० ३५० ३२५।

५ आश्वलायन गृह्यसूत्र ४।५१।

६ शृतं यदा करसि जातवेदोऽथेमेनं परि दत्तात्पितृभ्य ऋग्वेद १०।१६।२।

७ पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्र विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपा।
स त्वैतेभ्य परि ददत्पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्य सुविदत्रियेभ्य। वही, १०।१७।३।

किया है ।[1] इस सम्बन्ध में विचारणीय बात यह है कि यदि मृतक का दाह पहले ही किया जा चुका होता और पहले ही वह स्वर्गस्थ बनाया जा चुका होता, तब उसे पुन उसके अस्थि-अवशेषों को गाड़ने के समय 'उप सर्प मातरं भूमिमेतामुरु-व्यचसं पृथिवीं सुशेवाम्' ऐसा क्यों कहा जाता है ? इसलिये सायण का यह मत विरुद्ध प्रतीत होता है क्योंकि इस अर्थ की सगति प्रचलित प्रथा के विरुद्ध है ।

वस्तुत दाह-संस्कार पहले ही किया जा चुका है और उक्त ऋचा का पाठ अस्थि-संचयन के समय कदापि अनुपयुक्त प्रतीत नहीं होता, क्योंकि शरीरपात के उपरांत शरीर अपने अपने कारण-पदार्थों में लीन हो जाता है। पंच-तत्वों मे समा-हित हो जाता है । उक्त ऋचायें दाह के उपरान्त अवशिष्ट अस्थि पंजर को पृथ्वी की शरण में जाने के लिये कही गई है क्योंकि पृथ्वी के अवयवभूत अस्थि अवशेष दाह के उपरान्त भी अपने कारण-पदार्थ मे लीन नही होते । अत मृतक के सम्ब-न्धियों का उन अस्थि अवशेषों को गाडते समय उक्त ऋचाओं का पाठ किसी अस्वा-भाविकता को जन्म देता प्रतीत नहीं होता । सबसे अन्त में मृतक के एक मात्र अवशिष्ट चिह्नों को मातृतुल्य आदर योग्य आकाशसम विशाल और सुखदायी पृथिवी माता को समर्पित कर दिया जाता है और उसे अपने मे तिरोहित करने के लिये प्रार्थना नितान्त स्वाभाविक है ।

(२) सायण के मत को स्वीकार करने का दूसरा कारण है कि उक्त ऋचायें[2] भू निखात के अवसर पर शव की उपस्थिति को सूचित करती हैं । क्योंकि यहाँ स्पष्टत मृत व्यक्ति के हाथ से धनुष के पृथक किये जाने का वर्णन है ।[3] प्रति पक्षियों का कथन है कि अस्थि अवशेषो से धनुष नही हटाया जा सकता । यह धारणा उचित प्रतीत नहीं होती क्योंकि नवीं ऋचा को भू निखात के लिये मानी गई ऋचाओं के साथ ही सम्बद्ध करना आवश्यक नहीं है । यह ऋचा मृतक के दाह संस्कार से पूर्व भी नियोजित की जा सकती है ।

इस प्रकार ऋग्वैदिक काल मे हम शव की व्यवस्था के प्रकारो मे भू-निखात को प्रथा को स्वीकार नही कर सकते । सायण का मत ही अधिक सबल प्रतीत होता है जिसके अनुसार शव के दाह संस्कार को एक यज्ञ मानकर सम्पन्न किया जाता था और तदनन्तर अस्थि अवशेषो को पृथ्वी मे गाड दिया जाता था ।

यदि यह स्वीकार किया जाये कि उस समय शव-दाह और भू-निखात दोनो प्रथाओ का प्रचलन था तो उन दोनो पद्धतियो से सम्पन्न किये जाने वाले मृतको में

---

१ तेषां लोके स्थापयितव्यत्वम । वही, १०।१७।३ पर सायण भाष्य ।

२ वही १०।१८।१० ।

३ ऋग्वेद १०।१८।१०-१३ ।

४ वही, १०।१८।९ ।

किसी प्रकार का वैभिन्य वर्णित होना चाहिये था अर्थात् किस पुरुष विशेष का दाह-संस्कार किया जाना चाहिये और किस पुरुष विशेष को भू निखात पद्धति से संस्कृत किया जाए ? यह वर्णित होना चाहिये था किन्तु ऋग्वेद के अनुशीलन से कहीं ऐसे वर्गीकरण का संकेत भी प्राप्त नहीं होता, अत यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ऋग्वैदिक काल में शव के केवल दाह-संस्कार को अभिज्ञान होता है।

६ सती प्रथा

सती-प्रथा स्वय अन्त्येष्टि नहीं है, अपितु अन्त्येष्टि का एक सम्बद्ध अ ग है। पत्नी का पति के साथ चिता में स्वेच्छापूर्वक अथवा किसी समय की सामाजिक प्रथा अथवा बन्धन के कारण जलकर भस्म होना सती' कहलाता है।

ऋग्वैदिक काल में सती प्रथा का अभाव

सती प्रथा का एक भी उदाहरण ऋग्वेद मे नही मिलता। इसके विपरीत इसके अनेक सकेत मिलते है कि ऋग्वैदिक काल मे विधवा स्त्रियों को समाज मे पुनर्विवा१ के द्वारा उचित स्थान दिया जाता था, पर तु कुछ विद्वानों का मत इससे भिन्न है। उनका कथन है कि ऋग्वद मे ऐसा सकेत प्राप्त होता है जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि उस समय मृतक के साथ उसकी विधवा पत्नी और अस्त्र शस्त्र जला दिये जाते थे। आलोचको का यह मत सर्वथा निर्दोष नहीं कहा जा सकता। अन्त्येष्टि सूक्त के अध्ययन से अनेक शकायें शान्त हो जाती हैं। इस सूक्त की एक ऋचा[१] मे कहा गया है कि मृतक के हाथ से उसका धनुष ले लिया जाता है। विधवा स्त्री का देवर मृतक के समीप खडी हुई उसका हाथ पकड कर पाणिग्रहण के लिये आग्रह करता है।

अथर्ववेद स्त्री का अपने पति के साथ सती होने की प्रथा को एक पुरातन प्रथा कहता है[२] किन्तु हमे ऋग्वेद मे यह प्रथा लुप्तप्राय ही प्रतीत होती है। उपयु क्त म त्र[३] के आधार पर यह माना जा सकता है कि सम्भवत ऋग्वैदिक आर्यों से पूर्व यह प्रथा प्रचलन मे रही हो।

लार्ड विलियम बेंटिंग के समय जब सती प्रथा के निरोध के लिए अत्यधिक वाद-विवाद चल रहा था उस समय ब्राह्मणो ने इस प्रथा को ऋग्वैदिक प्रथा सिद्ध करने का प्रयास किया था। उन्होंने इस प्रथा को प्रामाणित करने के लिए उक्त ऋचा[४] मे प्रयुक्त 'योनिमग्रे' शब्द के स्थान पर योनिमग्ने कहकर इस ऋचा को

---

१ ऋग्वेद १०।१८।८।

२ अथर्ववेद १८।३।१।

३ ऋग्वेद १०।१८।८।

४ वही, १०।१८।७।

अपनी इच्छानुसार परिवर्तित कर दिया। इस प्रकार परिवर्तित अर्थ एक अति घणित विचारधारा को पुष्ट करता है। वस्तुतः इसका अर्थ विधवा का अग्नि में प्रवेश करके सती हो जाना कदापि नहीं है।

प्रो० पी० वी० काणे ने 'हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र' में लिखा है कि निश्चित रूप से भारतीय स्त्रियों द्वारा किया गया आत्म त्याग प्रशंसा के योग्य है भले ही लोग उस प्रथा की निन्दा करें।[1] यह प्रथा सामाजिक मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में निन्दनीय है तथापि इसका उद्देश्य और अदम्य साहस निश्चित रूप से सराहना के योग्य है। हिन्दू धर्मशास्त्रों में पति को देवता माना गया है। स्त्रियाँ यदि ऐसे पति के प्रति प्रगाढ़ और अनन्य प्रेम के कारण उसके वियोग को सहन करने में असमर्थ पाकर सती हो जाती थी तो यह उनकी त्यागपूर्ण भावना वास्तव में प्रशंसनीय है किन्तु एक अमूल्य जीवन का अनुचित विनाश सर्वथा निन्दनीय भी है।

१ डा० पी० वी० काणे हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, वोल्यूम २, भाग १, पृ० ६३६।

७. ऋग्वैदिक वेश-भूषा एवं प्रसाधन-सामग्री

१ वेश-भूषा तथा प्रसाधन

भोजन, वस्त्र और मकान, व्यक्ति की तीन भौतिक आवश्यकतायें हैं। ये तीनों वस्तुएं मनुष्य की सभ्यता और संस्कृति पर पर्याप्त प्रकाश डालती हैं। ऋग्वैदिक आर्य इन तीनों आवश्यकताओं से अछूते नहीं थे। जिस समाज के मनुष्यों की सभ्यता और संस्कृति जितनी ऊंची होंगी, उन तीनों वस्तुओं पर स्तर भी उतना ही ऊंचा होगा। ऋग्वेद के अध्ययन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन मनुष्यों की आवश्यकतायें अत्यल्प थीं परन्तु शनै शनै आवश्यक वस्तुओं के स्तर में उन्नति हो रही थी और कुछ आवश्यक वस्तुओं का स्तर समुन्नत हो चुका था। वे यह सब होते हुए भी मानसिक जगत् मे उच्च शिखर पर पहुंच चुके थे। अब हमारी स्वभावत जिज्ञासा होती है कि उन लोगों के ऐसे समाज मे प्रचलित वेश भूषा तथा प्रसाधन की सामग्रियों को जानें। यह अध्याय उन आर्यों के वस्त्र परिधान, परिधान विधि, अलङ्करण केश-सज्जा आदि के विषय मे पर्याप्त प्रकाश डालता है।

ऋग्वैदिक आर्य युद्ध प्रधान होने पर भी अपनी बौद्धिक प्रतिभा के साथ परिमित साधनो सहित एक अन्य समाज के नागरिक बने। यहाँ वेश भूषा से तात्पर्य परिधान अथवा वस्त्र से है। प्रसाधन उन साधनों का नाम है जिनसे बाह्य शारीरिक अगो की साज सज्जा की जाए। आत्म-शृंगार मानव की स्वाभाविक वृत्तियो मे से एक है। यह वृत्ति वस्तुत आत्मरति का ही एक अग है। ऋग्वेद के अध्ययन से ज्ञात होता है कि ऋग्वैदिक आर्यों की वस्त्रों तथा सज्जा के प्रति विशेष रुचि थी। इन दोनो साधनो का विस्तृत विवेचन प्रकृत अध्याय का विवेच्य विषय है।

२ परिधान अथवा वस्त्र

वस्त्र विषयक जानकारी ऋग्वेद मे स्वल्प मात्रा मे उपलब्ध होती है, लेकिन प्राप्त सन्दर्भो के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ऋग्वैदिक आर्य भि न भिन्न प्रकार के वस्त्र धारण करते थे। इस कथन की पुष्टि निम्न प्रमाणों से होती है—

ऋग्वेद की एक ऋचा[1] मे उषा का वर्णन है। उषा को एक हसती हुई नारी के समान अपनी सुन्दरता प्रकट करते हुए प्रदर्शित किया गया है। यहाँ उषा उपमेय है तथा अन्य स्त्री उपमान है। साधारणत काव्यजगत् में प्रसिद्ध उपमान से उपमेय की उपमा दी जाती है। अप्रस्तुत अन्य स्त्री उपमान है। वैदिक कवि उसे उत्तम वस्त्र धारण करके पति के पास जाता हुआ प्रदर्शित करता है—'जायेव

---

१ अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम् ।
जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव नि रिणीते अप्सः । ऋग्वेद १।१२४।७

[illegible] सुवासाः ।[5] यहाँ 'सुवासा' उत्तम वस्त्र के लिये प्रयुक्त हुआ है । इस ऋचा से संकेत होता है कि युवतियाँ ऋग्वैदिक काल में उत्तम चमकदार अथवा [illegible] वस्त्रों से अपने रूप को सजाया करती थीं । एक अन्य ऋचा[2] में शुक्ल वस्त्र का वर्णन मिलता है । यद्यपि इस ऋचा में किसी साधारण मानवीय वस्त्र का वर्णन नहीं है । यहाँ 'धी:' के सम्बन्ध में 'वस्त्राव्यर्जुना' का प्रयोग हुआ है । सायणाचार्य ने इसका अर्थ 'शुक्लवर्णानि वस्त्राणि' किया है ।[3] वस्तुत लोक मे प्रचलित शुक्ल वस्त्र के बिना इसकी कल्पना साकार नहीं होगी, अतएव इससे लोक में शुक्ल-वस्त्र पहनने का संकेत मिलता है ।

अष्टम मडल[4] मे वधू को वस्त्रो से भली प्रकार ढका हुआ वर्णित करके उसे यजमान के लिये उपमानरूप मे प्रतिष्ठित किया गया है । प्रस्तुत ऋचा मे स्पष्ट किया गया है कि जिस तरह नववधू कपडों मे अच्छी तरह लिपटी हुई होती है उसी प्रकार जो लोग (यजमान) यज्ञो से पूर्णतया ढके होते हैं अर्थात् जो उत्तम कर्मों से युक्त हाते है उन्हे अश्विनी देव अच्छी दशा मे रखते है । यहाँ किसी विशेष प्रकार के वस्त्र का वर्णन नही है अपितु एक नववधू को सामान्य रूप से वस्त्र से ढका हुआ कहा गया है । दशम मण्डल[5] में नववधू को पुन सुन्दर आवरक वस्त्रो से सुसज्जित दिखाया है । इसी प्रकार एक अन्य ऋचा मे एक सुन्दर स्त्री का उल्लेख प्राप्त होता है ।[6]

ऋग्वेद की एक ऋचा[7] मे शालीन स्त्री को उपदेश दिया गया है कि वह उद्धत भाव का परित्याग कर लज्जा का आचरण करे । चलते समय छोटे-छोटे डग भरे तथा अपने सभी अवयवो को ढके रखे । हम इस सन्दर्भ से इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि ऋग्वैदिक काल मे स्त्रियाँ अपने अवयवो को वस्त्रो से ढककर रखती थी । यहाँ तक कि स्त्रिया के पर भी वस्त्रो से ढके होते थे । सम्भव है कि स्त्रियाँ घर से बाहर निकलने पर किसी लम्बे चौडे वस्त्र का प्रयोग करती रही हों जिनसे

---

१ ऋग्वेद १।१२४।७ ।

२ भद्रा वस्त्राण्यर्जुना वसाना सेयमस्मे सनजा पित्र्या धी । वही, ३।३९।२

३ द्रष्टव्य प्रस्तुत ऋचा पर सायण भाष्य ।

४ यो वां यज्ञ भिरावृतोऽधिवस्त्रा वधूरिव । सपर्यन्ता शुभे चक्राते अश्विना ।

ऋग्वेद ८।२६।१३

५ भोजा जिग्यु सुरभिं योनिमग्रे भोजा जिग्युर्वध्वं या सुवासा ।

वही १०।१०७।९

६ उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासा । वही, १०।७१।४

७ अधः पश्यस्व मोपरि सतरा पादकौ हर ।

मा ते कशप्लकौ दृशन् स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ । वही, ८।३३।१९

न केवल शरीर अपितु सावयव पैर भी ढका रहता था।

उपर्युक्त सन्दर्भों से ऋग्वैदिक काल में वस्त्रों के समाज में प्रचलन के पर्याप्त संकेत मिलते हैं। इसके अतिरिक्त इसका भी संकेत मिलता है कि मनुष्य कभी-कभी अपने पशुओं को भी वस्त्रों से आवेष्ठित करते थे।[1] सम्भवतः अश्व को वस्त्र उढ़ाने तथा अलंकरणों से सजाने की प्रथा थी। स्तुतियों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि भक्त अपने आराध्य देवों को कभी-कभी वस्त्र से आवेष्ठित करता था अथवा वस्त्र से आवेष्ठित उनकी मानसिक कल्पना थी।

(अ) वस्त्र बनाने की सामग्री

परिधान के प्रकार एवं उसकी विधि को जानने से पूर्व यह जानना अतीव आवश्यक है कि ऋग्वैदिक लोगों के वस्त्र किस सामग्री द्वारा बनाये जाते थे। ऋग्वैदिक स्रोतों से ज्ञात होता है कि वस्त्र चर्म, ऊन अथवा सूत से बनते थे।

(क) त्वचा—मनुष्य ने अपने रहन-सहन की दशा में शनैः शनैः प्रगति प्राप्त की इतिहास इस बात का साक्षी है। मनुष्य सभ्यता की आदिम अवस्था मे नग्न रहता था परन्तु धीरे धीरे पशुओं को मारकर उनकी खालों से अपने शरीर को ढकने लगा। कुशा आदि को भी वस्त्रों के रूप मे प्रयोग करने लगा। उसने सूत ऊन रेशम आदि का प्रयोग करना सभ्यता की विकसित अवस्था मे सीखा। इस प्रकार धीरे धीरे वस्त्रो के बनाने की अन्य सामग्री समुपलब्ध होने पर भी चर्म के प्रति व्यक्ति की अभिरुचि विभिन्न कालों मे देखने मे आती है। मुनिगण ऋग्वेद मे त्वचा निर्मित वस्त्रो को धारण करते हुए प्रदर्शित किये गये हैं। एक ऋचा[2] मे मुनि चर्म परिधान से वेष्ठित प्रतीत होते हैं। प्रस्तुत ऋचा मे 'पिशङ्गा वसते मला' का अर्थ सायणाचार्य के अनुसार 'पिशङ्गा पिशङ्गानि कपिलवर्णानि मला मलिनानि वल्कलरूपाणि वासांसि वसते आच्छादयन्ति'[3] है अर्थात् मुनि लोग मलिन वल्कल वस्त्रो को धारण करते थे। सेंट पीटर्सबर्ग कोश इसे 'चर्म परिधान' के अर्थ में ग्रहण करता है। वैदिक कोश में भी 'मल' शब्द मुनियो के परिधान' अर्थ में ग्रहण किया है।[4] वैदिकेतर काल में तो अजिन आदि वस्त्रो का प्रयोग व्यवहार मे होता ही था। अभिज्ञान-शाकुन्तल इसका प्रमाण है। मुनि कण्व के आश्रम मे ऋषियो के गीले वस्त्रों की धारायें वल्कलों से मार्गों को रेखांकित करती हुई मिलती है।[5]

---

१ अद्रवाय वास उपस्तृणन्त्यधीवासं या हिरण्यान्यस्मै। ऋग्वेद १।१६२।१६

२ मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मला। वही, १०।१३६।२

३ द्रष्टव्य प्रस्तुत ऋचा पर सायण भाष्य।

४ द्रष्टव्य-सूर्यकान्त-वैदिक-कोश, यथा स्थान व्याख्या।

५ तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यन्दरेखाङ्किता। अभि० शा० १।१३

सम्भव है ऋग्वैदिक ऋषि-स्त्रियाँ भी वल्कल अथवा पशु चर्म को धारण करती थीं अथवा ऋषियों की कुटियों में निवास करने वाली स्त्रियाँ भी पशु चर्म से निर्मित वस्त्र का प्रयोग करती थीं।

(ख) ऊन—ऊर्णा अर्थात् भेड़ की ऊन ऋग्वैदिक काल में वस्त्र बनाने की अतीव महत्त्वपूर्ण सामग्री थी। ऊनी वस्त्र सप्त सिन्धव के शीत प्रधान भाग में और सूत से बने वस्त्र इतर भागों में पहनने की प्रथा थी। सामान्यतः यह समझा जाता है कि ऋग्वैदिक आर्य इन्हीं सप्त सिन्धव तथा गंगा यमुना के मैदानों में निवास करते थे अतएव वे निःसन्देह तथाकथित वस्त्रों को पहनते रहे होंगे।

ऋग्वेद के पंचम मण्डल के ५२ वें सूक्त के देवता मरुद्गण हैं। मरुद् पराक्रमी और वीर माने गये हैं। प्रकृत सूक्त ऐसे वीर मरुतों की प्रशंसा करता है जो वीर परुष्णी नदी में पवित्र होकर ऊनी वस्त्र पहनते हैं,[1] तथा रथों और अपने बल से पहाड़ों को भी गिरा डालते हैं। यह वर्णन दैवी है। अतएव इस वर्णन को लौकिक नहीं माना जा सकता, परन्तु इस वर्णन से यह ध्वनित होता है कि सम्भवतः वीर युद्ध में जाने के पूर्व कभी कभी ऊनी वस्त्र धारण करते रहे हों। उर्णा का उल्लेख एक अन्य ऋचा[2] में इन्द्र के सम्बन्ध से हुआ है। भेड़ के ऊन[3] को बुनकर वस्त्र बनाने का उल्लेख प्राप्त होता है।[4] ऋग्वेद के दशम मण्डल में ८५ वें सूक्त की एक ऋचा[5] में 'शामुल्य' का वर्णन प्राप्त होता है। यहाँ शामुल्य एक वस्त्र है, जिसे नववधू वैवाहिक संस्कार के समय पहनती थी। व्याख्याकारों के अर्थों से संकेत मिलता है कि वधू के उस वस्त्र को बाद में ब्राह्मण को दे दिया जाता था। ग्रिफिथ ने 'शामुल्य' का अर्थ ऊनी वस्त्र किया है।[6] सायणाचार्य ने इसका अर्थ 'धारक वस्त्र' किया है।[7] ऐसा ज्ञात पड़ता है कि यह वस्त्र ऊन का बनता था और विवाह के पश्चात् उसे ब्राह्मण को दे दिया जाता था।

ऋग्वेद में केवल वस्त्रों के पहनने के ही संकेत नहीं मिलते अपितु इस बात के प्रबल प्रमाण मिलते हैं कि ऊन स्थान-स्थान पर उपलब्ध होता था। ऊन का अधिक प्रचलन था अतएव लोग भेड़ें और बकरियाँ पालते थे। गान्धार प्रदेश

---

१ उत स्म ते परुष्ण्यामूर्णा वसत शुन्ध्यव ।
उत पव्या रथानामद्रिं भिन्दन्त्योजसा ॥ ऋग्वेद ५।५२।९

२ श्रिये परुष्णीमुषमाण ऊर्णां यस्याः पर्वाणि सख्याय विव्ये । वही, ४।२२।२

३ वासोवायोऽवीनामा वासांसि मर्मृजत् । वही १०।२६।६

४ द्रष्टव्य १०।२६।६ ऋचा पर ग्रिफिथकृत भाष्य ।

५ परा देहि शामुल्यं ब्रह्मभ्यो वि भजा वसु । ऋग्वेद १०।८५।२९

६ द्रष्टव्य प्रस्तुत ऋचा पर ग्रिफिथकृत भाष्य ।

७ द्रष्टव्य प्रस्तुत ऋचा पर सायणकृत भाष्य ।

अपनी रोएँदार भेड़ों के लिये सुप्रसिद्ध था,[१] क्योंकि यहाँ की [illegible] उत्तम भेड़ें होती थीं।

ऊन का उल्लेख ऋग्वेद में सभी भेड़ों और बकरियों के ऊन के लिये मिलता है, परन्तु कुछ स्थलों पर ऊन का उल्लेख मादा भेड़ और[२] बकरी[३] के लिये हुआ है। सम्भव है कि इनका ऊन नर-भेड़ तथा बकरे की अपेक्षा कोमल होता था और लोग उसे अधिक पसन्द करते थे। यह भी सम्भव है कि प्रसंगवश उनका वर्णन कर दिया हो, परन्तु प्रचलन सामान्य रूप से सबका रहा हो।

ऋग्वेद मे प्राप्त प्रसगो से ज्ञात होता है कि वस्त्र अधिकतर ऊन से बनते थे। यह सत्य भी जान पड़ता है क्योंकि आर्य लोग शीत प्रधान स्थान में निवास कर रहे थे। ऊन से वस्त्र अधिकाधिक मात्रा में इसलिए बनते थे, क्योंकि वह अधिक कोमल और गर्म होता है। 'ऊर्णम्रदा' शब्द ऋग्वेद में ऊन तथा उसकी कोमलता को व्यक्त करने के लिये प्रयुक्त किया गया है।[४] सायणाचार्य[५] और ग्रिफिथ[६] के अनुसार इसी अर्थ की प्रतीति होती है। ऋग्वेद में भेड़ के लिये 'अवि'[७] और उरा[८] शब्द का प्रयोग किया गया है। भेड़िया भेड़ों का शत्रु था। ऋग्वेद में यत्र तत्र उपमा देने के लिये इस तथ्य का उल्लेख किया गया है।[९] प्रस्तुत ऋचा मे वर्णित है कि भेड़िया भेड़ों को डराता था, इससे यह संकेत मिलता है कि भेड़ों का अस्तित्व ऋग्वैदिक काल मे रहा। ऋग्वैदिक लोग भेड़ों से प्रमुखतः ऊन प्राप्त करते थे अतएव भेड़ें उनके लिये आय का एक साधन थीं। ऊन से युक्त होने के कारण भेड़ो के लिये 'ऊर्णावती' शब्द का प्रयोग मिलता है।[१०] सेंट पीटर्सबर्ग कोश मे रॉथ इस शब्द का अनुवाद केवल 'ऊन-युक्त' करते हैं।[११] कहा जाता है कि पुषन्

---

१ सर्वाहमस्मि रोमशा गन्धारीणामिवाविका। ऋग्वेद १।१२६।७

२ वही १।१२६।७

३ वही १०।२६।६

४ उणम्रदायुवतिर्दक्षिणावतएषा त्वापातुनिर्ऋतेरुपस्थात्। वही १०।१८।१०

५ द्रष्टव्य प्रस्तुत ऋचा पर सायणकृत भाष्य।

६ द्रष्टव्य प्रस्तुत ऋचा पर ग्रिफिथकृत भाष्य।

७ ऋग्वेद १०।२६।६, ८।२।२, ९।६।१ ७।६, १२।४, १६।८ २०।१, २८।१, ३८।१ ५०।३, ५२।२, ६३।१०, ५८।७, ७४।६, ८६।४८ १०।११६, १०।६।१०, १०७।६, १०८।५, ९।७८।१, २।३६।१, ९।८६।११, ९।१२, १०७।२ ९।१०७।८।

८ वही, १०।९५।३, ८।३४।३

९ अभ्रा वि नेमिरेषामुरां न धूनुते वृकः। वही, ८।३४।३

१० वही, १०।७५।८, ८।५६।३

११ द्रष्टव्य सेंट पीटर्सबर्ग कोश में यथा स्थान व्याख्या।

भेड़ की ऊन से ऋग्वैदिक काल में वस्त्र बुनते थे[1]। वैदिक इण्डेक्स[2] में गिरीश के अब को उद्धृत करते हुए कहा गया है भेड़ों के आधिक्य के का ण वहाँ का नाम 'पुरुष्णी' पड़ा, जिसमें 'परुष' ऊन के ढेरों का द्योतक है। वैदिक कोश[3] के अनुसार 'ऊर्णा' भेड़ों के झुण्ड की ओर संकेत करता है। इस प्रकार प्रस्तुत विवरण भेड़ों की ऊन से वस्त्र बनाये जाने की पुष्टि करता है।

(ग) सूत से बने वस्त्र—सूती वस्त्र के विषय में कोई पुष्ट प्रम ण ऋग्वेद में प्राप्त नहीं होता किन्तु वर्णित वस्त्रों से केवल यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वे सूत से अपरिचित नहीं थे। सम्भवत आदिवासी जातियाँ सूती कपड़े की जानकारी से परे रही हों किन्तु मोहनजोदड़ो की खुदाई के समय सूती कपड़े के टुकड़े पाये गये हैं इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि जब उस समय सूती वस्त्रों के पहनने का प्रचलन था तब इस प्रथा ने ऋग्वैदिक काल के ऊपर प्रभाव अवश्य डाला होगा। सम्भव है कि यह अधिक प्रचलन में न रहा हो ऊनी वस्त्र ही अधिक प्रिय था अतएव इसका वर्णन नहीं मिलता।

(आ) वस्त्र निर्माण का साधन—वस्त्र बनाने की सामग्री के उपरान्त इसके साधन क्या रह यह विचारणीय है। वस्त्र का बुनने के लिये सम्भवत करघे का प्रयोग किया जाता था। बुनाई के लिये ओतु शब्द का व्यवहार किया जाता था।[4] वैदिक इण्डक्स के लेखकों के अनुसार ओतु वैदिक साहित्य मे बिनाई से सम्बद्ध 'बाणि' का द्योतक है।[5] कोश के मतानुसार ओतु शब्द भी बुनने की बाणि' (बूक) Woof को ही बताता है।[6] ओतु[7] 'त तु' का समानार्थक है। ये दोनो शब्द √वा (बुनना) और तन् (फैलाना) धातुओं से व्युत्पन्न है और समान अर्थ मे आते हैं। 'तन्तु' का अर्थ कोश मे तागा ताना' किया गया है।[8] दशम मण्डल मे ताने बाने का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है।[9] प्रस्तुत ऋचा से यह ज्ञात होता है कि 'तसर' ताने बाने की प्रक्रिया मे प्रयुक्त होता था। नीच और

---

१ ऋग्वेद १०।२६।६

२ वैदिक इण्डेक्स भाग १ पृ० ४१

३ वैदिककोश—सूर्यकान्त द्रष्टव्य 'अवि' शब्द की व्याख्या।

४ नाह तन्तु न वि जानाम्योतु न य वयन्ति समरे तमाना। ऋग्वेद ६।९।२

स इत् तन्तु स वि जानात्योतु स वक्त्वान्यृतुथा वदाति। वही, ६।९।३

५ वैदिक इण्डक्स भाग १ पृ ।१२३

६ वैदिक कोश—सूर्यकान्त द्रष्टव्य, ओतु शब्द की व्याख्या।

७ ऋग्वेद १०।१३०।२

८ वैदिक कोश—सूर्यकान्त द्रष्टव्य—त तु' शब्द की व्याख्या।

९ इमे मयूखा उप सेदुरु सद सामानि चक्रुस्तसराण्योतवे। ऋग्वेद १०।१३०।२

मैकडानल[1] के अनुसार 'तसर' जुलाहों द्वारा प्रयुक्त 'ढरकी' का द्योतक है। वैदिक कोश इसी अर्थ का समर्थन करता है।[2] ग्रिफिथ के अनुसार भी जुलाहे द्वारा प्रयुक्त 'ढरकी (वीविंग शटिल) Weaving Shuttle अर्थ ही ग्राह्य है।[3]

तसर से भिन्न तन्तु-जाल को खींचने के लिये एक अन्य प्रकार की खूंटी का भी प्रयोग किया जाता था, जिसे मयूख' कहा जाता था।[4] कोश के अनुसार 'मयूख' ऋग्वेद में 'खूंटी विशेषत 'ताने की खूंटी' को कहा गया है।[5] वैदिक इण्डैक्स के लेखकों को भी यही मत मान्य है।[6] ऋग्वैदिक काल में बुने हुए वस्त्र को 'व्युत' कहा जाता था।[7]

प्रस्तुत समग्र विवरण से सिद्ध होता है कि वस्त्र बुनने का व्यापार सुव्यवस्थित रूप मे विद्यमान था। जुलाहे धागे को ताने और बाने की खूंटियों में बांधकर वस्त्र बुनते थे।

प्रधानत स्त्रियाँ वस्त्रों को बुनने का कार्य किया करती थी। प्राप्त दोनो प्रसंगो[8] मे देवी वर्णन है—उषा और नक्ता दोनों देवियाँ फैले हुए धागों को बुनती हुई उल्लिखित हैं, किन्तु इनसे अनुमान लगाया जा सकता है कि सम्भवत स्त्रियाँ ही बुनने का कार्य करती होंगी। एक स्थल[9] पर स्पष्टत इसका उल्लेख हुआ है। माता के महत्त्वपूर्ण व्यवहार के वर्णन मे कहा गया है कि मातायें अपने-अपने पुत्रो के लिये कपड़ा बुनती थीं। स्त्री बुनकर के लिये 'सिरी शब्द का प्रयोग किया गया है।[10] कोश में 'सिरी' का अथ बुनने वाली स्त्री' किया गया है।[11] वैदिक इण्डैक्स के लेखको—मैकडानल तथा कीथ[12] के साथ साथ ग्रिफिथ[13] भी 'सिरी'

---

१ वैदिक इण्डैक्स भाग १ पृ० ३०२

२ वैदिक कोश सूर्यकान्त-द्रष्टव्य तसर' शब्द की व्याख्या।

३ द्रष्टव्य ऋग्वेद १०।१३२।२ पर ग्रिफिथकृत भाष्य।

४ ऋग्वेद ७।९९।३, १०।१३०।२

५ वैदिक कोश सूर्यकान्त द्रष्टव्य 'मयूख' शब्द पर व्याख्या।

६ वैदिक इण्डैक्स भाग २ पृ० १३४

७ स्तरीर्नात्कं व्युत वसाना सूर्यस्य श्रिया सुदृशी हिरण्यैं। ऋग्वेद १।१२२।२

८ साध्वपांसि सनता न उक्षिते उषासानक्ता वय्येव रण्विते।
तन्तु तत संवयन्ती समीची यज्ञस्य पेश सुदुघे पयस्वती। वही, २।३।६
पुन समव्यद् विततं वयन्ती मध्या कर्तोर्न्यधाच्छक्म धीर। वही २।३८।४

९ वि तन्वते धियो अस्मा अपांसि वस्त्रा पुत्राय मातरो वयन्ति। वही, ५।४७।६

१० न एते वाकमभिपद्य पापया सिरीस्तन्त्रं तन्वते अप्रजज्ञय। वही १०।७१।९

११. वैदिक कोश सूर्यकान्त, द्रष्टव्य सिरी' शब्द पर यथास्थान व्याख्या।

१२ वैदिक इण्डैक्स, भाग २, पृ० ४५०

१३ द्रष्टव्य ऋग्वेद १०।७१।९

शब्द 'स्त्री बुनकर' (बुनकरी) अर्थ मे ही ग्रहण करते हैं। पुरुष बुनकर का उल्लेख भी एक स्थल[१] पर मिलता है।

२ परिधान विधि

(अ) सिले-वस्त्र—सिले वस्त्रो का कोई प्रमाण ऋग्वेद मे कहीं भी उपलब्ध नहीं होता किन्तु वस्त्रों के प्रकार विषयक सन्दर्भों मे देखते हैं कि वस्त्रो के ठीक माप से सिले जाने का वर्णन मिलता है। 'सुवसन और 'सुरभि'[२] जैसे शब्दो से वस्त्रो के अच्छे लगने और शरीर के ठीक माप से सिले होने का तात्पय है, ऐसा प्रतीत होता है। इन प्रसगो से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सिलाई का काय उस समय अवश्य होता रहा होगा। ऋग्वेद मे एक स्थल[४] पर कढ़ाई किये गये वस्त्र का उल्लेख किया गया है। वैदिक इण्डेक्स[५] मे हिरण्यपेशस् का तात्पय सोने के तार से कढ़ाई किया गया है इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ऋग्वैदिक काल म सुइ का अस्तित्व रहा होगा अतएव यह भी सम्भावना की जा सकती है कि वस्त्रो की सिलाइ भी की जाती होगी। वस्तुत सिलाई से वस्त्र का पहनना सुकर होता है और कढाई सिले अथवा बिना सिले कपडो की शोभा बढाती है कि तु कढ़ाई सिलाई से भि न है। सुई का प्रयोग सिलाई और कढ़ाई दोनो के लिये आवश्यक है। सुई का अस्तित्व दोनो अवस्थाओ मे अनिवाय है अतएव सम्भवत ऋग्वदिक काल मे कपड़े सिले जाने की कला विद्यमान रही होगी।

(आ) स्त्री पुरुष के वस्त्र—पुरुष एवं स्त्री दोनों के लिये परिधान की सामग्री लगभग एक ही है। कोई ऐसा साक्ष्य एव प्रमाण प्राप्त नही होता जिसस वस्त्रो के प्रकार पर स्पष्ट प्रकाश पड सके। हा इतना अवश्य है कि व्यक्ति कुछ कुछ और किसी न किसी रूप मे वस्त्र अवश्य धारण करना था। प्राप्त विवरणो स परिधान विधि का जो अल्प आभास प्राप्त होता है उसके अनुसार ज्ञात होता है कि कतिपय स्त्रियाँ यथा नतकियां आदि अपने उपरि भाग को नही ढकती थी। उषा देवी नतकी के समान विविध रूपो को धारण करती हुई वर्णित हैं जो गौ के समान दुग्ध से भरे अपने वक्षस्थल को खुला रखती थी।[६] प्रस्तुत प्रसग देवी से यह केवल आंशिक रूप से अनुमान किया जा सकता है कि वैदिकेतर काल मे जिस प्रकार स्त्री पूणत अपना शरीर आवरित करती रही हैं सम्भवत यह

---

१ उभा उ नून तदिदर्थयेथे वि तन्वाथे धियो वस्त्रापसेव। ऋग्वद १०।१०६।१

२ अभि वस्त्रा सुवसनान्यर्षाऽभि धेनू सुदुघा पूयमान। वही ९।९७।५०

३ वही ६।२९।३ १०।१२३।७

४ पुम्भिणा ता कुमारिणा विश्वमायुर्व्यश्नुत। उभा हिरण्यपेशसा। वही ८।३१।८

५ वैदिक इण्डेक्स भ ग २ पृ० २९१

६ वीमैन इन ऋग्वद बी० एस० उपाध्याय पृ० १६७

पद्धति ऋग्वैदिक काल में नहीं थी। पुंग वंशीय मूर्ति-कला में स्त्री-मूर्ति का ऊपरी भाग अनावरित दिखाया गया है जो सम्भवत वैदिककाल से चली आती हुई परम्परा को ही पुष्ट करती है।[१]

वस्त्र के लिये ऋग्वेद में सामान्य वैदिक शब्द 'वासस्' का प्रयोग मिलता है।[२] ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक आर्य दो वस्त्र धारण करते थे। एक सामान्य परिधान और दूसरा ऊपरी परिधान। वासस् शब्द से सामान्य परिधान का सकेत मिलता है और 'अधीवास'[३] शब्द ऊपरी परिधान का वाचक प्रतीत होता है। यह वस्त्र सम्भवत 'चोगा' जसा रहा होगा और उत्तरीय परिधान के रूप मे प्रयुक्त होता होगा। वैदिक कोश मे अधीवास' का अर्थ 'ऊर्ध्व-वस्त्र' किया गया है।[४] कोश मे भी इसे आच्छादक-वस्त्र के रूप मे स्वीकार किया गया है।

वस्त्रों के अन्य प्रकार

वस्त्रो के विविध अन्य नाम ऋग्वेद मे आये हैं जो वस्त्रों के प्रकार का परिचय देते हैं। ऐसे वस्त्रो मे अधीवास, वास, सिच, शामुल्य, द्रापि, और पेशस् प्रमुख हैं। कही ढीले ढीले रेपर जैसे वस्त्रों को अधीवास की सज्ञा दी गई है और कही द्रापि, प्रतिधि और अत्क जसे शरीर से चिपके हुए वस्त्रो का वर्णन किया गया है। आगे इन विविध प्रकार के वस्त्रो का विस्तार से वर्णन किया जा रहा है।

(अ) अधीवास—जसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है कि अधीवास' एक ढीला ढाला चोगा जसा वस्त्र होता था, जिसे विविध अवसरो पर पहना जाता था। यह ऊपर से ओढ़ने के काम आता था। 'अधीवास परि मातु रिहन्नह'[५] ऋग्वेद की इस ऋचा मे अरण्य को पृथ्वी के अधीवास रूप मे वर्णित किया गया है। इसमे अग्निदेव के माहात्म्य का वर्णन करते हुए वेग से पृथ्वी माता के ऊपर

---

१ अधि पेशांसि वपते नृतूरिवापोर्णुते वक्ष उस्रेव बर्जहम्। ऋग्वेद १।९२।४

२ युवोर्हि यन्त्र हिम्येव वाससोऽभ्यायसेन्या भवतं मनीषिभि। वही, १।३४।१
यदेदयुक्त हरित सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै। वही १।११५।४
विश्व प्रतीची सप्रथा उदस्थाद् रुशद् वासो बिभ्रती शुक्रमश्वैत्। वही ७।७७।२
वासोवायोऽवीनामावासांसि मर्मृजत्। वही, १०।२६।६

३ अधीवास परि मातु रिहन्नह तुविग्रेभि सत्वभिर्याति वि ज्रय।
वही, १।१४०।९
यदश्वाय वास उपस्तृणन्त्यधीवास या हिरण्यान्यस्मै। वही १।१६२।१६
अधीवास रोदसी वावसाने घृतैरन्नैर्वावृधाते मधूनाम्। वही, १०।५।४

४ वैदिक कोश, सूर्यकान्त, द्रष्टव्य 'अधीवास' शब्द की व्याख्या।

५ ऋग्वेद १।१४०।९

के वस्त्र स्थानीय कृषकुल्यादि के भाव का कथन है। इससे ज्ञात होता है कि 'अधीवास' ऊपर का आवरक वस्त्र इस आशय का बोधक है। ओढ़ने के वस्त्र के लिये एक अन्य शब्द 'अधिवस्त्र' प्रयुक्त हुआ है।[1] नववधू ओढ़ने के वस्त्र से अपने आप को ढके हुए है। सायण के अनुसार— अधिवस्त्र एक बाह्य आवरण अथवा पर्दे का द्योतक है। 'अधीवास तथा 'अधिवस्त्र' शब्दों में 'वास' तथा 'वस्त्र' समानार्थक हैं। अधि ऊपरी अथवा अधिक' अर्थ का वाचक है। इससे यह जान पड़ता है कि सामान्य वस्त्र के ऊपर पहने जाने वाला वस्त्र अधीवास' अथवा 'अधिवस्त्र' कहलाता था।

(आ) वास— वास शब्द ऋग्वेद मे वस्त्र के लिये प्रयुक्त एक अन्य शब्द है। यह वैदिकेतर कालीन ओढ़नी अथवा उत्तरीय का रूप प्रतीत होता है। जान पड़ता है कि स्त्रियाँ इससे अपने शरीर को ढका करती थीं। दशम मण्डल की एक ऋचा उत स्म वातो वहति वासो अस्या[2] मे वर्णित है कि मुद्गलानी का वस्त्र हवा के झोंको से उड रहा है। यह प्रसग आधुनिक दुपट्टे की ओर सकेत करता हुआ प्रतीत होता है। ऋग्वेद मे अनेकश 'वासस' शब्द का प्रयोग मिलता है।[3]

(इ) सिच—यह शब्द वस्त्र के छोर के लिये प्रयुक्त है। तृतीय मण्डल मे पुत्र अपने पिता का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिये उसके वस्त्र का छोर पकड़ता है।[4] वैदिक कोश[5] के अनुसार सिच् किसी परिधान की कन्नी या छोर को कहा गया है। सिच्' मे आंचल की कल्पना भी की जा सकती है। यह शब्द एक अन्य स्थल[6] पर प्रयुक्त हुआ है जिससे आंचल का अर्थ अभिव्यक्त होता है। इसमें यह वर्णित है कि माता सिच' से अपने बालक को ढककर अपनी गोद मे सुला रही है। अन्यत्र[7] सूर्यास्त एव सूर्योदय के क्षितिज को भी आकाशीय वस्त्र के किनारे (सिचौ) से उपमित किया गया है। यहाँ हम निसदेह यह कह सकते हैं कि लोक मे सिच की कल्पना आंचल अथवा छोर मे अवश्य रही होगी जिसके आधार पर देवी उपमा कल्पना बाद मे की गई होगी, अन्यथा देवी उपमा को समझा नही जा सकता था।

(ई) द्रापि—यह स्त्री एव पुरुष दोनो के द्वारा शरीर से चिपके हुए वस्त्र

---

१ यो वा यत्र भिरावृतोऽधिवस्त्रावधूरिव। ऋग्वेद ८।२६।१३

२ वही १०।१०२।२

३ वही १।१११५।४ ८।३।२४ १०।२६।६ १०।१०२।२

४ पितुर्न पुत्र. सिचमा रभे। वही, ३। ५३।२

५ वैदिक कोश सूर्यकान्त द्रष्टव्य सिच' शब्द की यथास्थान व्याख्या।

६ माता पुत्र यथा सिचाभ्येनं भूम ऊर्णु हि। ऋग्वेद १०।१८।११

७ उद् ययमीति सवितेव बाहू उभे सिचौ यतते भीम ऋञ्जन्। वही, १।९५।७

के रूप में ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में वर्णित है।[1] वी० ' वी० एस०' उपाध्याय ने 'द्रापि' का अर्थ 'शरीर से चिपका हुआ वस्त्र' किया है।[2] ऋग्वेद में अनेकशः इसका प्रयोग मिलता है।[3] वस्तुतः 'द्रापि' संदिग्ध आशय वाला शब्द है। सायण ने इस शब्द का अनुवाद 'कवच' किया है,।[4] यद्यपि यह निरर्थक प्रतीत होता है, कहीं भी इस अर्थ की संगति नहीं बैठती, तथापि कोई भी स्थल ऐसा नहीं है, जिसके आधार पर इसके पक्ष या विपक्ष में कोई निर्णय लिया जा सके। देवों के प्रसंग से ऋग्वेद में एक स्थान पर कहा गया है कि वरुण[5] एवं पवमान[6] ने स्वर्ण निर्मित जरी के काम वाला द्रापि धारण किया है। इस प्रसंग से जान पड़ता है कि लोक में भी उपर्युक्त वस्त्र धारण करने की परम्परा थी।

(उ) **शामुल्य**—शामुल्य ऋग्वेद में वर्णित एक 'गर्म वस्त्र' है। विवाह-सूक्त मे इसे स्त्री के द्वारा धारण करने का प्रसंग मिलता है।[7] सम्भवत यह वस्त्र विवाह-सस्कार के उपरान्त ब्राह्मण को दान कर दिया जाता था। ग्रिफिथ ने 'शामुल्य का अर्थ गर्म वस्त्र' किया है।[8] श्री अल्तेकर ने इस शब्द का अर्थ 'साड़ी' किया है।[9]

(ऊ) **अजिन एवं मल**—अजिन सामान्यतया मृग-चर्म के लिये आता है। मरुद्गण को हरिण की खाल पहने हुए ऋग्वेद मे वर्णित किया है।[10] उस समय भी ऋषि एव पशु थे अतएव यह कहा जा सकता है कि वे लोग पशुओं के चर्म विशेषकर मृग चर्म को धारण करते रहे हो। मृग चर्म से बने वस्त्रों का विस्तृत विवरण वस्त्र बनाने की सामग्री मे पहले किया जा चुका है। 'मल' दशम-मण्डल[11] मे एक वस्त्र के लिये प्रयुक्त हुआ है जिसे मुनि धारण किया करते थे। सेंट पीटर्स बर्ग डिक्शनरी मे इसका अर्थ 'चर्म-परिधान' किया गया है किन्तु लुडविग एवं

---

१ जुजुरुषो नासत्योत वव्रिं प्रामुञ्चतं द्रापिमिव च्यवानात्। ऋग्वेद १।११६।१०

२ वीमेन इन ऋग्वेद वी० एस० उपाध्याय, पृ० १६८

३ दिवो धर्ता भुवनस्य प्रजापतिः पिशङ्गं द्रापिं प्रति मुञ्चते कविः।
ऋग्वेद ४।५३।२

द्रापिं वसानो यजतो दिविस्पृशमन्तरिक्षप्रा भुवनेष्वर्पितः। वही, ९।८६।१४

४ द्रष्टव्य प्रस्तुत समस्त ऋचाओं पर सायण भाष्य।

५ बिभ्रद् द्रापिं हिरण्ययं वरुणो वस्त निर्णिजम्। ऋग्वेद १।२५।१३

६ प्रति द्रापिममुञ्चथा पवमान महित्वना। वही, ९।१००।९

७ परा देहि शामुल्यं ब्रह्मभ्यो वि भजा वसु। वही, १०।८५।२९

८ द्रष्टव्य प्रस्तुत ऋचा पर ग्रिफिथकृत भाष्य।

९ वीमेन इन ऋग्वेद, पृ० १६७ पर पादटिप्पणी मे उद्धृत।

१० ऋग्वेद १।१६६।१०

११ मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मला। वही, १०।१३६।२

जिमर का विचार है 'मल' का तात्पर्य केवल 'परिधान' से है।[1]

(ए) कुरीर—'कुरीर' शब्द का प्रयोग दशम मण्डल में मिलता है।[2] अधिकांश विद्वानों ने कुरीर' शब्द को शिरोभूषण' के रूप में स्वीकार किया है किन्तु मोनियर विलियम्स के मत से यह 'शिरोवस्त्र' का द्योतक शब्द है।[3]

(ऐ) पेशस्—यह ऋग्वैदिक काल का बहुमूल्य सुनहरे ज़री के काम का वस्त्र है। ऋग्वेद मे अनेकश इसका उल्लेख हुआ है।[4] अष्टम मण्डल मे यह उल्लेखनीय है कि दम्पती सुनहरे पेशस् को धारण करते थे।[5] एक ऋचा[6] से यह संकेत मिलता है कि पेशस् एक चमकदार वस्त्र होता था। जिस प्रकार सूर्य की किरणें पड़ने पर नदी का जल चमकता है, उसी प्रकार यह वस्त्र भी चमकता था। मैगस्थनीज और अरियन ने इस प्रकार के परिधानो के प्रति भारतीयो की अभिरुचि का वर्णन किया है। दशम मण्डल मे एक स्थल[8] पर एक प्रकार के वस्त्र को पेशन कहा गया है। राथ इस वस्त्र की इस प्रकार के रोमन वस्त्र मे तुलना करते हैं।[9] पिशेल का मत इससे भिन्न है। वैदिक इण्डैक्स के लेखको ने[9] अपने ग्रन्थ मे इनके मत को उद्धृत करते हुए लिखा है कि पेशस का अर्थ रंग अथवा रूप है इस प्रकार पिशेल के मतानुसार पेशस वस्त्र का वाचक नही है।

(ओ) कढ़े हुए वस्त्र—ऋग्वैदिक आर्य कढ़ाई के काम से अनभिज्ञ नहीं थे। ऊपर पेशस् का वर्णन किया गया है।[11] वस्तुत यह कढ़ाई किया हुआ ही एक प्रकार का वस्त्र होता था, जिसे नर्तकी पहनती थी। 'सु' विशेषण से युक्त पेशा सुपेशस' शब्द बहुमूल्य वस्त्र के लिये आया है।[12] हिरण्यपेशस भी एक कढ़ा हुआ जरीदार वस्त्र है जिसका वर्णन अष्टम मण्डल मे मिलता है।[13]

---

१ मक्डानल एण्ड कीथ वैदिक इण्डक्स भाग २ पृ० १३७ पर उद्धृत।
२ स्तोमा आसन्प्रतिधय कुरीर छन्द ओपश। ऋग्वेद १०।८५।८
३ कौमन लाईफ इन ऋग्वेद एण्ड अथर्ववेद छन्दा चक्रवर्ती पृ० ३७ पर उद्धृत।
४ ऋग्वेद १।६।३ २।३।६ ४।३६।७ ७।४२।१ १।९२।४
५ पुत्रिणा ता कुमारिणा विश्वमायुर्व्यश्नुत उभा हिरण्यपेशसा। वही, ८।३१।८
६ राजा राष्ट्रानां पेशो नदीनामनुत्तमस्मै क्षत्रं विश्वायु। वही ७।३४।११
७ वैदिक इण्डैक्स भाग २, पृ० २२ पर उद्धृत।
८ स तु वस्त्राण्यध पेशनानि वसानो अग्निर्नाभा पृथिव्या ऋग्वेद १०।१।६
९ वैदिक इण्डैक्स भाग २ पृ० २२ पर उद्धृत।
१० वही।
११ अधि पेशांसि वपते नृतूरिवापोर्णुते वक्ष उस्रेव बर्जहम्। ऋग्वेद १।९२।४
१२ चतुष्कपर्दा युवति सुपेशा घृतप्रतीका वयुनानि वस्ते। वही १०।११४।३
१३ वही ८।३१।८

५ पैरों के आवरक, साधन

पादत्राण पहनने का उल्लेख वैदिक समय में मिलता है। सैनिक युद्ध के अवसर पर इन्हें पहना करते थे। 'वद्दरिणा पदा'[1] से स्पष्ट है कि सेनानी पैर से लेकर उस प्रदेश की रक्षा के लिये विशिष्ट प्रकार का पादत्राण धारण करते थे।

६ ऋग्वैदिक अलंकरण

(अ) अलंकरण—(शरीर शोभाधायक) आज हिन्दुओं का अलंकारों के प्रति एक सहज प्रेम दिखाई पड़ता है इसी प्रकार ऋग्वैदिक आर्यों की भी अलंकरणों के प्रति एक विशिष्ट अभिरुचि रही है। आर्यों के अलंकार-प्रेम के अनेक संदर्भ ऋग्वेद में मिलते हैं। प्राचीन भारतीय अनेक ऐसी मूर्तियाँ मिली हैं, जो अलंकरणो से सुशोभित पाई गई हैं इनसे अति प्राचीन काल से चली आने वाली अलंकार परम्परा का सहज आभास होता है। ऋग्वेद के अध्ययन से ज्ञात होता है कि अलंकार धारण करने की प्रथा बालक युवा और देवादि में थी। अलंकार धारण किये हुए बालको का उल्लेख ऋग्वेद की एक ऋचा में प्राप्त होता है।[2] इसमें कल्याणार्थ यज्ञो से सोम को बच्चे के समान अलंकृत करने को कहा गया है। आभूषणों के प्रति युवको की विशेष अभिरुचि का वर्णन मिलता है। आराध्य देवो का स्वर्ण एवं बहुमूल्य मणि आदि से निर्मित अलंकरण पहनने का वर्णन है।[3] एक ऋचा मे अश्वों को भी स्वर्णाभूषणो से युक्त वर्णित किया गया है।[4] अन्यत्र हिरण्यशम्य यजतो बृहन्तम'[5] तथा एक अन्य ऋचा[6] द्वारा देव रथ को भी स्वर्ण जटित दिखाया गया है। जब आर्यों को अपने देवों और पशुओं को भी अलंकारो से सजाने की अभिरुचि थी तब उन आभूषणो का उनके जीवन मे कितना महत्त्व रहा होगा? हम इसका सहज ही अनुमान लगा सकते हैं। ऋग्वैदिक आर्य बहुत सीमा तक अलंकार प्रिय थे इस आशय विषयक अनेक प्रमाण ऋग्वेद मे उपलब्ध होते है। यथा—

कन्याओ को स्वयं अपना पति-चयन करने की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त थी, अतएव वे पुरुषो को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिये आभूषणो से स्वयं को सजाया करती थी। एक ऋचा मे कहा गया हैं कि "जिस प्रकार विवाह के लिये

---

१ छिन्धि वद्दरिणा पदा महावद्दरिणा पदा। ऋग्वेद १।१३३।२

२ सखाय आ निषीदत पुनानाय प्र गायत। शिशुं न यज्ञै परि भूषत श्रिये।
वही, ९।१०४।१

३ वही, ४।३७।४ २।३३।१० आदि आदि।

४ मदच्युत कृशनावतो अत्यान् कक्षीवन्त उदमृक्षन्त पज्रा.। वही, १।१२६।४

५ वही, १।३५।४

६ यदयुक्था अरुषा रोहितो रथे वातजूता वृषभस्येव ते रवः। आदिन्वसि वनिनो धूमकेतुनाग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥ — [illegible] वही, १।१६२।१६

जाने वाली कन्यायें अलंकार आदि धारण करके अपना तेज प्रकट करती है, उसी प्रकार इन (घी की) धाराओं को मैं देखता हूँ।"[1] दूसरी ओर वर रमणीय एवं बहुमूल्य आभूषणों से अलंकृत होकर अपने रूप-वैभव को प्रदर्शित किया करते थे। एक स्थल पर स्पष्ट कहा गया है कि जैसे ऐश्वर्यपूर्ण वर अलंकरणों से अपने शरीर को सजाता है उसी प्रकार ये मरुद्गण शोभा के लिये स्वर्ण-अलंकरणों और तेजों से अपने शरीरों को सजाते हैं।[2]

ऋग्वेद मे स्वर्ण अलंकरणों को बताने के लिये साधारणतः 'हिरण्य' शब्द का व्यवहार हुआ है।[3] इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक युग मे पुरुष और स्त्रियाँ दोनों अलंकरण धारण करते थे और ये अलंकार प्रायः सुवर्ण के बनते थे।

(आ) अलंकार निर्माता

ऋग्वेद में अलंकार निर्माणकर्त्ता के लिये 'हिरण्यकार' अथवा 'सुवर्णकार' नाम प्राप्त नहीं होते। एक स्थल पर 'कर्मार' शब्द का प्रयोग आता है।[4] मैक्डानल और कीथ के अनुसार 'कर्मार' शब्द लोहार के लिये प्रयुक्त हुआ है।[5] सम्बद्ध ऋचा मे कहीं भी 'अयस' शब्द का प्रयोग नहीं मिलता इसलिये सम्भवतः इस शब्द का प्रयोग धातु लगाकर उपकरण बनाने वाले कारीगर के लिये व्यवहृत रहा हो चाहे वह लोहार हो अथवा स्वर्णकार। इसी प्रकार एक अन्य ऋचा मे 'सुकर्माण' शब्द मिलता है जो कदाचित् स्वर्णकार का द्योतक रहा हो। इसमे कहा गया है कि देवाभिलाषी स्तोता यज्ञादि कार्य के द्वारा स्वयं को उसी प्रकार निर्मल करता है जिस प्रकार अच्छा कारीगर धातु को आग मे डालकर निर्मल करने हेतु गलाता है।[6]

एक स्थल पर सुवर्णकार के दुःस्वप्न का उल्लेख किया गया है। इसमे द्युलोक की पुत्री उषा को सम्बोधित करके कहा गया है कि—'हे उषे! अलंकार बनाने वाले सुनार के अथवा माला बनाने वाले माली के जो दुष्ट स्वप्न हो वे

---

१ कन्या इव वहतुमेतवा उ अञ्ज्यञ्जाना अभि चाकशीमि। ऋग्वेद ४।५८।९

२ वरा इवेद् रैवतासो हिरण्यैरभि स्वधाभिस्तन्व पिपिश्रे। वही ५।६०।४

३ वही १।१२२।२ १।१६२।१६ २।३३।९, ५।६०।४ आदि।

४ ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मारइवाधमत्।
देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत। वही, १०।७२।२

५ वैदिक इण्डेक्स, भाग १, पृ० १४०

६ सुकर्माणः सुरुचो देवयन्तोऽयो न देवा जनिमा धमन्तः।
शुचन्तो अग्निं ववृधन्त इन्द्रमूर्वं गव्यं परिषदन्तो अग्मन्। ऋग्वेद ४।२।१७

सब हमसे दूर रहें।"[1] इससे विदित होता है कि यद्यपि ऋग्वेद में सुवर्णकार का नाम प्राप्त नहीं होता, तथापि उसके एवं उसके कार्यविषयक संकेत से ऋग्वेद अन-भिज्ञ नहीं है।

(इ) आभूषण बनाने हेतु धातुएं

ऋग्वेद में धातुओं के लिये प्राप्त नामों में से एक है अयस्,[2] इसका अर्थ तो अनिश्चित है, किन्तु कीथ और मैकडॉनल ने इसे अनेक धातुओं से मिश्रित कांसा (कांस) अर्थ में व्यवहृत माना है।[3]

(क) रजत—ऋग्वेद[4] में यह शब्द चांदी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है किन्तु वैदिक इण्डैक्स के लेखकों ने इसे 'स्वर्ण' अर्थ में ग्रहण किया है।[5] ऋग्वेद में कहीं भी अयस और रजत से बने आभूषणों का उल्लेख नहीं मिलता। अष्टम मण्डल में रजत शब्द का प्रयोग रथ के साथ किया गया मिलता है।[6] इसमें ऋषि ने रजतमय रथ प्राप्ति का उल्लेख किया है।

(ख) स्वर्ण—ऋग्वेद एवं परवर्ती साहित्य में स्वर्ण के अर्थ में साधारणतः हिरण्य शब्द का प्रयोग किया गया है।[7] 'स्वर्ण' शब्द का प्रयोग भी अनेक स्थलों पर मिलता है।[8] वैदिक इण्डैक्स के लेखकों के मत में 'स्वर्ण' शब्द धातु के अर्थ में व्यवहृत नहीं है।[9] वैदिक आर्यों ने स्वर्ण को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। स्वर्ण को सूर्य के समान प्रकाशवान् कहा गया है।[11] एक अन्य ऋचा में अपां नपात् देवता को हिरण्यरूपी हिरण्याकृति हिरण्यवर्ण और हिरण्य के ही आसन पर

---

१ निष्कं वा घा कृणवते स्रजं वा दुहितर्दिव।
त्रिते दुष्वप्न्यं सर्वमाप्त्ये परि दद्मस्य—
नेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः। ऋग्वेद ८।४७।१५

२ वही १।५७।३ १६३।९ ४।२।१७ ६।३।५

३ वैदिक इण्डैक्स भाग १ पृ० ३१

४ तमुक्षमाणं रजसि स्व आ दमे चन्द्रमिव सुरुचं ह्वार आ दधुः। वही, २।२।४

५ वैदिक इण्डैक्स भाग १ पृ० २५४

६ ऋजमुक्षण्यायने रजतं हरयाणे। रथं युक्तमसनाम सुषामणि।
ऋग्वेद ८।२५।२२

७ वही, १।४३।५ ३।३४।९ ४।१०।६ ४।१७।११

८ वही ४।२३।६ ७।९०।६

९ वैदिक इण्डैक्स भाग २ पृ० ४५९

१० ऋग्वेद ६।४७।२३, ८।७८।९

११ य शुक्र इव सूर्यो हिरण्यमिव रोचते श्रेष्ठो देवानां वसुः। वही, १।४३।५

विराजमान वर्णित किया गया है।[1] अन्यत्र सोमदेव को हिरण्यमय कहा है।[2]

यह अनुमान लगाया जा सकता है कि स्वर्ण नदियो की घाटियों से प्राप्त किया जाता था, इसीलिए नदी को स्वर्णिम और 'स्वर्णिमधारा' से युक्त कहा गया है।[3] ऐसा ज्ञात होता है कि आर्यों को उस समय सोना पृथ्वी के गर्भ से निकालने का ज्ञान भी था। प्रथम मण्डल[4] की एक ऋचा से ऐसा आभास मिलता है।

ऋग्वैदिक युग मे स्वर्ण चाहे नदियो से प्राप्त किया जाता हो अथवा खानो से परन्तु आर्यों की उसे प्राप्त करने की बलवती इच्छा का अंकन स्पष्ट रूप से उल्लिखित है। एक दानस्तुति मे दिवोदास से प्राप्त दस घोड दस सुवर्णपूर्ण कोश भोजन, वस्त्र और दश सुवर्णपिण्डो की प्राप्ति का वर्णन किया गया है।[5] गौओं और घोड़ों के साथ आश्रयदाता स्वर्ण की निधि भी प्रदान करते थे। स्वर्ण का उपयोग आभूषण के लिये होता था। आर्यों को आभूषणो का अत्यन्त चाव था इसलिये निष्क (कण्ठाभूषण) और कर्णशोभन स्वर्ण से ही बनाये जाते थे।[6] आभूषण ही नहीं रथ भी स्वर्णनिर्मित होते थे। राजा पृथुश्रवा की दानस्तुति मे स्वर्ण रथ का उल्लेख किया गया है।[7]

(ग) रत्न—आभूषण केवल धातु से नही अपितु रत्नो से भी बनाये जाते थे। अनेक स्थलो पर ऋग्वेद मे इस शब्द का प्रयोग किया गया है।[8] विभिन्न स्थलों पर 'रत्न' शब्द का अर्थ भी भिन्न भिन्न है। मैक्डॉनल और कीथ ने इसका अर्थ 'संग्रहणीय वस्तु तथा गुण' किया है।[9] कोश मे रत्न का अर्थ बहुमूल्य पदार्थ

---

१ हिरण्यरूप स हिरण्यसंदृगपां नपात् सेदु हिरण्यवर्ण।
हिरण्ययात् परि योनेर्निषद्या हिरण्यदा ददत्यन्नमस्मै ॥ ऋग्वेद २।३५।१०

२ आ रत्नधा योनिमृतस्य सीदस्युत्सो देव हिरण्ययः। वही ९।१०७।४

३ उत स्या नः सरस्वती घोरा हिरण्यवर्तनिः। वृत्रघ्नी वष्टि सुष्टुतिम्।
वही ६।६१।७

उत स्या श्वेतयावरी वाहिष्ठा वां नदीनाम्। सिन्धुर्हिरण्यवर्तनिः।
वही ८।२६।१८

स्वश्वा सिन्धुः सुरथा सुवासा हिरण्ययी सुकृता वाजिनीवती। वही, १०।७५।८

४ शुभे रुक्मं न दर्शतं निखातमुदूपथुरश्विना वन्दनाय। वही १।११७।५

५ दशाश्वान् दशकोशान् दश वस्त्राधिभोजना।
दशो हिरण्यपिण्डान् दिवोदासादसानिषम्। वही ६।४७।२३

६ वैदिक इण्डेक्स भाग २ पृ० ५०४

७ रथं हिरण्ययं ददन्मंहिष्ठः सूरिरभूद्वर्षिष्ठमकृत श्रवः। ऋग्वेद ८।४६।२४

८ वही १।१।१ १।४१।६ २।३८।१, ३।८।६ ७।१६।६, ९।३।६ आदि।

९ वैदिक इण्डेक्स भाग २ पृ० १९९

देय द्रव्य' किया गया है।[1] सम्भवतः यह शब्द कतिपय स्थलों पर आभूषण के रूप में धारण करने वाले रत्नों के अर्थ में भी प्रयुक्त है, ऐसा अनुमान होता है।[2] एक ऋचा[3] में 'जरितृ रत्निनीम्' पद से ऐसा आभास होता है कि रत्न पहने भी जाते थे।

(घ) मणि—ऋग्वेद में 'मणि' शब्द मिलता है।[4] एक ऋचा[5] के 'हिरण्यकर्णम् मणिग्रीवम्' पद से स्पष्ट होता है कि मणियों को सूत्र में पिरोकर माला बनाई जाती थी। प्रस्तुत ऋचा में विश्वेदेव की हिरण्य के कर्णाभूषण, ग्रीवा के लिये मणि की माला और रूपवान् पुत्र हेतु स्तुति की गई है।

(ङ) मोती—मोती के लिये ऋग्वेद मे 'कृशन' शब्द का प्रयोग किया गया है। ऋग्वेद में सविता के रथ को सजाने के प्रसंग में मोतियों का उल्लेख है।[6] अश्व सज्जा के लिये भी इसके उपयोग का उल्लेख है, इसीलिए अश्व को 'कृशनावन्त्' कहा गया है।[7]

७ आभूषणों के प्रकार

(अ) सिर के आभूषण

(क, ख) मस्तक के आभूषण सम्बंधी दो शब्द हमें ऋग्वेद मे प्राप्त होते हैं—१ स्तुका २ स्तूप।[8] स्तुका का अर्थ है—शिखा या केश की चोटी। मैक्डॉनल कीथ[9] और मोनियर विलियम्स[10] ने इस शब्द का वही अर्थ किया है। स्तूप शब्द का अर्थ वैदिक इण्डैक्स के लेखकों ने शिखा की गांठ' किया है। डॉ० राय गोविन्द चन्द्र इसे स्तूप के आकार वाली किसी वस्तु का नाम मानकर कण के आकार का आभूषण स्वीकार करते हैं।[11] दो स्थलों पर इसका प्रयोग

१ वैदिक कोश सूयकान्त द्रष्टव्य यथास्थान व्याख्या।

२ ऋग्वेद १।१२५।१ १।१४१।१०, २।३८।१ ४।१५।३, १०।७८।८

३ वाचवाच जरितृ रत्निनीं कृतमुभा शंस नासत्यावतं मम। वही, १।१८२।४

४ चक्राणास परीणहं पृथिव्या हिरण्येन मणिना शुम्भमाना। वही, १।३३।८

५ हिरण्यकर्णं मणिग्रीवमर्णस्तन्नो विश्वे वरिवस्यन्तु देवा। वही, १।१२२।१४

६ अभीवृत कृशनैर्विश्वरूपं हिरण्यशम्यं यजतो बृहन्तम्।
आस्थाद्रथं सविता चित्रभानु कृष्णा रजांसि तविषीं दधान। वही, १।३५।४

७ मदच्युत कृशनावतो अत्यान्कक्षीवन्त उदमृक्षन्त पज्रा। वही, १।१२६।४

८ वैदिक इण्डैक्स भाग २, पृ० ४८३

९ वही।

१० मोनियर विलियम्स—संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी द्रष्टव्य यथास्थान व्याख्या।

११ वैदिक युग के भारतीय आभूषण' डॉ० राय गोविन्द चन्द पृ० १४

मिलता है,[1] जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यह स्वर्णनिर्मित, पुरुषों के द्वारा धारण किया जाने वाला मस्तक का आभूषण है। स्तूप की चमक की उपमा सूर्य की स्वर्णरूपी किरणों से दी गई है जिससे इसका स्वर्णनिर्मित होना सम्भावित है।

(ग) स्रज्—यह एक अन्य आभूषणपरक शब्द है, जो ऋग्वेद में एक से अधिक स्थलों पर मिलता है।[2] स्रज् माला के लिये प्रयुक्त शब्द है जो सम्भवतः मस्तक पर धारण किया जाता था।[3] यह पुरुष का सौंदर्यवर्द्धक आभूषण था। अश्विदेवों को दशम मण्डल में कमलों की माला से अलंकृत 'पुष्करस्रज' कहा गया है।[4] यद्यपि यह दैवी प्रसंग है परन्तु इससे ज्ञात होता है कि पुरुष भी कमलों की माला धारण करते रहे होंगे।

(घ) कुरीर—इस शब्द का प्रयोग ऋग्वेद के विवाह-सूक्त में किया गया है।[5] यह स्त्रियों का शिरोभूषण है। सायण के अनुसार यह एक शिरोभूषण है जो स्त्री अपने उद्वाह के समय पहनती थी। उव्वट ने 'कुरीर' का अर्थ मुकुट और महीधर ने सिर को सुशोभित करने वाला गहना किया है। गल्डनर ने इस शब्द की व्याख्या शृंग की है। ऋग्वेद में इसका प्रयोग वधू के शृंगार के प्रकरण में प्राप्त होता है इस कारण इसका शृंग अर्थ करना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। मोनियर विलियम्स ने इसे एक प्रकार का स्त्रियों का मुकुट कहा है।[6] वाजसनेयी संहिता के स्त्रीभिः शृङ्गाराय धार्यमाणं कनकाभरणम्[7] द्वारा कुरीर केश रचना का कोई प्रकार न होकर केशों को प्रसाधित करने का एक आभूषण है।

(ङ) ओपश—ओपश भी आभूषणपरक शब्द है। मोनियर विलियम्स ने इसे सिर का आभूषण कहा है।[8] यह केश का आवेष्टन सा प्रतीत होता है। वस्तुतः ओपश को स्त्रियों के केशपाश की सज्जा हेतु संरचना का एक प्रकार स्वीकार किया जाता है किन्तु कतिपय विद्वान् इसे शिरोभूषण की संज्ञा प्रदान करते हैं। आगे केश सज्जा के सन्दर्भ में इसका विस्तार से विवेचन किया जायेगा।

(आ) कान के आभूषण

ऋग्वेद में कान में पहने जाने वाले दो आभूषण सम्बंधी शब्दों का परिचय मिलता है—

---

१ अबुध्ने राजा वरुणो वनस्योर्ध्वं स्तूपं ददते पूतदक्षः। ऋग्वेद १।२४।७
उपस्रक्ष्य जिह्व्य सानु स्तूपं स रश्मिभिस्ततन सूर्यस्य। वही, ७।२।१

२ वही ४।३८।६ ८।४७।१५ ८।५६।३

३ स्रजं कृण्वानो ज यो न शुम्भा रेणुं रेरिहत्किरणं ददश्वान्। वही, ४।३८।६

४ वही १०।१८४।२

५ स्तोमा आसन्प्रतिधयः कुरीरं छन्द ओपशः।
सूर्याया अश्विना वराग्निरासीत्पुरोगवः। वही, १०।८५।८

६ मोनियर विलियम्स संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी द्रष्टव्य यथास्थान व्याख्या।

७ वाजसनेयी संहिता ११।५०। ८ ऋग्वेद १।१७३।६, ८।१४।५, १०।८५।८

(क) कर्णशोभन—कर्णशोभना[1] ऋग्वेद में कान के किसी आभूषण का द्योतक है। प्रस्तुत ऋचा में इन्द्र से मधुर्वषा में कर्णशोभन को प्रदान करने की स्तुति की गई है। मैक्डॉनल और कीथ के अनुसार यह सम्भवत पुरुषों के उपयोग के लिये होता था।[2] ऋग्वेद में इस आभूषण का स्वरूप ठीक ज्ञात नहीं होता, किन्तु सम्भवत यह कुण्डल के आकार का कोई आभूषण रहा होगा। हॉपकिन्स के विचार से गले और कलाई के आभूषणो की अपेक्षा कान की बालियो का प्रचलन बाद मे प्रारम्भ हुआ[3]

(ख) हिरण्यकर्ण—यह भी कर्णाभूषण ही प्रतीत होता है। एक ऋचा[4] मे विश्वेदेवा से हिरण्यकर्ण और मणिग्रीव की याचना की गई है। प्रस्तुत ऋचा से यह अनुमान होता है कि यह भी पुरुषो के उपयोग का आभूषण था।

(इ) नाक का आभूषण

ऋग्वेद मे नाक म धारण किये जाने वाले किसी आभूषण का संकेत नहीं मिलता। प्रथमत मुगलोत्तर कालीन पुरी और राजपूताना की मृण्मूर्तिकाओं मे ही नाक के आभूषण के चित्रण की प्राप्ति होती है इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ऋग्वैदिक काल म यह आभूषण प्रचलन मे नहीं था।

(ई) ग्रीवा के आभूषण

(क) मणिग्रीव—इस शब्द[5] से मणि को गले में धारण करने का संकेत मिलता है। सम्भवत मणि को धागे मे पिरोकर गले में पहना जाता होगा।

(ख) निष्क—ऋग्वेद में निष्क नामक आभूषण का वर्णन मिलता है। निष्क ग्रीव[6] से स्पष्ट होता है कि निष्क गले मे पहने जाने वाले किसी आभूषण का द्योतक है। मक्डॉनल और कीथ ने इसे गले का आभूषण माना है। मोनियर विलियम्स ने गले के आभूषण' के साथ-साथ इसका अर्थ 'बत्तीस रत्ती की दीनार भी किया है।[7] निष्क को सिक्के के रूप मे भी स्वीकार किया जा सकता है। सम्भवत आकार मे यह वर्तुलाकार या चतुष्कोण होता था। जिस प्रकार वर्तमान समय में सोने या चाँदी के सिक्को को सूत्र मे पिरोकर कण्ठाभरण के रूप में धारण करना अशिक्षित वर्ग मे अतिलोकप्रिय है सम्भवत ऋग्वैदिक काल में इन सिक्को

---

१ उत्त न कर्णशोभना पुरुणि धृष्णवा भर। त्वं हि शृण्विषे वसो। ऋग्वेद ८।७८।३

२ वैदिक इण्डक्स भाग १ पृ० १४०

३ वही।

४ हिरण्यकर्णं मणिग्रीवमर्णस्तन्नो विश्वे वरिवस्यन्तु देवा। ऋग्वेद १।१२२।१४

५ वही।

६ निष्कग्रीवो बृहदुक्थ एना मध्वा न वाजयुः। वही, ५।१९।३

७ मोनियर विलियम्स—संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी, द्रष्टव्य यथास्थान व्याख्या।

को धारण किया जाता रहा होगा ।

एक ऋचा में नाना रूपों वाले पूजनीय रुद्रदेव को निष्क धारण किये हुए वर्णित किया गया है ।[1] अन्यत्र[2] कक्षीवान् द्वारा असुर राजा से सौ निष्क, सौ अश्व और सौ वृषभ की प्राप्ति का उल्लेख है ।

(ग) रुक्म—एक अन्य प्रकार का स्वर्णिम आभूषण 'रुक्म' कहलाता था। रुक्म सायण के मतानुसार एक चमकदार आभूषण है ।[3] वैदिक इण्डैक्स के अनुसार यह सुवर्ण का बनता था ।[4] 'रुक्मवक्षस' विशेषण ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल में 'रुक्म के वक्षस्थानीय आभूषण का परिचायक है। रुक्म को अग्नि के समान चमकदार कहा गया है ।[5]

मोनियर विलियम्स ने इसे सोने की जंजीर माना है ।[7] जिस धागे मे रुक्म अनुस्यूत रहता है, उसे अथर्ववेद मे रुक्मपाश कहा गया है। एक ऋचा में सेना नायक के 'रुक्म' पहिनने का उल्लेख है ।[8] अन्यत्र भी अनेकश स्थलो पर इसका उल्लेख प्राप्त होता है ।[9]

(घ) बाहु और मणिबन्धों के आभूषण

ऋग्वेद मे प्राप्त कतिपय सन्दर्भों के आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि कन्धो पर भी भारी भारी आभूषण पहने जाते थे। ऋग्वेद मे अनेक स्थलो पर खादि शब्द आया है ।[10] मक्डॉनल और कीथ ने खादि शब्द का अर्थ कडा' किया है ।[11] मक्समूलर के विचार से इस शब्द का अर्थ वलय है ।[12] वैदिक कोश मे ऋग्वेद में उल्लिखित यह शब्द किसी आभूषण का बोधक है जो हाथो मे पहना

---

१ अर्हन्बिभर्षि सायकानि धन्वार्हन्निष्कं यजतं विश्वरूपम् । ऋग्वेद २।३३।१०

२ शतं राज्ञो नाधमानस्य निष्काञ्छतमश्वान्प्रयतान्त्सद्य आदम् ।
शतं कक्षीवाँ असुरस्य गोनां दिवि श्रवोऽजरमा ततान ॥ वही १।१२६।२

३ द्रष्टव्य ऋग्वेद १।८८।२ १।११७।५ ४। ०।५ पर सायणकृत भाष्य ।

४ वैदिक इण्डैक्स भाग २ पृ० २२४

५ वव्रो यद्वो मरुतो रुक्मवक्षसो वृषाजनि पृश्न्याः शुक्र ऊधनि । ऋग्वेद २।३४।२

६ अग्निर्न ये भ्राजसा रुक्मवक्षसो वातासो न स्वयुजः सद्यऊतयः ।
वही १० ७८।२

७ मोनियर विलियम्स संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी द्रष्टव्य यथास्थान व्याख्या ।

८ चित्रैरञ्जिभिर्वपुषे व्यञ्जते वक्षःसु रुक्माँ अधि येतिरे शुभे । ऋग्वेद १।६४।४

९ वही ५।५३।४ ५।५६।१ ५।५७।५ ६।१५।५ १०।७८।२

१० वही ७।५६।१३, १।१६८।३ ५।५८।२, २।३४।२ १०।३८।१ आदि ।

११ वैदिक इण्डैक्स भाग १ पृ० २१६

१२ वैदिक कोश सूर्यकान्त द्रष्टव्य-यथास्थान व्याख्या ।

कान्ति का और सम्भवतः प्रगद, कंगन या अंगूठी के लिये प्रयुक्त है।

एक ऋचा[1] में मरुतों के स्कन्धों और 'स्कन्ध' के पास 'बाहुओं पर खादि' और वक्षस्थल पर रुक्म के शोभायमान होने का वर्णन है। बाहु और स्कन्ध के अतिरिक्त हाथ और पैर में भी 'खादि' को पहनने का उल्लेख है। जहाँ हाथ के और मणिबन्ध के कड़े का प्रसंग है, वहाँ ऋग्वेद में 'खादिहस्त' कहा गया है,[2] और जहाँ पैर में पहने गये खादि का प्रसंग है वहाँ 'पत्सुखादय' कहा गया है।[3]

(ऊ) अंगुलि में धारण किया जाने वाला आभूषण (अंगूठी)

(क) आनूक—ऋग्वेद में केवल एक बार उल्लिखित है।[4] इस आभूषण का स्वरूप स्पष्ट नहीं है। गैल्डनर का विचार है कि ऋग्वेद में केवल एक बार आने वाले इस शब्द का अर्थ एक आभूषण है। रॉथ इसे क्रियाविशेषण मानते हैं। लुडविग और ओल्डनबर्ग ने भी यही ग्रहण किया है।[5]

(ख) हिरण्यपाणि—ऋग्वेद की दो ऋचाओं में सविता देव को 'हिरण्यपाणि' कहा गया है।[6] इसका अर्थ है पाणि (हाथ) में स्वर्ण धारण करने वाला। स्पष्ट रूप से हिरण्यपाणि का अर्थ अंगूठी नहीं किया गया है। डॉ० राय गोविन्द चन्द्र ने इसे अंगूठी का स्वरूप स्वीकार किया है।[7]

(ए) कटि पर धारण किये जाने वाले आभूषण

(क) न्योचनी—ऋग्वेद के विवाह-सूक्त में एक बार 'न्योचनी' पद आया है।[8] सायण ने इसका अर्थ 'दासी' किया है[9] किन्तु वैदिक कोश के अनुसार प्रस्तुत ऋचा में प्रयुक्त न्योचनी शब्द किसी आभूषण विशेष का द्योतक है, जिसे स्त्रियाँ पहनती थीं।

(ख) रशना—रशना शब्द ऋग्वेद में अनेकशः प्रयुक्त हुआ है,[10] किन्तु इसका अर्थ करधनी न होकर रज्जु ज्ञात होता है। प्रथम मण्डल की एक ऋचा[11] में

---

१ अंसेषु व मरुतः खादयो वो वक्षस्सु रुक्मा उपशिश्रियाणा। ऋग्वेद ७।५६।१३

२ वही १।१६८।३ ५।५८।२

३ वही ५।५४।११

४ सहस्रा मे च्यवतानो ददान आनूकमर्यो वपुषे नार्चत्। वही ५।३३।९

५ वैदिक इन्डेक्स भाग १, पृ० ५८

६ हिरण्यपाणिमूतये सवितारमुपह्वये। स चेत्ता देवता पदम्। ऋग्वेद १।२२।५
हिरण्यपाणिः सविता । वही १।३५।९

७ डॉ० राय गोविन्द चन्द्र वैदिक युग के भारतीय आभूषण, पृ० २८

८ रैभ्यासीदनुदेयी नाराशंसी न्योचनी। ऋग्वेद १०।८५।६

९ द्रष्टव्य प्रस्तुत ऋचा पर सायणकृत भाष्य।

१० ऋग्वेद १।१६३।२, ५, ४।१।९, ६।८७।१, २।२८।५, १०।१८।१४, १०।७९।७

११ वही १।६२।८

'शीर्षण्या रशना' लगाम को नहीं अपितु लगाम के शीर्षबन्ध को उद्दिष्ट करता है। विभिन्न स्थलों पर यह शब्द विभिन्न अर्थों को यथा वर्म रज्जु कल्पा, बन्धन आदि का वाचक प्रतीत होता है, कदाचित् रशना का करधनी अर्थ परवर्ती काल में विकसित हुआ होगा।

(३) पैरों के आभूषण

हाथ के आभूषणों में खादि का उल्लेख किया गया है जिसका प्रयोग 'पत्सु' अर्थात् पैर के साथ भी किया गया है। यह भी पूर्वनिर्दिष्ट है कि खादि' का आकार सम्भवत कड़ जसा रहा होगा। पंचम मण्डल[1] में मरुद्गणों के लिये 'पत्सु खादयो' कहकर पैर के कड़े का ही संकेत किया गया है।

एक ऋचा[2] म वृष' खादि के विशेषण रूप मे प्रयुक्त हुआ है। वस्तुत यह सन्दिग्ध आशय वाला शब्द है। मक्समूलर ने इसका अर्थ 'मोटा कड़ा' किया है।[3] इससे यह अनुमान होता है कि यह पैर का मोटा कड़ा होगा।

इस प्रकार आभूषण सम्बन्धी सम्पूर्ण ऋग्वैदिक सामग्री एकत्रित करने के उपरान्त यह निष्कर्ष निकलता है कि ऋग्वादक आर्य प्राय स्वर्ण निर्मित आभूषण पहनते थे जो स्त्रियों और पुरुषो दोनो के उपयोग का साधन थे। आभूषणो के जो जो नाम प्राप्त हुए ऋग्वेद म उनका स्वरूप बिलकुल स्पष्ट नहीं है केवल अनुमानत उनके स्वरूप की कल्पना की जा सकती है।

८ केश सज्जा

आभूषण मानव की बाह्यसौन्दर्य सामग्री का प्रतिनिधित्व करते हैं। आज आभूषणो का प्रयोग शिक्षित वर्ग मे शनैः शनैः कम हो रहा है, किन्तु इनका प्रचलन प्राचीन समय मे अधिक था। ऋग्वदिक समाज भी प्राप्य साधनो से अपने सौन्दर्य को प्रसाधित ढग से वर्धित करने मे पीछ नहीं है। हमे उनके प्रसाध्य की पर्याप्त रुचि केश-सज्जा मे दिखाई देती है। ऋग्वेद के अध्ययन से तत्कालीन केशरचना की पद्धति का परिचय मिलता है। उस समय पुरुष और स्त्रियाँ दोनो अपने बालों को सजान के प्रेमी थे। पुरुष केश रचना मे चतुर थे। स्त्रियाँ पुरुषो से अधिक दक्ष थीं यही कारण है कि वे अपन केशो को विविध रीतियों से सजाती थी।

केश भलीभाँति सवारे हुए होते थे।[4] इसमे केश सवारकर ठीक से बाध हुए तेजस्वी[3] अथवा वाली सूर्या साविश्री का उल्लेख है। अ यत्र तेल लगे हुए[5] और

---

१ असेषु व ऋष्टय पत्सु खादयो वक्ष सुरुक्मा मरुतो रथे शुभ । ऋग्वेद ५।५४।११

२ अस्तार इषु दधिरे गभस्त्योरनन्तशुष्मा वृष खादयो नर । वही, १।६४।१०

३ वैदिक इण्डक्स भाग २ पृ० २०८

४ जोषद् यदीमसुर्या सचध्यै विषितस्तुका रोदसी नृमणा । ऋग्वेद १।१६७।५

५ चतुष्कपर्दा युवति सुपेशा घृतप्रतीका वयुनानि वस्ते । वही, १०।११४।३

कन्धे तथा कमर तक लटके हुए लम्बे केशों[1] का वर्णन मिलता है। केश-संयमन की विविध शैलियाँ विद्यमान थीं। कुछ प्रमुख रीतियाँ निम्नलिखित हैं—

(अ) कपर्द—वैदिक जन अपने बालों को कपर्द के रूप में बांधा करते थे, संभवतः कपर्द जटाबलय के समान कोई रचना-विशेष रही होगी। इसके लिये ऋग्वेद मे 'कपर्द'[2] और 'कपर्दिन्'[3] दो शब्दों का प्रयोग मिलता है। वैदिक कोश में 'कपर्द' का अर्थ वेणी' और 'कपर्दिन्' का अर्थ वेणी धारण करने वाला' किया गया है।[4] दशम मण्डल में वधू को चतुष्कपर्द धारण करते हुए प्रदर्शित किया गया है— चतुष्कपर्दा युवति सुपेशा[5] इससे प्रतीत होता है कि युवतियाँ केशपाश को चार प्रकार की वेणी बनाकर सजाया करती थीं। पुरुष भी अपने बालों को इसी विधि से संयत करते थे। प्रथम मण्डल में दो स्थानों पर रुद्र के लिये 'कपर्दिन्' शब्द का प्रयोग किया गया है।[6] अन्यत्र पूषन् को भी इसी केश-सज्जा से मंडित कहा गया है।[7] सायण ने 'कपर्द' का अर्थ 'जटाओं का एक विशेष बंधा हुआ रूप' अर्थात् जूडा' किया है।[8] वसिष्ठ कुल के व्यक्ति दाहिनी ओर जूड़ा बांधने के कारण दक्षिणतस्कपर्दा' कहे गये हैं।[9] ग्रिफिथ ने कपर्द' का अर्थ बालों की गाठ (हेयर नाट) Hair Knots किया है।[10] उनके अनुसार भी वसिष्ठ कुल के व्यक्ति दाहिनी ओर केशो की गाठ लगाकर केशों को एक विशिष्ट रूप प्रदान करने से दक्षिणतस्कपर्दा' कहे गये हैं।

(आ) ओपश—यह केशपाश की सरचना का एक अन्य नाम है। वस्तुत स्त्रियाँ ओपश धारण करती थीं। यह सदिग्ध आशय का शब्द है, जो ऋग्वेद[11]

---

१ तमसुव केशिनी सं हि रेभिर उर्ध्वास्तस्थुर्ममुषी प्रायवे पुन। ऋग्वेद १।१४०।८

२ वही १०।१०२।८

३ वही १।११४।१ १।११४।५, ६।५५।२ ७।८३।८ ९।६७।११

४ वैदिक कोश सूयकान्त द्रष्टव्य यथास्थान व्याख्या।

५ ऋग्वेद १०।११४।३

६ इमा रुद्राय तवसे कपर्दिने क्षयद्वीराय प्र भरामहे मती। वही १।११४।१
दिवो वराहमरुष कपर्दिन त्वेष रूप नमसा नि ह्वयामहे। वही, १।११४।५

७ रथीतम कपर्दिनमीशान राधसो महः। राय सखायमीमहे। वही, ६।५५।२
अय सोम कपर्दिने घृत न पवते मधु। आ भक्षत् कन्यासु न। वही ९।६७।११

८ द्रष्टव्य प्रस्तुत ऋचाओ पर सायण भाष्य।

९ श्वित्यञ्चो मा दक्षिणतस्कपर्दा धियञ्जिन्वासो अभि हि प्रमन्दु। ऋग्वेद ७।३३।१

१० द्रष्टव्य प्रस्तुत ऋचा पर ग्रिफिथकृत भाष्य।

११ ऋग्वेद १।१६७।३, ८।१४।५, ९।७१।१, १०।८५।८

और अथर्ववेद[1] मे भी पाया जाता है। इसका अर्थ सम्भवत वेणी है जिसे विशेषत स्त्रियाँ ही अपने केश-मार्जन मे प्रयोग करती थी। सायण ने इसका अर्थ स्त्री व्यञ्जन' किया है किन्तु कतिपय ऋचाओ से यह ज्ञात होता है कि पहले पुरुष भी इसका प्रयोग करते थे।[2] त्सिमर यह अनुमान करते है कि वैदिक काल मे बालो की कृत्रिम वेणी पहनी जाती थी। गैल्डनर का विचार है कि इसका मौलिक आशय शृंग[3] है और जब यह शब्द इन्द्र के लिये प्रयुक्त हुआ है तब इसका अर्थ मुकुट' है।

प्रथम मण्डल की एक ऋचा[4] मे आकाश की तुलना ओपश से की गई है जिससे यह अनुमान लगाया जाता है कि जब केशो को एक गोलाकार रूप मे लपेट लिया जाता था और ऊपर एक गाठ लग दी जाती थी तब यह केश रचना ओपश' कहलाती थी।

केशों के दो अन्य विशेषणो पृथुष्टुक[5] (चौडी प्रवेणी वाला) और विषित ष्टुक[6] (ढीली प्रवेणी वाला) से यहाँ प्रवेणी का सकेत है अथवा ओपश की ओर सकेत किया गया है यह बात ठीक ठीक कह पाना बडा कठिन है।

(इ) दाढी-मूछ रखने तथा न रखने की प्रथा

ऋग्वेद मे श्मश्रु शब्द[7] दाढी मूछ के लिये साधारणत प्रयोग मे आया है। अष्टम मण्डल[8] मे शत्रुओ को दाढी मूछ से युक्त वर्णित किया गया है और इन्द्र देव को उन दाढी मूछो वाले शत्रुओ मे घुसकर युद्ध करने मे सक्षम बताया गया है।

श्मश्रु के कटवाने का उल्लेख भी आया है। दाढी बनाने वाले को वप्त' कहा जाता था। दशम मण्डल[9] मे नाई को दाढी साफ करते हुए वर्णित किया गया है। दाढी बनाने के लिये क्षुर शब्द का प्रयोग मिलता है। क्षुर शब्द ऋग्वेद मे तीन बार आया है।[10] प्रथम मण्डल[11] मे यह धार अर्थ मे प्रयोग किया

---

१ अथर्ववेद ६।१३८।१ ३ ६।३।८

२ ऋग्वेद १।१७३।६ ८।१४।५

३ वैदिक इण्डैक्स भाग १, पृ० १२४।१२५

४ स विश्व इन्द्रो वजन न भूमा भर्ति स्वधावाँ ओपशमिव द्याम्।

ऋग्वेद १।१७३।६

५ वही १०।८६।८

६ वही १।१६७।५

७ वही २।११।१७ ८।३३।६, १०।२३।१ ४ १०।२६।७ १०।१४२।४

८ यो धृषितो योऽवृतो यो अस्ति श्मश्रुषु श्रित । वही ८।३३।६

९ यदा ते वातो अनुवाति शोचिर्वप्तेव श्मश्रु वपसि प्र भूम। वही १०।१४२।४

१० वही १।१६६।१० १०।२८।९ ८।४।१६

११ अनेष्वेषा पविषु क्षुरा अधि वयो न पक्षान् व्यनु श्रियो धिरे। वही १।१६६।१०

गया है। हॉपकिन्स ने यहाँ क्षुर का अर्थ उस्तरा (ब्लेड) किया है।[1] एक अन्य ऋचा[2] मे 'क्षुर' शब्द 'छुरा'[3] अर्थ में आया है जहाँ एक खरगोश के क्षुर निगल जाने का उल्लेख है। सायण ने इसका अर्थ 'पंजेवाला'[4] किया है। तृतीय स्थल[5] पर सान पर छुरे को तेज करने का उल्लेख है। इससे यह अनुमान होता है कि ऋग्वैदिक आर्य हजामत बनाने की कला को भी भलीभाँति जानते थे। अथर्ववेद में तो इसका छुरा' अर्थ स्पष्ट है, जिससे यह प्रामाणित हो जाता है कि वैदिक काल मे दाढ़ी बनाने का स्पष्ट उल्लेख है।

९ सुगन्धित द्रव्य

अब आर्यों के अन्तिम प्रसाधन पदार्थ सुगन्धित द्रव्यों का उल्लेख किया जायेगा। अनेक प्रमाणों द्वारा यह विदित होता है कि तत्कालीन समाज मे भीनी एव मादक सुगंध वाले द्रव्य पदार्थों का प्रयोग होता था। द्वितीय मण्डल[6] मे अश्विनी कुमार की तुलना सुगन्धित द्रव्यों से सुवासित दो सुन्दरियो से की गई है। ऋग्वेद में मादक सुगधि से युक्त वन साम्राज्ञी अरण्यानी की प्रशंसा की गई है।[7] एक अ य प्रसग से ज्ञात होता है कि उस समय अन्त्येष्टि पर जाने वाली स्त्रियाँ अपने श रीर पर सुगन्धित पदार्थ का प्रयोग किया करती थीं। सम्भवत चार प्रकार के व्यक्ति इन पदार्थों का उपयोग किया करते थे। वे विवाह योग्य क यायें पुरुषो को आकर्षित करने वाली स्त्रियाँ वीरांगनायें और अन्त्येष्टि आदि विशिष्ट अवसरो पर सम्मिलित होने वाली प्रसाधित महिलायें हैं।

इस प्रकार हम आर्यों के वस्त्र-परिधान अलकरण और केश-सज्जा विषयक विवरणो के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि ऋग्वैदिक समाज जहाँ दार्शनिकता के क्षत्र मे सफलतापूर्वक उच्चतम सोपान पर अधिरुढ़ था वही लौकिक विषयो के प्रति भी उसकी रुचि कम नही थी। तत्कालीन सभ्य और सफल समाज का सास्कृतिक पक्ष भी यथासामर्थ्य अपनी बौद्धिक प्रतिभा और कलात्मक रुचि का स्पष्ट प्रकाशन करने मे सब समर्थ रहा है।

---

१ वैदिक कोश, सूर्यकान्त क्षुर शब्द की पादटिप्पणी मे उद्धृत।

२ शश क्षुरं प्रत्यञ्च जगाराद्रि लोगेन व्यभेदमारात्। ऋग्वेद १०।२८।९

३ वैदिक इण्डेक्स, भाग १, पृ० २०९-२१०

४ द्रष्टव्य, ऋग्वेद १०।२८।९ पर सायण भाष्य।

५ त्वे सम्न सुभेदमुक्त्रिय वसु य त्व हिनोषि मर्त्यम्। ऋग्वेद ८।४।१६

६ वही २।३९।२

७ आञ्जनगन्धि सुरभि बह्वन्नामकृषीवलाम्। वही, १०।१४६।६

८ वही, १०।१८।७

८ ऋग्वेद मे जादू, राक्षस और पिशाच तथा रोग और उनकी चिकित्सा

ऋग्वेद में जादू

यह उत्कट विवाद का विषय है कि ऋग्वेद मे जादू है या नही। शोध कर्त्ताओं ने यद्यपि इसमे कुछ ऋचाओं को जादू-मन्त्र कहा है परन्तु सर्वसम्मति इससे नितान्त भिन्न है। वस्तुत जादू क्या है, यह जान लेना आवश्यक हो जाता है।

सम्भवत जादू वह कला है जो घटनाक्रम का प्रकृति अथवा आत्माओ के रहस्यमय नियन्त्रण से प्रभावित करती है। वे प्रभाव जिनके विषय मे किसी प्रकार के तक न किये जा सक और वे चामत्कारिक प्रभाव जो आश्चयजनक परिणाम उत्पन्न करते हैं जादू कहलाते हैं। रहस्यात्मक एव चामत्कारिक कृत्य ईश्वरीय शक्ति का भी परिणाम हो सकते हैं जो भक्तो की प्रवर एव सफल प्राथनाओ के द्वारा सम्भावित किये जा सकते है। किन्तु दवी चमत्कार और जादू दोनो पर्याय नही हैं भिन्न भिन्न है। वस्तुत जादू वह है जिसमे किसी भी असामयिक रोग दुर्भाग्य अथवा अस्वाभाविक घटनाक्रम के प्रति जादूगर अथवा प्रार्थयिता का पूण नियन्त्रण होता है। परन्तु बहुत से आश्चर्य देवी देवताओ की सफल आराधना का परिणाम स्वीकार किये जा सकते हैं जसे कि ऋग्वेद मे पाया गया है। इस प्रकार आश्चयजनक कर्मों की उत्पत्ति मे दो श्रणियाँ स्वीकार की जा सकती है। एक तो जादू स प्रभावित असम्भावित घटनाय और द्वितीय देवी देवताओ की प्राथना के फलस्वरूप प्राप्त आश्चयजनक परिणाम। ऋग्वद मे अधिकाशत हमे प्राथनायें ही दृष्टिगत होती है जिनमे असम्भाव्य आश्चर्योत्पादक कृत्यो के लिय उस अलौकिक शक्ति से प्राथना की गई हैं। ऋग्वेद के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उसमे जो जादू मन्त्रो की सारणी मे रखे जाते हैं वस्तुत्त वे द्वितीय श्रेणी मे ही हैं। ऋग्वेद मे बहुत स रहस्यात्मक एव आश्चर्योत्पादक मन्त्र पाये गये हैं जिन्हे जादुई दष्टि से वर्णित करना कठिन है।

इन्द्र वरुण अग्नि और मित्र सदृश देवता ऋग्वेद मे अनेकश आश्चयपूण कार्यों के कर्त्तारूप मे सामने आये हैं जो रहस्यपूण शक्तियो के नियन्ता कहे गये है। प्रकृति की इस रहस्यात्मक शक्ति को नामत वर्णित नही किया जा सकता क्योकि एक ऋचा अथवा सूक्त मे वर्णित एक शब्द प्रथमत जिस आशय का बोध कराता है दूसरी ऋचा उसी शब्द के विपरीत अथ की वाचक हो जाती है।

नीचे ईश्वरीय शक्ति और जिस शक्ति द्वारा ईश्वर के आश्चर्योत्पादक कार्यों का बाध होता है एसे शब्दो का उल्लेख किया गया है।

(अ) आश्चर्यपूर्ण शक्ति के वाचक शब्द

(१) **माया का अथ**—यह शब्द ईश्वरीय शक्ति का बोधक है ऋग्वेद मे ऐसे साक्ष्य मिलते हैं किन्तु बुरे अर्थों मे यह भूत पिशाच और राक्षस से सम्बद्ध है।

मैक्डॉनल ने लिखा है—'माया' अंग्रेजी शब्द 'क्राफ्ट' के लगभग समानान्तर ही है, जिसका अर्थ है जादू अथवा 'गुह्य शक्ति'। एक ओर इसका अर्थ 'कौशलपूर्ण कला' है तो दूसरी ओर कपटपूर्ण कार्य (Deceitful sk ll wile) है।

केवल एक शब्द है—'मायिनी'[1] जिसका प्रयोग रहस्यात्मक शक्ति के लिये किया गया है। सायण ने इसका अर्थ प्रज्ञावती सती' किया है किन्तु श्री बी० ए० परब ने इसका अर्थ रहस्यात्मक प्रभाव अथवा शक्ति' किया है।[3]

ऋग्वेद मे माया' शब्द का प्रयोग विविध रूपो मे हुआ है—माया, माया, मायां मायया, मायाभि।

(१) विविध देवो की माया का प्रभाव

(अ) मित्र और वरुण—तृतीय मण्डल मे मित्र और वरुण की महिमा का गान किया गया है। इसे मही माया' से निर्दिष्ट किया गया है। सूर्य प्रथमत उषा को भेजता है और तब स्वयं प्रगट होता है। उषा काल मे जो रमणीय प्रकाश फैलता है वह सब मित्र वरुण की महिमा (महीमाया) है।[4] अन्यत्र[5] भी मित्र वरुण की सामर्थ्य (माया) को द्युलोक मे आश्रित कहा गया है।

एक स्थल पर मित्र और वरुण को असुर की माया द्वारा जल बरसाते हुए प्रदर्शित किया गया है।[6] अन्यत्र भी यही प्रसग द्रष्टव्य है।[7]

(आ) वरुण—वरुण की रहस्यात्मक शक्ति को माया कहा गया है। पचम मण्डल की एक ऋचा[8] मे इसे महीमाया' और द्वितीय[9] मे माया महीम्' रूप मे प्रस्तुत किया गया है किन्तु दोनो ऋचाओ मे इसका अर्थ एक ही है। दोनो ऋचाओ मे ईश्वरीय आश्चर्योत्पादक कृत्यो का वर्णन किया गया है। प्रथम मे कहा गया है—वरुण ने अन्तरिक्ष मे ही रहकर सूर्यरूपी मानदण्ड से इस पृथ्वी को

१ डा बी० ए परब दी मिरेकुल्स एण्ड मिस्ट्रीरियस इन वैदिक लिटरेचर, पृ० ६२ पर उद्धृत।

२ आमेन्यस्य रजसो यदभ्र आँ अपो वृणाना वितनोति मायिनी। ऋग्वेद ५।४८।१।

३ बी० ए० परब दी मिरेकुल्स एण्ड मिस्टीरियस इन वैदिक लिटरेचर, पृ ६२।

४ ऋतस्य बुध्न उषसामिषण्यन् वृषा मही रोदसी आ विवेश। मही मित्रस्य वरुणस्य माया चन्द्रेव भानु वि दधे पुरुत्रा। ऋग्वेद ३।६१।७।

५ माया वा मित्रावरुणा दिवि श्रिता । वही ५।६३।४।

६ सम्राजा उग्रा वृषभा दिवस्पती पृथिव्या मित्रावरुणा विचर्षणी। वही ५।६३।३ चित्रेभिरभ्रैरुप तिष्ठथो रव द्या वर्षयथो असुरस्य मायया।

७ वही ५।६३।७।

८ वही ५।६३।५।

९ वही ५।६३।६।

माप लिया। उस प्राणदाता प्रसिद्ध वरुण की यह शक्ति (सामर्थ्य) प्रशंसनीय है।[1] आगामी ऋचा मे भी वरुण की माया को अपरिमेय कहा गया है। उनकी माया से उतनी सारी नदियाँ निरन्तर समुद्र मे गिरती हैं फिर भी एक समुद्र को नहीं भर पातीं।[2] माया द्वारा अन्यत्र भी ईश्वर के अन्य आश्चर्यान्वित कर देने वाले कार्यों का उल्लेख ऋग्वेद मे प्राप्त होता है।[3]

(इ) इन्द्र—इन्द्र की मायारूपा शक्ति की अनेक स्थलो पर चर्चा की गई है।[4] इन्द्र ने माया द्वारा कपटी शत्रु का वध किया।[5] उन्होने माया द्वारा हिलने वाले पर्वतो को स्थिर किया जलो के प्रवाह रूप कर्म को नीचे की ओर प्रवाहित किया सबको धारण करने वाली पृथिवी को धारण किया और द्यौ को नीचे गिरने से रोका।[6] ऋक० ३।५३।८ ६।४७।१८ मे कहा गया है कि इन्द्र अपनी मायाशक्ति के कारण अपने शरीर को अनेक रूपो मे प्रकट करता है और एक ही क्षण मे तीनो लोको मे व्याप्त हो जाता है। इस प्रकार इन्द्र के अद्भुत कार्यो से यह प्रदर्शित होता है कि उनकी माया रूपा शक्ति रहस्यात्मिका और आश्चर्या धायिका है।

(ई) अग्नि—विविध ऋचाओं[7] मे अग्नि की माया का विधान किया गया है। अग्नि को होता रूप मे प्रदर्शित किया गया है जो अपनी माया से चतुर स्रुचा को धारण करता है।[8] अग्नि अपनी माया से सम्पूर्ण लोको को पवित्र करता है।[9]

(उ) आदित्य—आदित्यो की माया और बन्धन द्रोह करने वाले शत्रुओ पर फैले हुए है।[10]

---

१ इमामू ष्वासुरस्य श्रुतस्य मही मायां वरुणस्य प्र वोचम।
मानेनेव तस्थिवाँ अन्तरिक्षे वि यो ममे पृथिवीं सूर्येण। वही ५।८५।५।

२ इमामू नु कवितमस्य मायां मही देवस्य नकिरा दधर्ष।
एकं यदुद्ना न पृणन्त्येनीरासिञ्चन्तीरवनयः समुद्रम्। ऋग्वेद ५।८५।६।

३ वही ८।४१।३ ९।७३।९।

४ वही १।८०।७ २।१७।५ ३।५३।८ ४।३०।१२ २१ ६।२४। ६।४७।१८ १०।५४।२।

५ यद्धत्य मायिनं मृगं तमु त्वं माययावधीरर्चन्ननु स्वराज्यम्। वही १।८०।७।

६ स प्राचीनान् पर्वतान् दृंहदोजसा धराचीनमकृणोदपामपः।
अधारयत् पृथिवीं विश्वधायसमस्तभ्नान्मायया द्यामवस्रसः। वही २।१७।५।

७ वही १।१४४।१ १।१६ ।३ ३।२७।७ ।१।१०।

८ एति प्र होता व्रतमस्य माययोर्ध्वां दधानः शुचिपेशसं धियम्।
अभि स्रुचः क्रमते दक्षिणावृतो या अस्य धाम प्रथमं ह निंसते। वही १।१४४।१

९ पुनाति धीरो भुवनानि मायया। वही १।१६०।३।

१० या वो माया अभिद्रुहे यजत्राः पाशा आदित्या रिपवे विचृत्ताः। वही ।२७।१६

अन्यत्र भी इसी शक्ति का वर्णन प्राप्त होता है ।[1]

(क) अन्य देव—अन्य देवो की माया का भी कथन किया गया है ।[2]

उपयु क्त सम्पूर्ण उद्धरण देवों की माया के विषय मे थे किन्तु माया' शब्द का प्रयोग ईश्वर के शत्रुओ की शक्ति के रूप मे भी हुआ है ।[3] इनमे 'माया' शब्द का प्रयोग दुराशयी दस्युओ द्वारा वशीकरण और दानवों के कपटपूर्ण प्रयोगो के लिए हुआ है । राक्षसो व राक्षसियो की दुष्ट प्रवत्तियो का भी मायया' शब्द से ज्ञान होता है । इन्द्र और विष्णु राक्षसी माया का सहार करते हैं ।[5]

विविध स्थलो अर आये "माया शब्द का अर्थ सायण ने अपने भाष्य मे भिन्न भि न किया है जैसे मित्रस्य वरुणस्य माया प्रभारूपा[6] सती मायया प्रज्ञया[7], मायया स्वकीयया शक्त्या[8] मायया कमरणा प्रज्ञया वा[9] मायया कर्मविषयाभिज्ञा नेन[10] मायया त्रिगुणात्मिकया[11] मायाभि तत्प्रतिकूलकपटविशेष[12] मायाभि जयो पायज्ञाने[13] मायाभि व चनाभि बुद्धिविशेष आदि । इस प्रकार सायण ने माया को प्रज्ञा प्रभा रूपा स्वकीया शक्ति त्रिगुणात्मिका आदि रूपो मे स्वीकार किया है । उनके मतानुसार माया प्रभा रूपा अथवा दीप्तिमती है किन्तु भाष्यकार का यह मत श०द के मूल अथ को समझने मे पूण सहायक सिद्ध नही होता है । ऋक० ५।८४।५ के भाष्य मे सायण ने लिखा है— मायां प्रज्ञां । केवा मायेति सोच्यते । यो वरुणो ऽन्तरिक्ष तस्थिवान तिष्ठन्मानेनेव दण्डेनेव सूर्येण पृथिवीं अंतरिक्ष विममे

---

१ वही १० ८९।१८ ।

२ ऋग्वेद ६।५८।१ १०।५३।९ १०।८६।६ ।

३ वही १।३२।४ १।११७।३ २।११।१० ३।२०।३, ५।२।९ ५।३१।७ ५।४०।६ ८ ६।१८।९ ६।२०।४ ६।२२।९ ६।४४।२२ ६।४५।९ ७।९८।५ ७।९९।४ ८।४१।८ १०।७३।५ १०।९९।२ १०।१११।६ ।

४ वही ७।१०४।२४ ८।२३।१५ ।

५ वही ७।९८।५ ७।९९।४

६ वही ३।६१।७ पर सायण भाष्य ।

७ वही २।१७।५ ४।३०।१२ पर सायण भाष्य ।

८ वही ४।३०।१३ पर सायण भाष्य ।

९ वही ६।७३।५ पर सायण भाष्य ।

१० वही ३।२७।७ पर सायण भाष्य ।

११ वही १०।१७७।१ पर सायण भाष्य ।

१२ वही १। १।७ ।

१३ वही १।५१।५ ।

१४ वही १०।१४७।२ ।

परिछिन्नत्ति तस्यैषा माया ।[1] इससे स्पष्ट होता है कि वस्तुत सायण भी माया से तात्पय शक्ति ही ग्रहण करते हैं। ऋग्वेद में माया को धारण करने वालो के लिये मायावत' मायाविन्' और 'मायिन' शब्दो का प्रयोग प्राप्त होता है।

एक स्थल पर दस्यु के लिये मायावान शब्द आया है ।[2] सायण ने इसका अथ कपटवान किया है। मायाविन' शब्द देवों[3] और राक्षसो[4] दोनों के लिए व्यवहृत है।

मायी विविध रूपों मे यथा—मायिनं मायी, मायिन मायिना मायिनां आदि आया है। इन्द्र[5] और वरुण[6] दोनों को मायी' कहा गया है। एक ऋचा मे इन्द्र को वरुण के समान मायी कहा गया है—वरुणमिव मायिनं[7]। सायण ने इसका अथ किया है— मायिनं प्रज्ञावन्तं[8] इसी प्रकार अनेक स्थलो पर इस शब्द का प्रयोग मिलता है।[9]

मायिन देवों के अतिरिक्त देव शत्रुओ के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। यह नमुचि[10] सुसना[11] अहि[12] और वत्र[13] आदि दुष्टो के लिए प्रयोग मे आया है। ऋक० ३।५६।१ मे सायण ने मायिन' का अथ कपटबुध्युपेता असुरा[14] किया है।

(ख) दसस् दसमा दस्र दसिष्ट दस्म आदि।

(१) दसस—इसका तात्पय है–एक आश्चयजनक काय एक चमत्कार। इस शब्द का प्रयोग विविध देवा के लिये हुआ है। इन्द्र के अदभुत कर्मो के लिये

---

१ ऋग्वेद ५।८५।५ पर द्रष्टव्य सायण भाष्य।
२ नि मायावान ब्रह्मा दस्युरत । ऋग्वेद ४।१६।९।
३ वही १०।२४।४ ६।८३।३।
४ वही २।११।६।
५ वही १०।१४७।५।
६ ७।२८।४ १०।९९।१०।
७ वही, ६।४८।१४।
८ द्रष्टव्य ऋक० ७।४८।१४ पर सायण भाष्य।
९ ऋग्वेद ५।५८।२ १।६४।७ ३।३८।७ ९ ६।६३।५ ७।८२।२ १।१५६।४ १०।५।३।
१० वही १।५३।७।
११ वही १।५६।३।
१२ वही २।११।५ ५।३०।६।
१३ वही १०।१४७।२।
१४ वही ३।५६।१ पर सायण भाष्य।

दंसस्' शब्द व्यवहृत हुआ है।[1] सायण ने इसका 'दंससाकर्मणा' यह अर्थ किया है।[2] 'दंसस' अग्नि[3] और अश्विनी[4] देवो के अद्भुत कम का भी प्रदर्शन करता है। अश्विनी देवो के कार्यों के प्रदर्शन हेतु शब्द के बहुवचन 'दंसांसि' रूप का प्रयोग मिलता है।[5]

प्रस्तुत शब्द सोमदेव की चमत्कृति का भी बोधक है।[6]

'दंसोभि' शब्द रूप भी देवों के कार्यों का प्रतिपादन करता है।[7] सायण ने इसका अर्थ किया है—'दंसोभि आत्मीयैः मेघवधादिभिः कर्मभिः।' इसी प्रकार दसना और 'दंसनाभि' भी कर्मविशेष को प्रस्तुत करने में बहुत से स्थलो पर प्रयुक्त हुए हैं।[8] 'दसनाभ्य'[9] और 'दसने'[10] शब्द रूप वैश्वानर और मरुतो के लिये आये हैं।

(२) दंसनावान्—सायण ने इस शब्द का अर्थ 'कर्मवान' किया है। वस्तुत इसका अर्थ है—'आश्चर्यपूण कर्मो को करने वाला।' इन्द्र के लिए इसका प्रयोग पाप्त होता है।[11]

आगे ऐसे शब्दो का विवेचन है जो देवो के चमत्कारपूर्ण कार्यों का प्रतिपादन करते है किन्तु विशेषण रूप मे प्रयोग किये गये हैं।

(३) दस्र शब्द इसी प्रकार का है। ऋग्वेद मे ४७ बार इसका प्रयोग किया गया है। दस्र का प्रयोग चमत्कार करने वाले के लिए भी मिलता है। पूषन् के लिए यह व्यवहार मे आया है।[12] सायण ने इसका अथ किया है—दर्शनीय यद्वा व शु पक्षयकारिन् पूषन। अन्य देवों के लिए भी इसका प्रयोग प्राप्त होता है।[13]

(४) वसिष्ठ—यह एक अन्य विशेषणपद है, जो देवों की शक्ति का बोध

---

१ ऋग्वेद १।६२।६ ६।१७।७ पर सायण भाष्य।

२ वही, ६।१७।७।

३ वही, १।६९।४।

४ वही, १।११६।१२।

५ वही १।११६।२५ ५।७३।२ ८।९।३।

६ वही ९।१०८।१२।

७ वही १।११७।४ ५ ७३।७।

८ वही, १।५९।२ १।१२७ ८।८८।४, १।११९।७ १०।४०।९ ३।९।७, ६।४८।४ ।।८७।८ ८।१०।२ १।११८।६ ।६९।७ १०।१३१।५।

९ वही, ३।३।११।

१० वही, १।१६६।१३।

११ वही १।३०।१६ ३।३९।४।

१२ वही, १।४२।५ ६।५६।४।

१३ वही ६।६९।७ १।३।३ १।३०।१७ आदि।

कराता है। ऋक० १।१८२।२ में यह शब्द अश्विनी देवों के लिए आया है। भाष्यकार ने इसका अथ किया है—वसिष्ठा अतिशयकर्माणी।[1] इसी प्रकार अ य देवो के लिये भी इस पद का व्यवहार किया गया है।[2] वहाँ पर कही तो यह देवो के रथ का और कही स्वय उ ही का विशेषण बनकर आया है।

(५) दस्म—यह भी विशेषण पद है जो देवों और उनके वस्तुविशेषो की विशेषता बताता है।[3] इ द्र को एक स्थान पर[4] दस्मतम कहा गया है, जिसका अथ डा० परब के अनुसार सबसे अधिक आश्चर्यपूण अथवा सर्वोत्तम चमत्कारकर्त्ता है।[5]

सम्पूण विवरण से स्पष्ट होता है कि माया और इस शब्द के रूपान्तरो द्वारा दवो और उनकी शक्ति का ज्ञापन होता है। जहाँ एक ओर ये देवो का बोध कराते हैं वही दूसरी ओर माया और मायिन आदि शब्द दुष्टात्माओ, राक्षसो और यातुधानो का भी समान रूप से ज्ञान कराते हैं। दसस आदि शब्द समूह केवल देवपक्ष के लिये ही प्रयोग मे आया है।

इस प्रकार यह स्पष्टतया विदित है कि माया और मायिन शब्दो का ऋग्वेद म बहुधा प्रयोग प्राप्त होता है, किन्तु ऋग्वेद मे जादू है यह कथन भ्रमात्मक है क्योकि ऋग्वद उच्चस्तरीय कविताओ का संकलन है। इसमे जादू जसी निम्न स्तरीय भावना को स्थान प्राप्त नही हुआ है।

डा० परब ने इस विषय मे विविध विद्वानो के मतो को प्रस्तुत किया है।[6] कतिपय विद्वान यथा—ओल्डनबग, श्रॉडर और मक्डानल आदि ऋग्वद म जादू को स्वीकार करते है जिससे जादू और प्रार्थना मे एक सम्बन्ध स्थापित कर दिया गया है। उनके अनुसार ऋग्वेद पर जादू का प्रभाव स्वीकार किया जा सकता है कि तु यह स्पष्टतया विदित है कि ऋग्वद उच्चस्तरीय प्राथनाओ से परिपूण है। डा० पी एस० देशमुख के अनुसार ऋग्वद जादू के प्रभाव से विहीन है।

वस्तुत ऋग्वद मे दो प्रकार की ऋचायें है—प्रथम उच्चस्तरीय आध्यात्मिक ऋचाये जिनमे देवो की प्रशस्तियाँ हैं और भावपूण श्रद्धासुमन अर्पित किये गये है तथा दूसरी वे ऋचाये जिनको अपेक्षाकृत निम्न स्तर पर रखा जा सकता है

१ ऋग्वद १।८२।२ पर सायण भाष्य।
वही ८। २।१ १०।१४३।३।
३ वही १।७७।३, ३।३।२ ८।७४।७ १०।११।४ १।४।६, १०।३१।३, १।१७३।४ ६।६१।६ ५।४६।३।
४ सह श्रत इ द्रानाम देव ऊर्ध्वो भुव मनुषे दस्मतम। वही २।२०।६।
५ डा० बी० ए० परब–वी मिरेकु० पृ० ७१।
६ डा० बी० ए० परब–वी मिरेकु० पृ० ७३ ७४।

जो समालोचकों द्वारा जादू टोने के प्रभाव को रखने वाली और बैरियो के विरोध मे प्रस्तुत की गयी हैं। प्रथम श्रेणी की ऋचायें मुख्यत ऋग्वेद में और द्वितीय श्रेणी की ऋचायें मुख्यत अथर्ववेद में मिलती हैं। देवों के प्रति अगाध श्रद्धा और अति उदार भावना स्तोता की अपने आराध्य के प्रति पवित्र और उदार भावना का परिचय देती हैं। वे अपनी प्रखर प्रार्थनाओ के साफल्य में अपनी रक्षा अपने लिये साधन और यथेष्ट सामग्री प्राप्त करते थे और इन्ही प्रार्थनाओ के परिणाम स्वरूप विभिन्न देवो के आश्चर्यान्वित करने वाले कृत्य सामने आये जिनका आगे विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

प्रार्थनाओं और जादू टोने की भाषा मे भी नितात अन्तर होता है। अधिकाशत जादू को आजकल भी भारत मे मन्त्र कहा जाता है जिसमे शब्दो का निश्चित विधान होता हैं और उनका प्रयोग साँप तथा भयानक जानवरो के जहर उतारने आदि म किया जाता है। मन्त्रो का उच्चारणकर्ता मान्त्रिक कहलाता है। मान्त्रिक द्वारा मन्त्रोच्चार मे श्रोता शब्दो का कोई अर्थ नहीं लगा पाता और न ही उसके कला और भावपक्ष का समालोचन कर सकता है। इसके विपरीत प्रार्थना कवियो की कला का निष्कर्ष प्रस्तुत करती है उसमे कुछ भी गुप्त नही होता। प्रार्थयिता की हृदय निसृत उच्च भावनायें अपने आराध्य का आह्वान करती हैं और जनसाधारण के मर्म का स्पर्श करती हैं।

प्रार्थना मे स्तोता की उदारता प्रधान होती है, जबकि जादू टोने मे अधिकार आज्ञा और बाध्यता की प्रधानता होती है। ऋग्वेद मे प्रमुख रूप से प्रथम श्रेणी की ऋचाये प्राप्त होती है। इससे स्पष्ट होता है कि ऋग्वेद के आश्चर्यान्वित कर देने वाले काय ईश्वरीय शक्ति से अथवा मुनियो की शक्ति से प्रभावित है जिनका विभाजन निम्न श्रेणियो मे किया गया है—

(आ) आश्चर्यपूर्ण कार्यों का वर्गीकरण—

(१) ब्रह्माण्ड सम्बन्धी अद्भुत चमत्कार

(२) पुनर्युवाकरण और बाँझपन का निवारण

(३) जल और अग्नि से रक्षा

(४) रोगो एव विकृतियो की रहस्यात्मक चिकित्सा

(५) मिश्रित अद्भुत चमत्कार

(६) ऋषिकृत अद्भुत काय।

(२) ब्रह्माण्ड सम्बन्धी अद्भुत चमत्कार

इस ब्रह्माण्ड मे विभिन्न देवता विभिन्न प्राकृतिक वस्तुविशेषो के अधिपति कहे गये है। हम उन्हें देख नही सकते। कुछ वस्तुएँ अथवा विधान ऐसे हैं, जिनके विषय म सोचा भी नहीं जा सकता केवल एक मान्यता के आधार पर विश्वास करना पड़ता है कि यह एक प्रकार का आश्चर्य ही तो है। सूर्य चन्द्र, पर्वत

नदियाँ, दिन रात्रि स्वर्ग पृथिवी, आकाश और नक्षत्रमण्डल इन सबकी रचना आश्चर्य को जन्म देती है और ऋग्वेद मे इन सबका वर्णन चमत्कारस्वरूप ही किया गया है। क्रमश क्रमबद्ध रूप मे इनका वणन निम्नत किया जा सकता है—

(१) पर्वत—पौराणिक कथाओ मे पवतो का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। वैज्ञानिको के अनुसार पहले सर्वत्र ज्वालामुखी पर्वत थे जो उत्तरकाल मे बुझाये गये और आज पर्वतो का रूप धारण किये हुए हैं। ऋग्वेद मे पर्वतो का एक अन्य ही स्वरूप दिखाई देता है जसा कि पौराणिक कथाओं मे कहा गया है कि पवतो के पख होते थे और वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर उडकर बठ जाते थे। यह अ वश्यक है कि हम ऋग्वदिक आर्यों द्वारा मा प तथ्यो का अनुशीलन करें।

एक ऋचा मे कहा गया है कि इन्द्रदेव ने काँपने वाली पृथिवी को दढ किया और क्रोधित पवतो को स्थिर किया।[1] इन्द्र ने पर्वतो के पंख काट दिये जिससे उनके उडकर कही भी बठ जाने से होने वाली असुविधा का निवारण हो गया। ऋग्वद के साक्ष्यो से इस तथ्य को पुष्टि मिलती है। एक ऋचा मे कहा गया है कि सरकते हुए पवत भी स्थिर हो गये।[2] एक स्थल पर कहा है कि भोजन के लिये बठ मनुष्य के समान पर्वत भी इन्द्र की आज्ञा से स्थित होकर बठे हैं।[3] इस प्रकार विपुल आकृति वाले पवतो के पखो को काटकर इन्द्र ने आश्चर्यजनक काय किया।

(२) चन्द्रमा, नक्षत्र रात्रि और दिवस—चन्द्रमा रात्रि मे दीप्तिमान् रहता है और नक्षत्र भी देदीप्यमान रहते हैं। घना अंधकार इनके प्रकाश को और भी अधिक चमकीला बनाता है और दिवस के आते ही नक्षत्र कहाँ लुप्त हो जाते हैं चन्द्रमा की भाँति कहाँ खो जाते हैं यह आश्चयप्रदायक है। ऋग्वेद मे वरुणदेव को इनका नियता कहा गया है। ऋग्वदिक आय भी इन प्रश्नो से अभिभूत दिखाई देता है। ऋषि कहते हैं— ये नक्षत्र ऊपर आकाश मे उच्च भाग मे रखे गये हैं ये रात्रि के समय ही दिखाई देते हैं परन्तु ये दिन में कहाँ चले जाते हैं? वरुणदेव के नियम अटूट हैं। विशेष चमकता हुआ चन्द्रमा रात्रि मे आता है।[4] नियमानुसार चलने वाला वरुण देव ही बारह महीनो के विषय मे जानता है।[5]

वरुण के अतिरिक्त धाता को भी चन्द्रमा की रचना करने वाला कहा गया

---

१ य पृथिवी व्यथमानामदृंहद्य पवतान् प्रकुपितॉं अरम्णात्। ऋग्वेद २।१२।२

२ वि समना भूमिरप्रथिष्टाऽरंस्त पवत श्चित् सरिष्यन्। वही २।११।७।

३ नि पर्वता अद्मसदो न सदुस्त्वया दृळ्हानिसुक्रतो रजांसि। वही ६।३०।३।

४ अमी य ऋक्षा निहितास उच्चा नक्त ददृश्रे कुह चिद् दिवेयु।
अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि विचाकशच्चन्द्रमा नक्तमेति। वही १।२४।१०।

५ वेद मासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावत। वेदा य उपजायते। वही १।२५।८।

है ।[1]

(३) नदियाँ

(अ) वरुण नदियो का धारक है। सभी का धारण पोषण करने वाले अदिति के पुत्र वरुण ने पानी को चारो और से प्रवाहित किया। इसी वरुण की शक्ति से नदियां बहती है। ये नदियाँ कभी थकती नही। न ये कभी अपना प्रवाह बन्द करती हैं अपितु पक्षी के समान तीव्रता से पृथ्वी पर घूमती रहती हैं।[2] समग्र नदियाँ समुद्र मे जाकर गिरती हैं किन्तु फिर भी समुद्र नही भरता। ऋग्वैदिक आर्यों के इस अति कठिन प्रश्न का ऋषि ने सरल-सा उत्तर दे डाला। 'प्रवाहवाली पृथ्वी को सीचने वाली नदियाँ अपने जल से एक समुद्र को भी नही भर पातीं अत्यन्त ज्ञानी वरुणदेव की इस माया को आज तक कोई नष्ट नही कर पाया है।[3]

(आ) इन्द्र—इन्द्र ने नदियो के बहने के लिए मार्ग बनाया[4] और जलों के प्रवाह रूप वम को नीचे की ओर प्रवाहित किया।[5] नदियाँ कभी इन्द्र का कहा नही टालती।[6]

(इ) सोम—सोमदेव भी जलो से सम्बन्धित है। जलो के प्रवाहक होने के साथ साथ वे वर्षा पर स्वामित्व भी करते हैं।[7]

(ई) रुद्र—रुद्रदेव पृथिवी पर नदियो को प्रवाहित करते हैं। इनकी सहायता से नदियाँ प्रवाहित होती हुई पृथिवी को आच्छादित करती हैं।[8]

(उ) सविता—विस्तृत हाथों वाला यह तेजस्वी सविता देव सम्पूर्ण जगत् के सुख के लिये उदय होकर अपनी भुजाओ को फलाता है। अत्यन्त पवित्र करने वाले ये जल भी इसी सविता देव के नियम मे बहते हैं।[9]

वस्तुत जलो की रचना ईश्वर ने की है और वे सतत प्रवाहशील हैं। ईश्वर

---

१ सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। ऋग्वेद १०।१६०।३।

२ प्र सीमादित्यो असृजद् विधर्ता ऋत सिन्धवो वरुणस्य यन्ति।
न श्राम्यन्ति न वि मुचन्त्येते वयो न पप्तू रघुया परिज्मन वही २।२८।४।

३ इमामू नु कवितमस्य माया मही देवस्य नकिरा दधर्ष।
एक यदुद्ना न पृणन्त्येनीरासिञ्चन्तीरवनय समुद्रम्। वही ५।८५।६।

४ या सूर्यो रश्मिभिराततान याभ्य इन्द्रो अरदद् गातु मूर्मिम्। वही ७।४७।४।

५ य प्राचीनात पर्वतान दृहदोजसाऽधराचीनमकृणोदपामप। वही, २।१७।५।

६ वही ७।४७।३।

७ वही ६।७४।३।

८ प्र रुद्रेण ययिना यन्ति सिन्धवस्तिरो महीम रमतिं दधन्विरे। वही, १०।९२।५।

९ विश्वस्य हि श्रुष्टये देव ऊर्ध्व प्र बाहवा पृथुपाणि सिसर्ति।
आपश्चिदस्य व्रत आ निमृग्रा अय चिद् वातो रमते परिज्मन्। वही, २।३८।२।

की अलौकिक शक्ति इनकी नियामक है। ऋग्वैदिक आर्यों के लिये यह उनके देवों का आश्चर्यजनक कार्य है जिसको सदैव अपने अनुकूल बनाने के लिए स्थान स्थान पर प्रार्थनायें प्राप्त होती हैं।

(४) वर्षा—प्रकृति के चमत्कारपूर्ण कार्यों को देखकर व्यक्ति के हृदय में स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि यह क्या है ? कौन इसका कर्त्ता है ? वर्षा की रिमझिम रिमझिम ध्वनि को सुनकर मानव हृदय नृत्य करने लगता है और उस आश्चर्योत्पादक कर्म के लिये अज्ञात शक्ति के प्रति नतमस्तक हो जाता है। ऋग्वैदिक आर्यों ने मेघ और वर्षा के विषय मे देवों और उनकी अतिमानवीय शक्ति को इनका नियन्ता स्वीकार किया है।

(अ) वरुण—वरुणदेव द्यु पृथ्वी और अन्तरिक्ष के हित के लिये मेघ को नीचे की ओर मुख करके मुक्त कर देता है उस वृष्टि से समस्त भुवनों का स्वामी वरुण जिस तरह धान्य को पुष्ट करता है उसी तरह भूमि को उपजाऊ बनाता है।[1] इसी प्रकार जब वरुण जल बरसाना चाहता है तभी भूमि विस्तृत अन्तरिक्ष और द्युलोक को जल से सींच देता है।[2]

(आ) मरुत्—वीर मरुद्गण जल देने वाले और वृष्टि को प्रेरणा देने वाले हैं।[3] ये मेघो को प्रेरित कर सम्पूर्ण विश्व मे वर्षा करते है। सूखे हुए प्रदेशो मे वर्षा कराते हैं।[4]

(इ) बृहस्पति—बृहस्पति से प्रार्थना की गई है कि वे जल की वृष्टि करने वाले मेघो को प्रेरित करें जिससे वृष्टि हो।[5]

(ई) पर्जन्य—पर्जन्य देव की स्तुति मे कहा गया है कि—हे पर्जन्य तू गड़गड़ा गर्जन कर और वृक्षो मे गर्भ स्थापित कर तथा जलरूपी रथ से चारो ओर भ्रमण कर। जल से पूर्ण घड़े को नीचे मुखवाला कर तथा उत्तम रीति से खाली कर ताकि ऊंचे और नीचे प्रदेश बराबर हो जायें[6]।

(उ) सोम—सोम जल वृष्टि करते हैं। उनसे भी ऋग्वैदिक आर्यों ने स्वर्ग

---

१ नीचीनबारं वरुणः कबन्धं प्र ससर्ज रोदसी अन्तरिक्षम्।
तेन विश्वस्य भुवनस्य राजा यवं न वृष्टिर्व्युनत्ति भूम। ऋग्वेद ५।८५।३।

२ उनत्ति भूमिं पृथिवीमुत द्यां यदा दुग्धं वरुणो वष्ट्यादित्। वही ५।८५।४।

३ आ वो यन्तूदवाहासो अद्य वृष्टिं ये विश्वे मरुतो जुनन्ति। वही ५।५८।३।

४ वही ५।५३।६।

५ वही, १०।९८।१८।

६ अभिक्रन्द स्तनय गर्भमा धा उदन्वता परि दीया रथेन।
दृतिं सु कर्ष विषितं न्यञ्चं समा भवन्तूद्वतो निपादा। वही, ५।८३।७।

से पृथिवी पर वृष्टि की प्रार्थना की है।[1] वृष्टि के लिए सोम मेघ को विदीर्ण करते हैं।[2]

(ऊ) अग्नि—अग्निदेव अन्तरिक्ष से वर्षा करते हैं।[3]

(ए) इन्द्र—एक स्थल पर यजमान के द्वारा दस अंगुलियों से पूजित इन्द्र ने मेघ से तीन किरणों द्वारा जल वर्षा की, ऐसा कहा गया है।

५ सूर्य—सूर्य भी एक ईश्वरीय चमत्कार है अनेक देव इस आश्चर्य के कर्ता हैं।

(अ) वरुण—द्युलोक में सूर्य को स्थापित किया गया है।[4] वरुण ने सूर्य को स्वर्ण के झूले के समान तेज मे निहित रखा है।[5] वरुण ने ही सूर्य को अन्तरिक्ष मे मार्ग दिया था।[6]

(आ) मित्रावरुण—युग्म रूप से भी ये दोनो सूर्य को स्थापित करते हैं।[7] एक ऋचा मे इसका उल्लेख है—'हे मित्रावरुण! तुम दोनो की सामर्थ्य द्युलोक मे आश्रित है उसी के कारण सूर्य का सुन्दर शस्त्र रूपी प्रकाश विचरता है।[8] एक स्थल पर कहा है—'जब किरणें सूर्य को द्युलोक मे चढ़ाती हैं तब वरुण और मित्र अपने अपने कर्मों का अनुसरण करते हैं।[9] यह निश्चित स्थान पर सूर्य के अश्वों को खोलता है।[10]

मित्र वरुण और अर्यमा—ये तीनों भी सूर्य के लिये मार्ग देते हैं।[11]

---

१ वही ९।९६।३ वृष्टि नो अर्ष दिव्यां जिगत्नुमिळावतीं शंगयीं जीरदानुम्।
ऋग्वेद ९।९७।१७।
पवस्व वृष्टिमा सु नोऽपामूर्मिं दिवस्परि। अयक्ष्मा बृहती रिष। वही ९।४९।१
वृष्टिं दिव परि स्रव द्युम्नं पृथिव्या अधि सहो न सोम पृत्सु धा। वही ९।८।८
२ वही ९।१०८।९ १०।
३ स नो वृष्टिं दिवस्परि। वही २।६।५
४ आ दशभिर्विवस्वत इन्द्र कोशमचुच्यवीत्। खेदया त्रिवृता दिव।
वही ८।७२।८
दिवि सूर्यमदधात्। ऋग्वेद ५।८५।२
५ गृत्सो राजा वरुणश्चक्र एत दिवि प्रङ्ख हिरण्ययं शुभेकम्। वही ७।८७।५
६ उरु हि राजा वरुणश्चकार सूर्याय पन्थामन्वेतवा उ। वही, १।२४।८
रदत्पथो वरुण सूर्याय प्राणांसि समुद्रिया नदीनाम्। वही ७।८७।१
७ माया वा मित्रावरुणा दिवि श्रिता सूर्यो ज्योतिश्चरति चित्रमायुधम्।
वही, ५।६३।४
८ सूर्यमा धत्थो दिवि चित्र्यं रथम्। वही, ५।६३।७
९ अनु व्रतं वरुणो यन्ति मित्रो यत् सूर्यं दिव्यारोहयन्ति। वही ४।१३।२
१० ऋतेन ऋतमपिहितं ध्रुवं वां सूर्यस्य यत्र विमुचन्त्यश्वान्। वही ५।६२।१
११ यस्मा आदित्या अध्वनो रदन्ति मित्रो अर्यमा वरुण सजोषा। वही, ७।६०।४

(इ) उषा—यह सूर्य अग्नि और यज्ञ को प्रकट करती है।[1]

(ई) देवताओं ने आकाश मे छिपे सूर्य को प्रकाशित किया।[2]

(उ) धाता ने सूय के साथ चन्द्र स्वर्गलोक पृथिवी और अन्तरिक्ष की रचना की।[3]

इसी प्रकार अन्य देवता भी इस चमत्कार के कर्ता हैं। इन्द्र,[4] सोम[5] अग्नि,[6] उषा[7] आदि बहुत से देवता सूय के उत्पादक और नियन्ता है।

६ द्युलोक पृथिवीलोक और आकाश—इनकी सरचना मे वैदिक आर्यों के बहुविध विचार हैं। वस्तुत यह महान् आश्चय का काय है कि आकाश कैसे स्थित रहता है? किस शक्ति के द्वारा यह स्थित रहता है? प्रस्तुत प्रश्न का समाधान ऋग्वैदिक आर्यों के मत मे इस रूप मे है—पवित्र काय के लिये अपना बल लगाने वाला राजा वरुण वन के स्तम्भ को आधार रहित आकाश में ऊपर ही ऊपर धारण करता है इसकी शाखाय नीचे होती है इनका मूल ऊपर है। इसके मध्य म किरणें फली रहती है।[8]

मित्रावरुण[9] सविता[10] विष्णु[11] इन्द्र[12] अग्नि[13] बृहस्पति[14] सोम[15] और धाता[16] द्य पथिवी और आकाश के स्रष्टा और धारक कहे गये हैं।

---

१ अग्र एति युवतिरह्रयाणा प्राचिकितत्सूय यज्ञमग्निम्। ऋग्वद ७।८०।२

२ अत्रा समुद्र आ गूळहमा सूर्यमजभतन। वही १०।७२।७

३ वही १०।१९०।३

४ वही ३।४४।२, ३४।९ ३९।५ ११३०।९ ३२।४ ५।१४ ५२।८ १०।६२।३ १९०।३

५ वही ९।४२।१ ८५।९ ९६।५ १०७।७ ६।४४।२३

६ वही, १०।३।२ १५६।४ ७।९९।४

७ वही १।११३।१६ ७।७८।३

८ अबुध्ने राजा वरुणो वनस्योध्व स्तूप ददते पूतदक्ष ।
नीचीना स्थुरुपरि बुध्न एषामस्म अ तर्निहिता केतव स्य । वही, १।२४।७

९ वही ५।६२।३ ६९।१, ४।१०
सविता यन्त्र पृथिवीमरम्णादस्कम्भनेसविता द्यामदृहत्।

१० अश्वमिवाधुक्ष धुनिम तरिक्षमतूर्ते बद्ध सवितासमुद्रम्। वही १०।१४९।१

११ वही १।१५४।४

१२ वही १।२।२ १७।५ १३।५ ८।३६।४ १०।९ ३।६ १०।८९।४

१३ वही १।६७।३ ३।६।५ ६।८।२ ३ ७।७

१४ वही ४।५०।१

१५ वही ६।४४। ३ २४ ४७।३-४ ९।९०।१

१६ वही १०।१९०।३

इस प्रकार हमें ब्रह्माण्ड सम्बंधी आश्चर्यों और चमत्कारों का समूह ऋग्वेद में प्राप्त होता है जो विभिन्न देवों की भक्ति का परिणाम है।

पुनयु वाकरण और वन्ध्यात्व का निवारण

इतिहास और सभ्यता के प्रकाश मे मनुष्य का पुनर्युवाकरण के विषय मे विचारना भी कल्पना के परे की बात है किन्तु ऋग्वैदिक परम्परा मे जहाँ आर्य अतिमानवीय अलौकिक शक्ति मे विश्वास करते थे हमें अन्य चमत्कारो और आश्चर्योत्पादक तथ्यों के समान पुनर्युवाकरण जैसे अलौकिक कृत्य को स्वीकार कर लेना पड़ता है। ऋग्वेद मे देवों द्वारा च्यवन, कलि और कक्षीवत् आदि को पुन युवा कर देने का वर्णन प्राप्त होता है।

(१) **कलि को नवयौवन की प्राप्ति**—जब कलि वृद्धावस्था को प्राप्त कर रहे थे तब अश्विनी देवो ने उस वृद्ध स्तोता को फिर से यौवन प्रदान किया।[1] ऋग्वेद की एक अन्य ऋचा मे कलि का उल्लेख प्राप्त होता है जिसमे पुन अश्विनी देवो को सम्बोधित करके उनकी उन रक्षाओं सहित उनसे अपने पास आने का अनुरोध किया गया है जिन शक्तियो से उन दोनो ने विवाहित कलि की सुरक्षा की थी।[2]

(२) **कक्षीवान का पुनर्युवाकरण**—महान् ऋषि कक्षीवान् स्तुति करते हुए सौ वर्ष की अवस्था वाले थे[3] जिन्हे अश्विनी देवो द्वारा पुन युवावस्था प्राप्त करायी गई। एक स्थल पर कहा गया है कि जब यज्ञ करते करते महर्षि कक्षीवान् वृद्ध हो गये तो अश्विनी देवो ने जैसे जीर्ण रथ को नवीन बना दिया जाता है वैसे ही उन ऋषि को युवावस्था प्रदान की। इनकी स्तुतियो से इन्द्र प्रसन्न हुए और सोमयाग करने वाले इनके लिये कम आयु वाली वचया नामक स्त्री प्रदान की।[5]

(३) **ऋषि च्यवन का पुनर्युवाकरण**—ऋषि च्यवन को भी फिर से

---

१ युवं विप्रस्य जरणामुपेयुषः पुनः कलेरकृणुतं युवद्वयः। ऋग्वेद १०।३९।८

२ याभिर्वम्रं विपिपानमुपस्तुतं कलिं याभिर्वित्तजानिं दुवस्यथः।
याभिर्व्यश्वमुत पृथिमावतं ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्॥
वही, १।११२।१५

३ आ हिन्विरे मनसा देवयन्तः कक्षीवते शतहिमाय गोनाम्। वही ९।७४।८
ग्रिफिथ के अनुसार शतहिमाय का अर्थ है—हन्ड्रेड विन्टर्स द्रष्टव्य प्रस्तुत ऋचा पर ग्रिफिथकृत अनुवाद।

४ रथं चिदजिमृतजुरमर्थमयव न यातवे।
कक्षीवन्तं यदी पुना रथं न कृणुथो नवम्। ऋग्वेद १०।१४३।१

५ अददा अर्भां महते वचस्यवे कक्षीवते वृचयामिन्द्र सुन्वते।
वही, १।५१।१३

अश्विनी देवो ने ही युवावस्था प्रदान की। ऋग्वेद की अनेक ऋचाओ मे च्यवन को पुन तरुण बना देने का उल्लेख प्राप्त होता है।[1] एक ऋचा मे ऋषि च्यवन के युवाकरण को जीर्ण रथ को पुन नवीन बना देने से उपमित किया गया है।[2] अन्यत्र कहा गया है कि हे अश्विनी देवो! बूढे च्यवन से ढकने वाली त्वचा को कवच के समान तुमने उतार डाला और उसे युवक बना दिया तब वह वधू के द्वारा कामना करने योग्य रूप को प्राप्त हुआ।[3] एक अन्य ऋचा मे कवच के समान त्वचा को उतार कर[4] युवा बन जाने की चर्चा की गई है।[5]

(३) अन्य उदाहरण—ऋग्वेद मे अनेक बार ऋभुओ द्वारा अपने माता पिता को तरुण बना देने का उल्लेख है। सुधन्वा के पुत्रो और वीर नेता ऋभुओ को सम्बोधित करके कहा गया है कि उन्होने अपने माता पिता को तरुण बनाया।[6] एक मन्त्र मे ऋभुओ का घूमने फिरने के लिए अपने माता पिता को तरुण बना देने का उल्लेख है।[7] अन्यत्र भी कहा गया है—ऋभुओ ने पडे हुए खम्भे के समान जीर्ण होकर पडे हुए माता पिता को फिर से सदव के लिये तरुण बना दिया।[8]

ऋभु कोई वैद्य नही थे। ऋग्वेद मे इनका वर्णन कर्म कुशल के रूप मे किया गया है ऋभुओ ने अपने माता पिता को अलौकिक रूप से युवा बनाया। वस्तुत यह एक चमत्कार ही था।

बन्ध्यात्व का निवारण—पुनर्युवाकरण की भाँति ही बाँझपन का निवारण भी देवो की अतिमानवीय शक्ति का चमत्कार ही है। अश्विना देव वैद्य कहे जाते हैं किन्तु प्रस्तुत चमत्कृतिया किसी औषधि का परिणाम प्रतीत नही होती ये पूर्ण रूप से देवो की अलौकिक शक्ति का परिणाम है।

---

१ युव च्यवानमश्विना जरन्त पुनर्युवान चक्रथु शचीभि । ऋग्वेद १।११७।१३
पुनश्च्यवान चक्रथुर्युवानम्। वही १।११८।८

२ युव च्यवान सनय यथा रथ पुनर्युवान चरथाय तक्षथु । वही १०।३९।४

३ प्र च्यवानाज्जुजुरुषो वव्रिमत्क न मुञ्चथ ।
युवा यदी कृथ पुनरा काममृण्वे वध्व । वही ५।७४।५

४ जुजुरुषो नासत्योत वव्रि प्रामुञ्चत द्रापिमिव च्यवानात्। वही १।११६।१०

५ उत त्यद्वा जुरते अश्विना भूच्च्यवानाय प्रतीत्य हविर्दे।
अधि यद्वर्प इतऊति धत्थ । वही ७।६८।६

६ शच्याकर्त पितरा युवाना शच्याकर्त चमस देवपानम्। वही, ४।३५।५
युवाना पितरा पुन सत्यमन्त्रा ऋजूयव । ऋभवो विष्ट्यक्रत। वही १।२०।४
सीं वनास स्वपस्यया नरो जिव्री युवाना पितराकृणोतन। वही १।११०।८

७ जिव्री यद् सन्ता पितरा सनाजुरा पुनर्युवाना चरथाय तक्षथ। वही ४।३६।३

८ पुनर्ये चक्रु पितरा युवाना सना यूपेव जरणा शयाना। वही ४।३३।३

बन्ध्यात्व के निवारण के उदाहरण—एक नपुंसक की पत्नी को अश्विनी देव ने पुत्र प्रदान किया। उसको प्राप्त पुत्र का नाम श्याव[1] अथवा हिरण्यहस्त[2] था। वस्तुत एक नपुंसक की पत्नी का गर्भवती होना असम्भव है, किन्तु ऋग्वेद में वध्रिमती को पुत्र की प्राप्ति एक चमत्कारस्वरूप वर्णित की गई है। अन्यत्र भी वध्रिमती को पुत्र प्राप्ति का उल्लेख प्राप्त होता है।[3]

अश्विनी देवो ने शयु पर कृपा की थी अत उन्होंने गर्भ धारण करने में असमर्थ दुर्बल दूध न देने वाली शयु की गौ को दुधारू बना दिया।[4] एक अन्य ऋचा म भी थके मादे शयु ऋषि के लिये अश्विनी देवो ने उनकी वन्ध्या गौ को अपनी शक्तियो से दुधारू बनाया इसका उल्लेख किया गया है[5] इसी तथ्य की पुष्टि अन्य ऋचाओ मे भी प्राप्त होती है।[6] अन्यत्र अश्विनी देवो को ही सम्बोधित करके कहा गया है कि तुमने शयु ऋषि की पुकार को सुना और जसे नदी खेतो को जल से भरती है वसे ही वृद्ध गौ का तमने दुग्ध से परिपूर्ण किया।[7] शयु के आह्वान पर अश्विनी देवों ने उसके प्रति यह उपकार किया।

(ग) जल और अग्नि से रक्षा

सम्पूण ऋग्वेद मे आर्यों के प्राकृतिक शक्तियों से भय के कारण उन शक्तियो के शमनाथ प्राथनाओ का सग्रह भरा पडा है, स्थान स्थान पर अग्नि वायु जल अथवा वर्षा का महत्त्वपूर्ण स्थान दिखाई देता है। वदिक आय जल और भीषण अग्नि के प्रकोप से आतकित प्रतीत होता है। वस्तत नदियों और जगलो के देश मे यह स्वाभाविक भी है। बाढ़ का भय अनेक ऋचाओ के माध्यम से आर्यों के हृदयगत भाव का प्रदशन करता है। विशेषत झरने और नदिया ऋजियो के माग म बाधक बनती थी इसीलिये आर्यों ने अपने आराध्य देवों से

---

१ भुज्युमहम पिपृथो निरश्विना श्याव पुत्र वध्रिमत्या अजिन्वतम्।
ऋग्वेद १०।६५।१२

२ श्रुत तच्छासुरिव वध्रिमत्या हिरण्यहस्तमश्विनावदत्तम्। वही १।११६।१३

३ युव हव वध्रिमत्या अगच्छत युव सुषुतिं चक्रथु पुरन्धये। वही, १०।३९।७
बि जुगुषा रथया यतमद्रि श्रुत हवं वषण वाध्रिमत्या। वही ६।६२।७
हिरण्यहस्तमश्विना रराणा पुत्र नरा वध्रिमत्या अदत्तम्। वही १।११७।२४

४ अधेनु दस्रा स्तय विषक्तामपिन्वत शयवे अश्विना गाम्। वही, १।११७।२०

५ युव धेनु शयवे नाधितायापिन्वतमश्विना पूर्व्याय। वही, १।११८।८
शयवे चिन्नासत्या शचीभिर्जसुरये स्तर्यं पिप्यथुर्गाम्। वही, १।११८।२२

६ युवं शयोरवसं पिप्यथुर्गवि। वही १।११९।६
पर्वतमपिन्वत शयवे धेनुमश्विना। वही, १०।३९।१३

७ वृकाय चिज्जसमानाय शक्तमुत श्रुतं शयवे हूयमाना।
यावघ्न्यामपिन्वतमपो न स्तर्यं चिच्छक्त्यश्विना शचीभि। वही, ७।६८।८

उनके आनुकूल्य की प्रार्थना की है। यद्यपि दावानल का कोई उद्धरण ऋग्वेद मे प्राप्त नहीं होता किन्तु अग्नि के भयावह खतरे और झुलसा देने वाली आग के सन्दर्भ एकत्रित किये जा सकते हैं। देवा द्वारा खतरे मे पडे जीवों को आश्चर्योत्पादक ढंग से रक्षा करने के उल्लेख मिलते है।

जल से रक्षा

१ वय्य और तुर्वीति

इन्द्र ने वय्य और तुर्वीति की अपनी शक्तियो द्वारा रक्षा की। कहा है—हे इन्द्र ! तूने तर्वीति और वय्य के लिये सबको तृप्त करने वाली धान्य देने वाली विस्तृत पृथ्वी को बहने वाले जल से और अन्न से आनन्दित किया और तूने नदियो को उत्तमता से पार करन योग्य बनाया।"[1] एक अन्य स्थल पर इन्द्र का तुर्वीति और वय्य को सुखपूर्वक जल से पार जाने के लिये जलों के प्रवाह को नियम मे रखने का वर्णन किया गया है।[2] अन्यत्र भी इन्द्र के शौर्य की प्रशसा मे कहा गया है कि उन्ही के बल से नदिया बहती हैं इन्द्र ने ही वज्र से उन्हे सीमित कर दिया तथा तर्वीति ऋषि के लिये स्थान को बनाया।[3]

२ भुज्यु—तुग्र के पुत्र भुज्यु को समुद्र मे डाल दिया गया था। तुग्र ने अपने पुत्र को शत्रुओ को मारने हेतु समुद्र मे फेंक दिया था। कहा गया है—हे अश्विनी देवो ! मृत्यधर्मा जिस प्रकार अपनी धन सम्पदा को छोड देता है उसी प्रकार जलो मे भरे प्रचण्ड समुद्र मे तुग्र नरेश ने अपने पुत्र भुज्यु को शत्रु पर आक्रमण करने के लिये छोड दिया जबकि ऋक० ७।६८।७ मे दुष्टो द्वारा भुज्यु को समुद्र मे डाल देने का वर्णन है।[5] अश्विनी देवो से प्रार्थना करने पर उन्होने अपने यानो से[6] स्थान रहित आलम्बनशून्य जहाँ हाथ से किसी को पकडना असम्भव है ऐसे अगाध समुद्र मे सौ बल्लियो से चलायी जाने वाली नौका पर चढे हुए भुज्यु की रक्षा करके उसे उसके घर पहुचाया। वस्तुत यह बडा वीरता

१ त्व महीमवनि विश्वधेना तुर्वीतये वय्याय क्षरन्तीम्।
अरमयो नमसैजदर्ण सुतरणाँ अकृणोरिन्द्र सिन्धून्। ऋग्वेद ४।१९।६

२ अरमय सरपसस्तराय क तुर्वीत ये च वय्याय च स्रुतिम्। वही, २।१३।१२

३ अस्येदु त्वेषसा रन्त सिन्धव परि यद् वज्रेण सीमयच्छत्।
ईशानकृद् दाशुषे दशस्यन् तुर्वीतये गाध तुर्वणि क। वही १।६१।११

४ तुग्रो ह भुज्युमश्विनोदमेघे रयिं न कश्चिन्ममृवाँ अवाहा।
तमूहथुर्नौभिरात्मन्वतीभिरन्तरिक्षप्रुद्भिरपोदकाभि। वही १।११६।३

५ उत त्य भुज्युमश्विना सखायो मध्ये जहुर्दुरेवास समुद्रे। वही ७।६८।७

६ तिस्र क्षपस्त्रिरहातिव्रजद्भिर्नासत्या भुज्युमूहथु पतङ्गै।
समुद्रस्य धन्वन्नार्द्रस्य पारे त्रिभी रथै शतपद्भि षळश्वै। वही, १।११६।४

पूर्ण कार्य था अश्विनी देवो ने तरुण तुग्र के लिये उपकार करके मान्यता प्राप्त की थी। तब भुज्यु को भी पक्षी जैसे उड़ने वाले यानो से तथा शीघ्रगामी अश्वों से पूर्ण रीति से उठाकर पहुचाया था।[1] एक ऋचा में पुन इसी सन्दर्भ के विषय में स्तोता कह रहा है— हे बलवान् अश्विनी देवो! समुद्र-यात्रा के लिये भेजा गया तुग्र का पुत्र किसी प्रकार की पीड़ा न प्राप्त कर चला गया। जब उसने तुम दोनों को सहायतार्थ बुलाया, तब उसे मन के तुल्य वेगवान् तथा अच्छी तरह जोते हुए रथ से सकुशल तुम दोनो ने पिता के घर पहुँचा दिया।[2] अन्यत्र भी वेग पूर्वक जाने वाले गति साधनो से भुज्यु को संरक्षण और आश्रय का वर्णन किया गया है।[3]

३ रेभ और वन्दन

पूर्णत जल मे डुबाये हुए और बधे हुए रेभ और वन्दन को अश्विनी देवो ने अपने साधनो से बचाया।[4] रेभ नामक ऋषि को दुष्ट असुरो ने पाश रज्जू से बाधकर जल मे फेंक दिया था। दस रात्रि और नौ दिन व्यतीत हो जाने पर अश्विनी देवो ने ज्ञात होने पर तत्काल उस भीगे त्रस्त हुए और पीडित हुए ऋषि को जैसे स्रुवा से सोमरस को ऊपर उठा लेते हैं उसी प्रकार ऊपर निकाल लिया और आरोग्य सम्पन्न बना दिया।[5] एक अन्य स्तुति मे बलिष्ठ और शत्रुविनाश कर्त्ता अश्विनी देवो की प्रशसा मे कहा गया है कि उन्होने अपने कौशलपूर्ण कर्मों

---

१ युव नरा स्तुवत पज्रियाय कक्षीवते अरदत पुरन्धिम्।
कारोतराच्छफादश्वस्य वृष्ण शत कुम्भाँ असिञ्चत सुराया। ऋग्वेद १।११६।७

२ युव तुग्राय पूर्व्येभिरेव पुनर्मन्यावभवत युवाना।
युव भुज्युमर्णसो नि समुद्राद् विभिरूहथुर्ऋज्रेभिरश्वै वही, १।११७।१४

३ अजोहवीदश्विना तौग्र्यो वा प्रोळ्ह समुद्रमव्यथिर्जगन्वान्।
निष्टमूहथु सुयुजा रथेन मनोजवसा वृषणा स्वस्ति। वही १।११७।१५

४ अवविद्ध तौग्र्यमप्स्व तरनारम्भणे तमसि प्रविद्धम्।
चतस्रो नावो जठलस्य जुष्टा उदश्विभ्यामिषिता पारयन्ति। वही १।१८२।६
युवमेत चक्रथु सिन्धुषु प्लवमात्मन्वन्त पक्षिण तौग्र्याय कम्।
येन देवत्रा मनसा निरूहथु सुपप्तनी पेतथु क्षोदसो मह। वही १।१८२।५
युक्तो ह यद् वा तौग्र्याय पेरु वि मध्ये अर्णसो धायि पज्र।
उप वामव शरण गमेय शूरो नाज्म पतयद्भिरेवै। वही १।१५८।३
याभी रेभ निवृत सितमद्भ्य उद् वन्दनमैरयत स्वर्दृशे। वही १।११२।५

५ दश रात्रीरशिवेना नव द्यूनवनद्ध श्नथितमप्स्वन्त।
विप्रुत रेभमुदनि प्रवृक्तमुन्निन्यथु सोममिव स्रुवेण। वही १।११६।२४

से वन्दन को ऊपर उठाया और रेभ को अपनी शक्तियों से पार लगाया।[1] दुष्ट कर्मकर्ताओं द्वारा जलों मे फेंके गये ऋषि रेभ को जो विशेष शिथिल-सा और दुर्बल बन गया था[2] देवो ने बचाया।

वन्दन गढ्ढे मे गिर गया था। अश्विनी देवों ने गड़े खजाने की भाँति उसकी रक्षा की। सत्य के पालक अश्विनी देवों को सम्बोधित करके कहा गया है कि तुम्हारा यह कार्य प्रशसनीय और आराध्य है जो छिपाये हुए खजाने के समान, देखने योग्य गढ्ढे से वन्दन को तुम दोनो ने ऊपर उठाया।[3] अन्यत्र भी वन्दन के तारण को उपमित किया गया है— अधेरे मे छिपे पड़े सूर्य के समान भूमि पर सोये हुए के समान पृथ्वी के अन्दर गाड़े हुए शोभा के लिये दर्शनीय सुवर्ण भूषण के समान वन्दन के हित के लिये उसे अश्विनीद्वय ने ऊपर उठाया और उसे दीर्घ जीवन प्रदान किया।[4] देवों ने एक जीर्ण रथ को सवार देने की भाँति वन्दन को भी सुपुष्ट बना दिया।[5]

४ त्रित

कुए मे पड़े हुए त्रित ने अपनी सुरक्षा के लिये देवो से प्रार्थना की। बृहस्पति ने प्रार्थना सुनी और कष्टों से छुटकारा पाने के लिये विस्तृत मार्ग बना दिया।[7] एक अन्य स्थल पर भी त्रित का सदर्भ प्राप्तव्य है।[8]

५ कुत्स

कुत्स ऋषि एक कुए मे गिर गये। कुए मे गिरे हुए कुत्स ऋषि अपनी सुरक्षा

---

१ उद् वन्दनमैरत दंसनाभि रुद्रेभं दस्रा वृषणा शचीभि । ऋग्वेद १।११८।६

२ अश्वं न गूळ्हमश्विना दुरेवैर्ऋषिं नरा वृषणा रेभमप्सु ।
 सं तं रिणीथो विप्रुतं दंसोभिर्न वां जूर्यन्ति पूर्व्या कृतानि । वही १।११७।४

३ युवं रेभं परिषूतेरुरुष्यथो हिमेन घर्मं परितप्तमत्रये ।
 युवं शयोरवसं पिप्यथुर्गवि प्र दीर्घेण वन्दनस्तार्यायुषा । वही, १।११९।६

४ तद् वां नरा शंस्यं राध्यं चाभिष्टिमन्नासत्या वरूथम् ।
 यद् विद्वांसा निधिमिवापगूळ्हमुद् दर्शतादूपथुर्वन्दनाय । वही १।११६।११

५ सुषुप्वांसं न निर्ऋतेरुपस्थे सूर्यं न दस्रा तमसि क्षियन्तम् ।
 शुभे रुक्मं न दर्शतं निखातमुदूपथुरश्विना वन्दनाय । वही १।११७।५

६ वही १।११९।६

७ त्रितः कूपेऽवहितो देवान् हवत ऊतये ।
 तच्छुश्राव बृहस्पतिः कृण्वन्नंहूरणादुरु वित्तं मे अस्य रोदसी ।
 वही १।१०५।१७

८ वही, १०।८।७

के लिए शत्रुनाशक और शक्तिशाली इन्द्र की प्रार्थना करते रहे।[1] अनेक स्थलों[2] पर कुत्स की रक्षा का प्रसग प्राप्त होता है। सम्भवत कुएं में, गिरे हुए ऋषि कुत्स वही हैं।

अग्नि से रक्षा

अत्रि ऋषि को एक झुलसा देने वाले कारागृह मे डाल दिया गया था। अश्विनी देवो ने अपने कर्म-कौशल से चमत्कार करके उनकी रक्षा की। इन देवो की स्तुति और प्रशसा करते हुए, उनके चमत्कृतिपूर्ण कृत्यो का गान करते हुए यह वर्णन भी है कि अश्विनी देवो ने गर्म और तपे हुए कारागृह को अत्रि ऋषि के लिये शान्त बना दिया।[3] अन्यत्र अश्विनी देवों की स्तुति मे कहा गया है कि वे दोनो शत्रु का विनाश करने वाले हैं अहितकारी शत्रुओं की माया को एक एक करके पीछे हटाने वाले हैं। उन्होंने समाज के हितकर्ता अत्रि ऋषि को कष्टदायक अधेरे कारागृह से उसके अनुयायियो सहित छुडाया।[4] वह कारागृह अत्यधिक तप्त और गर्म था[5] जिसे देवो ने हिमसम शीतल बना दिया था।[6] सर्वप्रथम देवों ने धधकती हुई अग्नि को बर्फ से हटाया। एक स्थल पर गर्मी को मिठासयुक्त बना देने का वर्णन मिलता है। अश्विनी देवो ने सुख चाहने वाले अत्रि के लिये निश्चय पूर्वक गर्मी को जल के प्रवाह के समान मिठासयुक्त कर दिया।[8] केवल रक्षा ही नही अश्विनी देवो ने अत्रि और उनके अनुयायियो को आश्चर्यजनक रूप से अन्न भी प्रदान किया। अधेरे कारागृह मे औंधे मुह पडे हुए ऋषि अत्रि को उनके अनुयायियो सहित उत्तम रीति से ऊपर उठाया और इसे पुष्टिकारक और बलवर्धक अन्न प्रदान किया।[9] अन्यत्र भी अत्रि ऋषि के सरक्षण का चमत्कार-पूर्ण कृत्य उल्लिखित है।[10] शत्रुओ ने अत्रि मुनि को बाध रखा था परन्तु देवो ने

१ इन्द्र कुत्सो वृत्रहण शचीपति काटे निबाह्ळ ऋषिरह्वदूतये। ऋग्वेद १।१०६।६
२ वही १।१७५।४ ४।१६।११ १२ ५।२९।९ १० ८।१।११ १०।४९।३ ४
३ तप्त घर्ममोम्यावन्तमत्रये। वही १।११२।७
४ ऋषि नरावहस पाञ्चजन्यमबीसादत्रि मुञ्चथो गणन।
मिनन्ता दस्योरशिवस्य माया अनुपूर्व वृषणा चोदयन्ता। वही १।११७।३
५ युवमृबीसमुत तप्तमत्रय ओमन्वन्त चक्रथु सप्तवध्रय। वही १०।३९।९
६ युवमत्रयेऽवनीताय तप्तमूर्जमोमानमश्विनावधत्तम्। वही १।११८।७
उप स्तृणीमत्रये हिमेन घर्ममश्विना। अन्ति षद्भूतु वामव। वही ८।७३।३
७ हिमेन घर्मं परितप्तमत्रये। वही १।११९।६
हिमेनाग्नि घ्र समवारयेथा पितुमतीमूर्जमस्मा अधत्तम्। वही १।११६।८
८ युव ह घर्म मधुमन्तमत्रयेऽपो नक्षोदोऽवृणीतमेषे। वही १।१८०।४
हिमेन घर्मं परितप्तमत्रये। वही १।११९।६
९ वही, १।११६।८
१० वही, ७।६८।५

उन्हें द्रुतगामी अश्व के समान बना दिया।[1]

एक अन्य ऋचा मे अग्निदेव का भी तप्त कुण्ड मे पड़े अत्रि ऋषि के उद्धार का वर्णन प्राप्त होता है।[2]

अश्विनी देवों ने सप्तवध्रि को भी अग्नि के प्रकोप से बचाया।[3] अन्यत्र भी देवो के आश्चर्यजनक ढग से सप्तवध्रि की रक्षा का उल्लेख प्राप्त होता है।[4]

उपर्युक्त उद्धरणो से ज्ञात होता है कि ऋग्वैदिक युग मे शत्रु अपने प्रतिपक्षियों से बदला लेने के लिये उन्हे भयावह गड्ढों मे फेंक देते थे जहाँ अग्नि प्रज्ज्वलित करके उनकी भयावहता और भी अधिक बढ़ा दी जाती थी अथवा शत्रुओ को वृक्षो की खोखरो पर गिराकर वृक्ष मे आग लगा दी जाती थी। विपत्ति मे पड़ा मानव अपने आराध्य के निमित स्तुतियाँ प्रेषित करता था तथा देवो द्वारा आश्चर्यजनक ढग से उनकी सुरक्षा की जाती थी।

(घ) रोगों एवं विकृतियो की रहस्यात्मक चिकित्सा

अनेक देवता रोगो एव विकृतियो की रहस्यात्मक चिकित्सा के लिये विख्यात है। रुद्रदेव की चिकित्सा शक्ति बहुश स्मृत की गई है। कहा गया है— हे रुद्र! तेरा जो रोग दूर करके जीवन देने वाला तथा सुखकारक हाथ है वह कहाँ है ?[5] इन्हे वैद्यो का भी वैद्य कहा गया है।[6] रुद्र देवता अपने हाथो मे रोग निवारक औषधिया धारण करता है और हम सबको अतिरिक्त स्वास्थ्य बाह्य दोषो का प्रतिबन्ध एव वमन विरेचन आदि देता है।

मरुद्‌गण भी चिकित्साशास्त्री कहे जाते थे। उनसे कहा गया है कि — हे मरुद्‌गण! हमारी शक्ति की चिकित्सा के लिये उपयुक्त औषधि को लाओ और व्याधिग्रस्त अगो को जैसे भी रोग का शमन हो सके, पूर्ण करो।[8] अन्यत्र भी मरुद् देवो से औषधिया प्राप्त करने का उल्लेख है।[9]

---

१ त्यं चिदश्वं न वाजिनमरेणवो यमत्नत।
वळ्हं ग्रन्थिं न विष्यतमत्रिं यविष्टमा रजः। ऋग्वेद १०।१४३।२

२ अग्निरत्रिं घर्म उरुष्यदन्तरग्निर्नृमेध प्रजयासृजत्सम्। वही १०।८०।३

३ प्र सप्तवध्रिराशसा धारामग्नेरशायत। अन्तः यद्भूतु वानव। वही ८।७३।९

४ वही ५।७८।५ ६ ८।७३।८ १०।३९।९

५ क्वस्य ते रुद्र मळयाकुर्हस्तो यो अस्ति भेषजो जलाषः। वही २।३३।७

६ उन्नो वीराँ अर्पय भेषजेभिर्भिषक्तमं त्वा भिषजां शृणोमि। वही २।३३।४

७ हस्ते बिभ्रद् भेषजा वार्याणि शर्म वर्मच्छर्दिरस्मभ्यं यंसत्। वही १।११४।५

८ विश्वं पश्यन्तो बिभृथा तनूष्वा तेना नो अधि वोचत।
क्षमा रपो मरुत् आतुरस्य न इष्कर्ता विह्रुतं पुनः। वही ८।२०।२६

९ वही ८।२०।२३

सोम हृदय से पाप को हटा देने और असत्य का नाश कर सत्य की ओर प्रेरित करने के साथ-साथ निरोग बना देने की भी शक्ति रखते हैं। वे रोगियों के रोग का निवारण करते हैं। उनकी कृपा से अंधा देख सकता है और लंगड़ा चल सकता है।[1]

वस्तुत रोग निवारण अथवा रोगों की रहस्यात्मक चिकित्सा देवों की अलौकिक शक्ति के कारण है। अश्विनी देव देवों के वैद्य कहे जाते हैं। इन्द्र भी रोग निदान के कर्त्ता प्रसिद्ध हैं। नीचे संक्षेप मे इनके द्वारा किये गये चमत्कारो का निरूपण प्रस्तुत है—

(१) इन्द्रदेव रुधिर निकलने से पूर्व ही जोड़ों को जोड देते हैं। ऋग्वेद मे कहा गया है कि— इन्द्र कण्ठ स रुधिर निकलने से पूर्व ही कटे हुए जोडो को जोड देते हैं और छिन्न भिन्न को ठीक कर देते हैं।"[2] यही प्रार्थना मरुतो से भी की गई है।[3]

(२) अश्विनी देवो ने ऋषि परावक को अन्धे से दृष्टि सम्पन्न किया और लगडे लूले को चलने फिरने योग्य बनाया।[4] द्वितीय मण्डल मे भी इस सन्दर्भ की पुष्टि की गई है किन्तु देव का अन्तर है। वहाँ इन्द्र को सम्बोधित करके कहा है कि—इन्द्रदेव प्रशसा के योग्य है क्योकि अपनी कीर्ति को बढाते हुए उन्होने अन्धे और पगु परावक को उत्तम आँख और पाँव दिये।[5] इस प्रकार परावक ने अश्विनी देवो और इन्द्र देवता दोनो की कृपा से विकृतियो की चिकित्सा प्राप्त की।

(३) नेत्रों को रहस्यात्मक रूप से ज्योति प्राप्त होने का एक उदाहरण महर्षि कण्व का है। कण्व की स्तुतियो को स्वीकार करते हुए अश्विदेवो ने उनके असमर्थ नेत्रो को ज्योति प्रदान की।[6] अन्य ऋचाओ मे भी इसका उल्लेख किया गया है।[7]

(४) ऋज्राश्व ने अपने पिता की सौ भेडें वकी की रक्षा हेतु मार दी इस

---

१ अभ्यूर्णोति यन्नग्न भिषक्ति विश्व यत्तुरम्। प्र मन्ध रूयन्नि श्रोणो भूत्।
ऋग्वेद ८।७९।२

२ य ऋते चिदभिश्रिष पुरा जत्रुभ्य आतृद।
सन्धाता सन्धि मघवा पुरुवसुरिष्कर्ता विह्रुत पुन। वही ८।१।१२

३ वही ८।२०।२६

४ याभि शचीभिर्वृषणा परावृ ण प्रान्ध श्रोण चक्षस एतवे कृथ। वही १।११२।८

५ नीचा सन्तमुदनय परावृजं प्रान्ध श्रोण श्रवयन् त्सास्युक्थ्य। वही, २।१३।१२

६ युवं कण्वायापिरिप्ताय चक्षु प्रत्यधत्त सुष्टुति जुजुषाणा। वही, १।११८।७

७ वही, ८।५।२३ २५

लिये क्रुद्ध पिता ने ऋज्राश्व को अन्धा बना दिया।[1] तब ऋज्राश्व के दुःख से दुःखित वृकी ने इस अन्धे को सुख मिले, इसलिये अश्विदेवों को पुकारा और उनसे रक्षा की प्रार्थना की।[2] तब शत्रुनाशक और सत्य को न छोडने वाले अश्विदेवों ने उस ज्योतिविहीन को प्रतिबन्धरहित आँखें विशेष रूप से देखने के लिये दी।[3]

(५) इन्द्र ने परावृकऋषि को पगुहीनता तथा नेत्र देकर उसकी इच्छा पूर्ण की[4] सायण के अनुसार परावृक ऋषि कुछ कन्याओ के समक्ष खड़े थे उनके पगु तथा नेत्रहीन होने के कारण उन्होने ऋषि का उपहास किया जो उनके मर्म को स्पर्श कर गया। परावृक ने उन विकृतियो को दूर करने की इच्छा की, जिनसे उन्हे उपहास का पात्र बनना पड़ा था। परावृक ने इन्द्र की अर्चना की इन्द्र ने सतुष्ट होकर उन्हे पग और दृष्टि प्रदान की। ऋग्वेद मे इसका वर्णन इस प्रकार आया है—'वह परावृक ऋषि सुन्दरी स्त्रियो को न देख पाने के कारण को जानकर इन्द्र की कृपा से पुन प्रकाशित होता हुआ उनके सम्मुख हुआ। पगु तथा नेत्रहीन ऋषि ने पगुहीनता और नेत्र प्राप्त किये।[5]

(६) इन्द्रदेव ने चीटियो द्वारा खाये जाने वाले अग्रु के पुत्र को उसके घर से बाहर निकाला। उसे (अन्धे को) बाहर निकाल कर नेत्र ज्योति प्रदान की तथा बर्तन के समान खण्डित उसके जोडो को भली प्रकार से जोडा।[6] सायण के अनुसार अग्रु अविवाहित कन्या को कहते है। सम्भवत उस कन्या ने कौमार्यावस्था मे ही पुत्रोत्पत्ति के कारण लज्जावश शिशु को चीटी के घर मे रख दिया होगा और इन्द्र ने उस बालक को बचाया तथा उसे रहस्यात्मक चिकित्सा प्रदान की।

यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि यह चिकित्सा किसी औषध द्वारा की गई है। इन्द्र की अतिमानवीय अलौकिक शक्ति के द्वारा अग्रु पुत्र की रक्षा का वर्णन किया गया है।

---

१ शत मेषान् वृक्ये मामहान तम प्रणीतमशिवेन पित्रा।
आक्षी ऋज्राश्वे अश्विनावधत्त ज्योतिर धाय चक्रथुर्विचक्ष।

ऋग्वेद १।११७।१७

२ शुनम धाय भरमह्वयत् सा वृकीरश्विना वृषणा नरेति। वही १।११७।१८

३ शत मेषान् वृक्ये चक्षदानमृज्राश्व त पिता ध चकार।
तस्मा अक्षी नासत्या विचक्ष आधत्त दस्रा भिषजावनर्वन्। वही १।११६।१६

४ स विद्वाँ अपगोह कनीनामाविर्भव नुदतिष्ठत् परावृक।
प्रति श्रोण स्थाद् व्यनगचष्ट सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार। वही २।१५।७

५ वही २।१५।७ द्रष्टव्य प्रस्तुत ऋचा पर सायण भाष्य।

६ वम्रीभि पुत्रमग्रुवो अदान निवेशनाद्धरिव आ जभर्थ।
व्यन्धो अख्यदहिमाददानो निर्भूदुखच्छित्समरन्त पर्व। ऋग्वेद ४।१९।९

(७) कतिपय उदाहरण ऋग्वदिक आकस्मिक चमत्कारों का परिचय देते हैं। यथा—एक ऋचा में अपाला का प्रसंग आया है, जो स्नान के निमित्त जल की ओर गमन करती हुई इन्द्र की प्रसन्नता हेतु सोम को प्राप्त करती है और उसे सामर्थ्यवान् इन्द्र के लिये निष्पन्न करती है।[१] सोम से प्रसन्न हुए इन्द्र से अपाला प्रार्थना करती है कि 'मेरे पिता के मस्तक, खेत और उदर के समीपस्थ स्थल इन तीनों को उत्पादन की क्षमता प्रदान करो'।[२] 'मेरे पिता के मरुस्थल रूप खेत, पिता का केशरहित मस्तक और मेरे शरीर को उर्वर बनाते हुए उन्हें रोम वाला कर दो।'[३] इन्द्रदेव ने अपाला पर कृपादृष्टि करके उसकी तीनों प्रार्थनाओं को स्वीकार कर आश्चर्यान्वित रूप से उर्वरता प्रदान की। पतिपरित्यक्ता अपाला को इन्द्र ने सूर्य के समान तेजस्विनी बना दिया।[४] उसे त्वक रोग से मुक्ति प्राप्त हो गई।

(८) खेलनरेश की सम्बंधिनी विश्पला का पाँव युद्ध में कट गया था। सायण के मतानुसार राजा खेल के पुरोहित अगस्त्य ऋषि के स्तोत्र से प्रसन्न होकर अश्विनीदेवों ने भी विश्पला को भलीभाँति पुष्ट बना दिया।[५] सम्पूर्ण घटना का वर्णन ऋग्वेद में इस प्रकार किया गया है— जैसे पक्षी का पंख गिर जाता है उसी प्रकार युद्ध में खेलनरेश की सम्बंधिनी स्त्री का पैर टूट गया। तब रात्रि के समय में ही उस विश्पला के लिये युद्ध प्रारम्भ होने के पश्चात् चढ़ाई करने के लिये लोहे की टाँग तत्क्षण अश्विदेवों ने बिठला दी।[६] अन्यत्र भी देवों की इस कृपा का उल्लेख प्राप्त होता है।[७]

प्रस्तुत घटना में बिना किसी विलम्ब के चिकित्सा वास्तव में अश्विदेवों का चमत्कार ही है। कतिपय विद्वान् विश्पला को युद्ध में आहत एक घोड़ी का नाम स्वीकार करते हैं।

---

१ कन्या वारवायती सोममपि स्रुताविदत्।
अस्तं भरन्त्यब्रवीदिन्द्राय सुनवै त्वा शक्राय सुनवै त्वा। ऋग्वेद ८।९१।१

२ इमानि त्रीणि विष्टपा तानीन्द्र वि रोहय।
शिरस्ततस्योर्वरामादिदं म उपोदरे॥ वही, ८।९१।५

३ असौ च या न उर्वरादिमां तन्वं मम।
अथो ततस्य यच्छिरः सर्वा ता रोमशा कृधि। वही ८।९१।६

४ अपालामिन्द्र त्रिष्पूत्व्यकृणोः सूर्यत्वचम्। वही ८।९१।७

५ अगस्त्ये ब्रह्मणा वावृधाना सं विश्पलां नासत्यारिणीतम्। वही १।११७।११

६ चरित्रं हि वेरिवाच्छेदि पर्णमाजा खेलस्य परितक्म्यायाम्।
सद्यो जङ्घामायसीं विश्पलायै धने हिते सर्तवे प्रत्यधत्तम्। वही १।११६।१५

७ याभिर्विश्पलां धनसामथर्व्यं सहस्रमीळ्ह आजावजिन्वतम्। वही १।११२।१०
प्रति जङ्घां विश्पलाया अधत्तम्। वही १।११८।८

(६) घोषा कक्षीवान् की पुत्री कुष्टरोगिणी थी। सम्भवत इसी कारण वह वृद्धावस्था तक पिता के घर मे ही अविवाहित रही। घोषा ने खिन्नचित्त होकर अश्विदेवो की वन्दना की और उनसे चिकित्सा की प्रार्थना की। उसकी प्रार्थना का उत्तर दिया गया और अश्विदेवो ने उसका रोग विनष्ट कर दिया। उन्होंने घोषा को पति प्रदान किया।[1]

इसी प्रकार श्याव को भी उन्होंने तेजस्विनी नारी प्रदान की।[2] सायण के मतानुसार श्याव कुष्ट रोग से ग्रसित था और देवो के चमत्कार से उसने रोग से मुक्ति प्राप्त की।[3]

मिश्रित अद्भुत चमत्कार

कुछ चमत्कार सम्मिलित श्रेणी मे रखे गये हैं क्योकि उन्हे विभाजित किसी विशिष्ट श्रेणी के अन्तर्गत नही रखा गया है।

(१) दध्यङ के सिर का परिवर्तन ऋग्वेद की एक रहस्यात्मक घटना है। उनके सिर के स्थान पर अश्व का सिर लगा दिया गया था। परन्तु ऐसा क्यो कर हुआ? कैसे अश्व का सिर लगाया गया? कैसे दध्यङ ने घोडे के सिर से उपदेश दिया? सिर को परिवर्तित करने के लिये घोडे का ही सिर क्यो चुना गया? ये प्रश्न एक जिज्ञासा को उत्पन्न करते है। ऋग्वेद मे इस घटना का वर्णन निम्न प्रकार है—

अश्विनीदेवो ने अथर्वकुलोद्भव दधीचि ऋषि के लिये घोडे का सिर लगा दिया तब उस ऋषि ने उनके लिये मधु विद्या का उपदेश दिया तथा अवयवो को जोडने की विद्या जो इन्द्र से प्राप्त की थी ऋषि ने देवो से कह डाली। सम्पूर्ण विद्या का कथन ऋषि ने घोडे के मुख से किया। अश्विनी देवो की सेवा से दध्यङ ऋषि आकर्षित हुए और अश्व के बनाये हुए सिर से गोपनीय विद्या का कथन कर दिया।[5]

प्रस्तुत सन्दर्भ से इन्द्रदेव भी सम्बधित दिखाई देते है किन्तु उनसे सम्बधित कथा का कुछ दूसरा ही पक्ष प्रतीत होता है। इन्द्र पर्वतो मे पडे घोडे के सिर को

---

१ घोषायै चित् पितृषदे दुरोणे पतिं जूर्यन्त्या अश्विनावदत्तम्। ऋग्वेद १।११७।७
द्रष्टव्य प्रस्तुत ऋचा पर सायणभाष्य।

२ युवं श्यावाय रुशतीमदत्त। ऋग्वेद १।११७।८

३ द्रष्टव्य प्रस्तुत ऋचा पर सायणभाष्य।

४ दध्यङ ह यन्मध्वाथर्वणो वामश्वस्य शीर्ष्णा प्र यदीमुवाच। ऋग्वेद १।११६।१२

५ युवं दधीचो मन आ विवासथोऽथा शिर प्रति वामश्व्यं वदत्।
वही १।११९।९

ढूंढते हुए शर्यणावत् तालाब में उसकी प्राप्ति को जान लेते हैं,[1] जिसके सामने शत्रु नहीं ठहर सकता। उस इन्द्र ने दध्यङ् की अस्थियों के वज्र से निन्यानबे वृत्रों का वध किया।[2] प्रस्तुत कथा ऋग्वेदानुसार है।

सायण के अनुसार इन्द्र ने दधीच को विद्यायें दीं और किसी को देने से मना कर दिया किन्तु अश्विनी देवों की सेवा से ऋषि प्रसन्न हुए तथा उन्हें विद्या देने का प्रण किया। अश्विनी देवों ने ऋषि का सिर काटकर घोड़े का सिर लगा दिया और घोड़े के सिर से दधीच ने मधु विद्या का वाचन किया। इन्द्र ने ज्ञात होते ही उस घोड़े के सिर को भी काट दिया, किन्तु अश्विनी ने दधीच के सिर को पुनः यथावत् स्थित कर दिया। कथा दोनों में से किसी भी रूप में क्यों न हो, घटना में चमत्कारिता उल्लेखनीय है।

(२) ऋग्वेद शुनः शेप की रहस्यात्मक रक्षा का वर्णन प्रस्तुत करता है। शुनः शेप को यज्ञीय-बलि देने के लिये यूप स्तम्भ से बांध दिया गया था। उसने अग्नि देव की अर्चना करके अपनी रक्षा हेतु प्रार्थना की। तब अग्नि देव ने आकर अच्छी तरह से बंधे हुए सहस्रों यूपस्तम्भों से उसे छुड़ाया।[3]

(३) देवगण अपने भक्तों की विपत्ति को सदैव आश्चर्यात्मक ढंग से दूर करते थे। प्यास से व्याकुल गौतम के लिए उन्होंने जल को असामान्य रूप से प्रवाहित किया। कहा गया है—झील का जल उस दिशा में वक्र गति से ले गये और प्यास की तीव्रता से व्याकुल गौतम ऋषि के लिये जलकुण्ड में उस जल का झरना बहने लगा।[4]

(४) अश्विदेवों का वह चारों ओर ख्यातिप्राप्त कार्य है जो पज्र कुलोत्पन्न कक्षीवान् के लिये किया गया। उन्होंने बलिष्ठ घोड़े के खुर से शहद के सौ घड़ों को जनता के हित के लिये भरा था।[5] अन्यत्र भी ऐसा वर्णन प्राप्त होता है।[6] घोड़े के खुर से शहद निकालना एक आश्चर्यजनक कार्य है।

---

१ इच्छन्नश्वस्य यच्छिरः पर्वतेष्वपश्रितम्। तद्विदच्छर्यणावति।

ऋग्वेद १।८४।१४

२ इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुतः। जघान नवतीर्नव। वही १।८४।१३

३ शुनश्चिच्छेपं निदितं सहस्राद् यूपादमुञ्चो अशमिष्ट हि षः। वही ५।२।७

४ जिह्मं नुनुद्रेऽवतं तया दिशासिञ्चन्नुत्सं गोतमाय तृष्णजे। वही १।८५।११

५ तद् वां नरा शंस्यं पज्रियेण कक्षीवता नासत्या परिज्मन्।
शफादश्वस्य वाजिनो जनाय शतं कुम्भाँ असिञ्चतं मधूनाम्। वही, १।११७।६

६ युवं नरा स्तुवते पज्रियाय कक्षीवते अरदतं पुरंधिम्।
कारोतराच्छफादश्वस्य वृष्णः शतं कुम्भाँ असिञ्चतं सुरायाः। वही, १।११६।७

(५) देवों के अद्‌भुत कार्य उनकी शक्ति के कारण मान्य हो जाते हैं किन्तु अतिमानवीय इन कार्यों के प्रति आश्चर्य का भाव उत्पन्न होना स्वाभाविक है। अश्विदेवो के रथ मे जुता एक गधा[1] सहस्र संख्या वाले शत्रु दल को जीत लेता है।

(६) ऋभुओ ने चमवाली अति कृश गौ को सुन्दर रूपवाली बनाया और उस गोमाता के साथ बछड़े का भी सम्बन्ध कराया।[2] अन्यत्र कहा गया है— हे सुधन्वा के पुत्रो! तुमने अपने प्रयत्नों से चमरहित गाय को भी पुष्ट किया।[3] ऋभुओ ने एक वर्ष तक गौ की रक्षा की, उसके अवयवों मे मांस भरकर उसे सुन्दर रूप से युक्त किया।[4]

ऋभुओ ने एक चमस के चार चमस बना दिये।[5] ऋभुओ मे बड़ा बोला कि हम चमस के दो भाग करें छोटा बोला—हम तीन कर, सबसे छोटा बोला हम चार भाग करें। ऋभुओ की इन बातो की त्वष्टा ने प्रशंसा की है।[6]

इस प्रकार ऋभुओ ने अपनी कुशलता और कर्तव्य शक्ति से एक चमस के चार चमस बना दिये।[7]

ऋषिकृत अद्‌भुत कार्य

ऋग्वेद का अधिकांश भाग देव चमत्कृतियो का समर्थक है किन्तु यत्र तत्र ऋग्वैदिक ऋषियो द्वारा किये गये अद्‌भुत कार्य भी दर्शनीय है जो उनकी उत्कट साधना के परिणाम को प्रकट करते है।

१ विश्वामित्र द्वारा किया गया चमत्कार

तृतीय मण्डल का एक सूक्त महान् ऋषि विश्वामित्र की अदम्य उत्कट

---

१ कदा योगो वाजिनो रासभस्य येन यज्ञं नासत्योपयाथ। ऋग्वेद १।३४।६
तद् रासभो नासत्या सहस्रमाजा यमस्य प्रधने जिगाय। वही १।११६।२
२ निश्चर्मण ऋभवो गामपिंशत सं वत्सेनासृजता मातरं पुनः। वही १।११०।८
३ निश्चर्मणो गामरिणीत धीतिभिर्या जरन्ता युवशा ताकृणोतन। वही १।१ १।७
वही ४।३३।८
४ यत् संवत्समभवो गामरक्षन्यत्संवत्समभवो मा अपिंशन्।
तत् संवत्समभरन् भासो अस्यास्ताभि शमीभिरमतत्वमाशु। वही ४।३३।४
५ त्यं चिच्चमसमसुरस्य भक्षणमेकं सन्तमकृणुता चतुर्वयम्। वही १।११०।३
६ ज्येष्ठ आह चमसा द्वा करेति कनीयान् त्रीन् कृणवामेत्याह।
कनिष्ठ आह चतुरस्करेति त्वष्ट ऋभवस्तत् पनयद वचो व। वही ४।३३।५
७ एकं वि चक्र चमसं चतुर्वयं। वही ४।३६।४
सुकृत्यया यत् स्वपस्यया चँ एकं विचक्र चमसं चतुर्धा। वही ४।३५।२
८ वही ३।३३ सम्पूर्ण सूक्त।

और प्रभावपूर्ण प्रार्थना के फलस्वरूप चमत्कार का परिचय प्रदान करता है। विपाट और शुतुद्री—ये दोनों नदियाँ पर्वत के पास से निकलकर समुद्र से मिलने की इच्छा करती हुई जल से भरपूर होकर वेग से बही जाती थी।[1] ऋषि विश्वामित्र धान्य की उत्पत्ति को उत्तम बनाती हुई[2] इन दोनों नदियों के पास गये[3] और पाया कि वे देव के बताये गये स्थान की ओर चली आ रही हैं।[4] अपनी रक्षा के इच्छुक कुशिक पुत्र (विश्वामित्र) ने उनकी आराधना की और ऋषि की नम्र प्रार्थना को मानकर अपनी गति को थोड़े समय के लिये रोक देने का अनुरोध किया।[5]

सूक्त की आगामी ऋचायें संवाद के रूप मे हैं। नदियाँ और ऋषि परस्पर वाक्यवहार करते हैं। नदियाँ कहती हैं—हे ऋषि हम तो इन्द्रदेव की आज्ञा से जल से परिपूर्ण होकर चलती है[6] तदनन्तर इन्द्र के माहात्म्य का वर्णन करती हैं।[7] अनन्तर ऋषि अपने अनुनय विनय और प्रार्थना की शक्ति से नदियो के प्रवाह को रोक लेते है। नदियाँ विनम्र हो गयी और ऋषि पार उतर गये।[8] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि नदियो का प्रवाह रोककर ऋषि ने एक चमत्कार कर दिखाया।

२ इन्द्र की सहायता से वसिष्ठ ऋषिकृत अद्भुत कार्य

ऋग्वेद का एक सूक्त[1] उपयुक्त चमत्कार का ही प्रतिपादन करता है। इस घटना मे आश्चर्यजनक कर्म केवल ऋषि द्वारा ही नही किया गया अपितु वसिष्ठ ऋषि ने इन्द्र की प्रार्थना की और इन्द्र की सहायता से नदी का वेग शान्त हुआ तथा सुदास की सेना पार उतर गयी। एक बार राजा सुदास पर दस राजाओ ने आक्रमण किया परुष्णी नदी के तट पर सामना हुआ। तब सुदास के पुरोहित वसिष्ठ ने इन्द्र की प्रार्थना की और परुष्णी का वेग शान्त कर सेना को पार उतारने मे सफलता प्राप्त की।

३ अत्रि ऋषि द्वारा सूर्य की रक्षा

एक मानवीय चमत्कार ऋग्वेद मे प्राप्त होता है। पंचम मण्डल का एक

---

१ ऋग्वेद ३।३३।१

२ वही ३।३३।२

३ वही ३।३३।३

४ वही ३।३३।४

५ वही ३।३३।५

६ वही, ३।३३।६

७ वही ३।३३।७

८ आ ते कारो शृणवामा वचांसि ययाथ दूरादनसा रथेन।
नि ते नसैं पीप्यानेव योषा मर्यायेव कन्या शश्वचै ते। ऋग्वेद, ३।३३।१०

६ वही ७।१८

सूक्त[1] उसका कथन करता है। स्वर्भानु नामक असुर ने सूय को अन्धकार से ढक लिया।[2] इन्द्र ने इस असुर की द्युलोक के नीचे विद्यमान मायाओं को दूर कर दिया। तब प्रकाश करने रूप कम से भ्रष्ट करने वाले अन्धकार से छिपे हुए सूय को अत्रि ने अत्यन्त श्रेष्ठ ज्ञान से प्राप्त किया।[3] सूय ने अत्रि ऋषि से निवेदन किया—' हे अत्रि ऋषि ! तुम्हारे विद्यमान रहते द्रोह करने वाला दुष्ट असुर भूख के कारण अथवा डर से निगल न जाए इसलिये मेरी रक्षा करो।[4] तब अत्रि ने देवों को प्रसन्न करते हुए सूय की रक्षा करके उसे द्युलोक मे स्थापित किया।[5] अन्तत एक ऋचा मे अत्रि के चमत्कार को उदघोषित किया गया है। जिस सूर्य को असुर स्वर्भानु ने अन्धकार से ढक दिया था उस सूय को अत्रि से प्राप्त किया। दूसरे उसे प्राप्त नही कर सकते।[6]

प्रस्तुत समग्र वृतान्त से ऐसा प्रतीत होता है कि यह घटना सूय ग्रहण की है। ऋग्वदिक आर्यों ने इस घटना को चमत्कार स्वरूप माना। स्वर्भानु राहु का ही एक नाम जान पडता है।

२ राक्षस और पिशाच

ऋग्वेद मनुष्य के शत्रुओं पार्थिव दैत्यो अथवा राक्षसो का अल्प परिचय प्रस्तुत करता है। वदिक दानवो और दुष्टात्माओ के विषय मे तत्सम्बद्ध विविध कल्पनाओं का मूल निर्धारण अतीव दुष्कर है क्योकि प्राप्त सन्दभ बहुत अस्पष्ट है। सम्भवत दानवो का घृणास्पद होना उनके सूक्ष्म वणन की अप्राप्ति का एक कारण है। कीथ के अनुसार दानवो और दुष्टात्माओं मे से अनक सत्वो की उद भावना का स्रोत प्रतिद्वन्द्वी प्रेत आत्माओ से सम्बद्ध भावना है किन्तु इनमे से अनेक का मूल स्वतन्त्र सजनशील विचार की उपज भी हो सकता है। प्रेतात्माओ मे मनुष्य और साथ ही पशु भी सम्मिलित रहे होगे ऐसी सम्भावना की जाती है।[7] दानवा की कल्पना या तो मनुष्याकृति के रूप मे या पश्वाकृति म अथवा इन

---

१ ऋग्वेद ५।४०

२ यत् त्वा सूय स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुर । वही, ५।४०।५

३ स्वर्भानोरध यदिन्द्र माया अवो दिवो वतमाना अवाहन् ।
गूळ्हं सूय तमसापव्रतेन तुरीयेण ब्रह्मणाविन्ददत्रि । वही ५।४०।६

४ मा मामिमं तव सन्तमत्र इरस्या द्रुग्धो भियसा नि गारीत् ।
त्व मित्रो असि सत्यराधास्तौ मेहावत वरुणश्च राजा । वही ५।४०।७

५ वही ५।४०।८

६ य व सूय स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुर
अत्रयस्तम वविन्दन् नह्य न्ये अशक्नुवन् । वही ५।४०।९

७ वदिक धम एव दशन अनुवादक सूयकान्त पृ० २९३

८ वही ।

दोनों की मिश्रित आकृति मे है । मिश्रित आकृति दानवों और देवो को विभिन्न करदेती है । उनकी गणना समुदाय रूप मे की गई है किन्तु ऋग्वेद मे उन समूहों के पारस्परिक विभेद को स्पष्टत उभारा नहीं गया है ।

(अ) दुष्टात्माओं के विभिन्न समुदाय

दुष्टों और पिशाचों के लिये ऋग्वेद में अनेक शब्दो का प्रयोग किया गया है । इसके लिये यातु और यातुधान' शब्दो का प्रयोग मिलता है,[1] जो दुष्टा त्माओ की ओर इगित करते हैं । इनके लिये निऋति'[2] और 'द्रुह्'[3] शब्दो का प्रयोग किया गया है, किन्तु रक्षस्[4] दुष्टात्माओ की ओर लक्षित करने वाला सर्वाधिक प्रचलित पद है । इन सभी का समुदाय रूप मे वर्णन किया गया है ।

(आ) बाधक तत्त्वों का नामत वर्णन

रक्षस— रक्षस ऋग्वेद मे अनेक बार उल्लिखित शब्द है जिसका अथ भूत पिशाच अथवा राक्षस किया जाता है । दानवों के एक नाम के रूप मे 'रक्षस' पु ल्लिग और नपु सकलिग—दोनों लिगो मे मिलता है । इस पद का अर्थ सदिग्ध है । स्पष्टतया तो यह √रक्ष से निष्पन्न प्रतीत होता है इस प्रकार इसका अथ होगा जिससे रक्षित होना है,' किन्तु क्षत्यर्थक √रक्ष् धातु से भी इस शब्द की निष्पत्ति मानी गई है ।[5] कीथ ने बोर्गेन्य के मत को उद्धृत करते हुए इस नाम का आधार माना है—उनका दिव्य निधि का सुरक्षक होना किन्तु वे लोलुप है इस लिय वे घृणा के भाजन हैं ।[6] यह अथ अधिक समीचीन प्रतीत नही होता ।

ऋग्वेद मे पचास से अधिक बार इनका प्रयोग मिलता है । लगभग सदव इनका उल्लेख किसी ऐसे देवता के साथ हुआ है जो इनका दमन करने वाला है और उसे स्तुतिकर्ताओ द्वारा आमंत्रित किया गया है ।

ऋग्वेद के दो सूक्तो मे अपेक्षाकृत कम प्रचलित यातु' या 'यातुधान शब्द भी राक्षस शब्द के स्थान पर आया है । यातुधान' शब्द दुरात्मा का बोधक है । रक्षस शब्द जाति का बोधक है और यातु' शब्द जाति के अवान्तर भेद का ।

१ रक्षस का स्वरूप और कार्य

पश्वाकृति के रूप मे रक्षस् का उल्लेख किया गया है । ये कुते श्येन उलूक

---

१ ऋग्वेद ७।१०४ १०।८७

२ वही १।३८।६

३ वही २।२३।१६

४ वही ७।१०४

५ रॉथ सेंट पीटसबर्ग कोश, द्रष्टव्य वर्णक्रमानुसार ।

६ वदिक धर्म एवं दर्शन, पृ० २९६

७ ऋग्वेद ७। १०४, १०।८७

शुशुलूक, श्वयातु कोकयातु सुपर्णयातु एव गृध्रयातु आदि अनेक आकार प्रकार के हैं।[1] प्रस्तुत ऋचा मे इन्द्रदेव से मायावी और अनेक प्रकार से न्यायकारियो पर प्रहार करने वाले दुष्टो से रक्षार्थ प्रार्थना की गयी है। ये भाई पति अथवा जार का रूप धारण करके स्त्रियो के सामीप्य को प्राप्त करते हैं और उनकी सतति का नाश क ते हैं।[2] य तुधान मनुष्यों और अश्वो का मास भक्षण करते हैं और गायो का दूध पी जाते है।[3] रक्षस पक्षी बनकर रात्रि मे विचरण करते है।[4]

यज्ञो पर रक्षस विशेष रूप से आक्रमण करते हैं। देव यज्ञों मे विघ्न उत्पन्न करते हैं। ऐसे यातुओ का उल्लेख है जो हविष का भी मथन कर देते है।[5] ये प्रार्थना से दूर भागते है अर्थात् स्तुतियो से घृणा करते है।[6]

२ दुष्टात्माओं के नियंत्रक

दुष्टात्मा अपनी इच्छा से ही नहीं दूसरो की प्रेरणा से भी मनुष्यो को हानि पहुचाते है। ऋग्वेद मे इस पाप कम करने वालो को रक्षायुज कहा गया है। इनको नियत्रण करने वाले को रक्षस्विन कहा गया है जिसका उल्लेख ऋग्वद मे एक से अधिक बार किया गया है[8] यातुमावान और यातुमान् भी जादूगरो के के लिये प्रयुक्त श द है। एक ऋचा मे यातना देने वालो को यातुमावान कहा गया है।[9] सायण ने यातुमावान का अथ यातुवानान असुरान' किया है।[10] अ यत्र

---

१ उलूकयातु शुशुलूकयातु जहि श्वयतुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातु दृषदेव प्र मृणरक्ष इन्द्र। ऋग्वद ७।१०४।२२

२ यस्त्वा भ्राता पतिर्भूत्वा जारो भूत्वा निपद्यते।
प्रज यस्ते जिघासति तमितो नाशयामसि। वही १०।१६२।५

३ य पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधान।
योअ याया भरति क्षीरमग्ने तेषा शीर्षाणि हरसापि वृश्च। वही १०।८७।१६
सवत्सरीण पय उस्त्रियायास्तस्य माशीद्यातुधानो नृचक्ष।
पीयूषमग्ने यतमस्तितृप्सात् त प्रत्यञ्चमर्चिषा विध्य मर्मन्। वही १०।८७।१७

४ वि तिष्ठध्व मरुतो विक्षिच्छत गृभायत र तस स पिनष्टन।
वयो ये भूत्वी पतयन्ति नक्तभिर्ये वारिपो दधिरे देव अध्वरे। वही ७।१०४ १८

५ ऋग्वद ७।१०४।१८। इन्द्रो यातूनामभवत्पराशरो हविर्मथीनामभ्या विवास ताम्। वही ७।१०४।२१

६ तपुर्मूर्धा तपतु रक्षसो ये ब्रह्मद्विष शरवे ह तवा उ। वही १०।१८२।३

७ तन्नादित्या वसवो रुद्रियासो रक्षोयुजे तपुरघ दधात। वही ६।६२।८

८ वही १।१२।५ १।३६।२० ७।६४।१२ ८।२२।१८ ८।४७।१५, ८।६०।२०

९ रक्षस्विन स मिद् यातुमावतो विश्व समत्रिण दह। वही, १।३६।२०

१० द्रष्टव्य प्रस्तुत ऋचा पर सायण भाष्य।

भी इस शब्द का प्रयोग प्रकृत अर्थ में ही हुआ है।[1] दो ऋचाओं में 'यातुमान्' शब्द का उल्लेख प्राप्त होता है।[2] जादू करने वाली स्त्री के लिये यातुमती शब्द प्राप्त होता है।[3]

३ दुष्टात्माओं के विनाश हेतु प्रार्थनायें

रक्षस् 'यज्ञ विध्वंसक' कहे गये हैं। राक्षसो और दुष्टात्माओ के समान ही वैदिक ऋषि जादू करने वालों से भी घृणा का भाव रखते थे इसलिये इनके विनाश के लिये आराध्य देवो से प्रार्थनायें की गई हैं।

अग्निदेव—अग्निदेव अधकार का विनाश और यज्ञ का सचालन करते हैं। अत वे रक्षसो के घोर विरोधी है। बार बार अग्नि का आह्वान इस हेतु किया गया है कि वे रक्षसो को भस्मीभूत कर दें उन्हे विनष्ट कर दे[4] इसी लिये अग्नि को 'रक्षोहा' भी कहा गया है। एक स्थल पर अग्नि से प्राथना की गई है कि वह यज्ञ को अभिशाप से बचाने के लिये रक्षसो को भस्म कर डालें।[5] स्तोता अग्निदेव से पुन प्राथना करता है कि राक्षस हमारे शरीर मे न घुसें। पिशाचादि प्रवेश न कर सकें इन क्रूरकर्मा राक्षसो पिशाच आदि को और निर्धनता को भी हमारे पास न आने देना।[6] घृत की आहुतिया ग्रहण करने वाले अग्नि को राक्षसी स्वभाव वाले हिंसक शत्रुओ के विनाश हेतु आमत्रित किया गया है।[7] कहा गया है—हे अग्ने! रक्षसो और यातना देने वाला को जला दे सभी भक्षको को जला दे।[8]

इन्द्र—अग्नि के समान इन्द्रदेव भी रक्षसो और दुष्टात्माओ के हनन की सामथ्य रखत है। इन्द्रस्तुतिकर्त्ता की राक्षसो से रक्षा करता है। प्रथम मण्डल के

---

१ न य यावा तरति यातुमावान्। ऋग्वेद ७।१।५

२ वही ७।१०४।२० २५

३ अभि लग्या चिदद्रिव शीर्षा यातुमतीनाम्। वही १।१३३।२
अवासा मघवञ्जहि शर्धो यातुमतीनाम्। वही १।१३३।३

४ उभोमयावि नुप घेहि दष्ट्रा हिंस्र शिशानोऽवर पर च।
उतान्तरिक्षे परि याहि राजञ्जम्भै स धेह्यभि यातुधानान्।

वही १०।८७।३

यत्रेदानी पश्यसि जातवेदस तिष्ठन्तमग्न उत वा चरन्तम्।
यद्वान्तरिक्षे पथिभि पतन्त तमस्ता विध्य शर्वा शिशान। वही १०।८७।६

५ प्र सु वि वान् रक्षसो धक्ष्यग्ने भवायज्ञानामभि शस्तिपावा। वही १।७६।३

६ मा नो रक्ष आ वेशीदाघणीवसो मा यातुर्यातुमावताम्।
परोगव्यूत्यनिरामप क्षुधमग्ने सेध रक्षस्विन। वही ८।६०।२०

७ घृताहवन दीदिव प्रतिष्म रिषतो दह। अग्ने त्व रक्षस्विन। वही, १।१२।५

८ स्वेषासो अग्नेरमवन्तो अचयो भीमासो न प्रतीतये।
रक्षस्विन सदमिद् यातुमावतो विश्व समत्रिण दह। वही, १।३६।२०

१३३ वें सूक्त में इन्द्र को पिशाचादि के वध के लिये आमंत्रित किया गया है। प्रथम ऋचा में कहा गया है कि इन्द्र अनिन्द्रों को भस्म कर देता है।[1] इन्द्र को रक्षस का घातक और दुष्टों का विनाशक कहा गया है।[2] रक्षस के निहन्ता को रक्षोहन् कहा गया है। एक स्थल पर इन्द्र को भी 'रक्षोहा' कहा गया है।[3]

सोम—सोम देव भी रक्षसो के विनाशक होने से रक्षोहन् कहे गये हैं। ऋग्वेद की अनेक ऋचाओ मे उन्हें रक्षोहा' कहा गया है।[4]

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वैदिक आर्य जादूगरो से अत्यधिक घृणा करते थे और अपने सशक्त, सबल तथा समर्थ देवताओ से उनके विनाश की अभ्यर्थना करते थे।

(इ) पिशाच—

यह शब्द ऋग्वेद मे केवल एक बार 'पिशाचि' के एकवचन के रूप मे आया है।[5] प्रस्तुत ऋचा मे पीत श ग (पिशङ्गभृष्टिम्) महान् (अम्भृणम्) पिशाचि को और सब रक्षसो को मारने के लिये इन्द्र का आह्वान किया गया है। परवर्ती संहिताओं मे ये बहुवचन मे आते हैं और पितरो के प्रतिद्व द्वी हैं।[6] सम्भवतया आरम्भ मे पिशाचो का सम्बध मतको से रहा हो। अथर्ववेद मे उन्हें अनेक बार 'क्रव्याद्' कहा गया है।[7] इन्हे रोगी व्यक्ति के मास का भक्षक बताया गया है। साथ ही ये मानव निवासों एव ग्रामो को बाधा पहुँचात है और आकाश मे उडत तथा उनसे भी परे पहुच जात हैं।[8]

सम्भवत पिशाच एक उपजाति विशेष है जो कच्चा मास खात थे और

---

१ द्रुहो दहामि स महीरनि द्रा ।
अनि द्रा इन्द्रविरहितान् । ऋग्वेद १।१३३।१ द्रष्टव्य सायण भाष्य।

२ हन्ता पास्य रक्षसस्त्राता विप्रस्य मावत ।
अधा हि त्वा जनिता जीजनद् वसो रक्षोहणं त्वा जीजनद् वसो।
ऋग्वेद १।१२९।११।

३ रक्षोहा मन्म रेजति। वही १।१२९।६

४ रक्षोहा विश्वचर्षणिरभि योनिमयोहतम्। वही ९।१।२
रक्षोहा वारमव्ययम्। वही ९।६७।२० ९।३७।३

५ पिशङ्गभृष्टिमम्भृण पिशाचिमि द्र स मृण। सर्व रक्षो नि बर्हय।
वही १।१३३।५

६ देवा मनुष्या पितरस्त यत आसन्नसुरा रक्षासि पिशाचास्ते यत ।
तै० स० २।४।१।१

७ अथ० ५।२९।९

८ वही।

९ वही, ४।३६।८, २०।९, ३७।१०

जिनकी भाषा वैयाकरणों द्वारा पैशाची कही जाने वाली प्राकृत रही थी—ऐसा कतिपय विद्वानो का मत था। किन्तु इस मत के यथार्थ होने की सम्भावना नही के बराबर है क्योंकि इसके प्रतिपक्षी तथ्य इसकी अपेक्षा अधिक वास्तविक प्रतीत होते हैं।[1]

(क) द्रुह्—'द्रुह' ऋग्वेद में बहुलता से आये हैं। ये भी दुष्टात्मायें हैं। द्वितीय मण्डल की एक ऋचा[2] मे सायण ने 'द्रुहस्पदे निरामिणो' की निम्न प्रकार व्याख्या की है—'ये चोरा द्रोहस्य पदे स्थाने निरामिणो नितरां रमणशीला रिपवो हिंसका.।' एक स्थल पर कहा गया है कि छल-कपट असत्यभावी व्यक्ति का सटकर पीछा करते हैं।[3] यह अर्थ नितान्त स्पष्ट नहीं है। ग्रिफिथ ने द्रुह्' का अथ Guile' किया है। उन्होने प्रस्तुत ऋचा के अर्थ को स्पष्ट करते हुए पाद टिप्पणी मे लिखा है कि यह ऋचा बडी कठिन है। साथ ही 'द्रुह' पद के स्पष्टीकरण मे लिखा है— All your avenging Spirits, O ye Mighty, follow unerringly the sinner's traces

इससे स्पष्ट हो जाता है कि द्रुह से उनका तात्पर्य किसी आत्मा से है जो बदला लेने की भावना से पापी के पास आती है। आगे वे लिखते हैं कि उन आत्माओ के पास कोई ऐसा चिह्न अथवा आकृति नही है जिससे मनुष्य उसे पहचान सके। द्रुहवन्' भी दुष्ट अर्थ का द्योतक है। इसका प्रयोग कतिपय ऋचाओ मे द्रष्टव्य है।[4]

१ द्रुहवनों के विनाश के लिये देवों से प्रार्थनायें

इन्द्रदेव से प्रार्थना की गई है कि वे अपने तेज से सर्वत्र व्याप्त होकर द्रुहवन को भस्मसात् करें।[5] एक अन्य ऋचा मे भी इन्द्रदेव को इनके विनाश हेतु आमन्त्रित किया है।[6] एक स्थल पर वरुणदेव को भी आमन्त्रित किया गया है।[7]

---

१ वैदिक इण्डक्स भाग २ पृ० ५१६

२ द्रष्टव्य प्रस्तुत ऋचा पर सायणभाष्य।
मा न स्तेनेभ्यो ये अभि द्रुहस्पदे निरामिणो रिपवोन्नेषु जागृधु।
ऋग्वेद २।२३।१६

३ द्रुह सचन्ते अनृता जनाना न वां निण्यान्यचिते अभूवन्। वही ७।६१।५

४ स द्रुह्वणे मनुष ऊर्ध्वसान आ साविषदर्शसानाय शरुम्। वही १०।९९।७

५ आ जनाय द्रुह्वणे पार्थिवानि दिव्यानि दीपयोऽन्तरिक्षा।
तपा वृषन्विश्वत शोचिषा तान्ब्रह्मद्विषे शोचय क्षामपश्च। वही ६।२२।८

६ वही, १०।९९।७

७ वही १।२५।१४

(ख) किमीदिन

विभिन्न प्रकार के दानवो की टोलियाँ मानी जाती हैं किन्तु कभी कभी कुछ दानव युग्मों मे भी आ जाते हैं। इन युग्म रूपों का एक वर्ग किमीदिन् है जिसका उल्लेख ऋग्वेद मे किया गया है।

दशम मण्डल मे किमीदिनों को युग्म रूप मे जाते हुए चित्रित किया गया है।[1] ग्रिफिथ ने किमीदिन् के लिये कहा है कि ये विश्वासघाती और द्रोही आत्मायें होती हैं। अन्यत्र[2] भी किमीदिनों का उल्लेख प्राप्त होता है। ऋग्वेद ७।१०४।२ की पाद टिप्पणी मे इनके विषय में ग्रिफिथ ने लिखा है कि ये बड़े नीच और विश्वासघाती हैं। किमीदिन्' शब्द का प्रयोग दुष्टात्माओ के वर्ग विशेष के नाम के लिये होता है।[3] अग्निदेव को इनकी समाप्ति के लिये सम्बोधित और आमन्त्रित किया गया है।[4]

इन दुष्टात्माओं पिशाचो और राक्षसियो का काम मनुष्य को क्षति पहुचाना है और उनके वर्गविशेष विशेष प्रकार की क्षति पहुँचाते हैं। इस प्रकार ऋग्वैदिक काल मे भी इनका प्रभाव दृष्टिगत होता है। आर्यों ने इनके विनाश हेतु अपने आराध्य देवो का आह्वान किया है।

३ रोग और उनकी चिकित्सा

पाश्चात्य विद्वानो की धारणा है कि आयुर्वेद का प्रारम्भिक रूप केवल जादू टोना का था। ऋग्वेद मे भी आधिदैविक दृष्टिकोण से विभिन्न देवताओ की प्रार्थना रोग निवारण के लिये की गई है किन्तु मात्र यही प्राचीन चिकित्सा नही थी। दैवव्यपाश्रय के अतिरिक्त औषधियो के द्वारा युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा भी होती थी। वैदिककाल मे लोक का जीवन वनस्पतिमय था। कृमियों तथा दोषो के अतिरिक्त विष भी रोगो के उत्पादक कारण हैं। अत निर्विषीकरण के सम्बन्ध मे भी अनेक ऋचायें उपलब्ध है।

ऋग्वेद मे प्रत्येक सूक्त का कोई न कोई देवता है। अग्नि अप इन्द्र रुद्र आदि के साथ अश्विनी भी देवता कहे गये है। यह प्रमुख रूप से चिकित्सा से सम्बन्ध रखते है और देवानां भिषजो के रूप मे स्वीकृत है। ऋग्वेद मे वर्णित चिकित्सा सम्बन्धी चमत्कारो से अनुमान किया जा सकता है कि तत्कालीन आयुर्विद्या की स्थिति अत्यन्त उन्नत थी।

अश्विनौ अश्विनी कुमार आरोग्य दीर्घायु शक्ति प्रजा वनस्पति तथा समृद्धि के प्रदाता कहे गये हैं। विपन्नो के सहायक होने से ही वे दिव्य भिषग कहे

१ प्र यान्ते मिथुना दह यातुधाना किमीदिना। ऋग्वेद १०।८७।२४

२ वही ७।१०४।२, २३

३ द्रष्टव्य प्रस्तुत ऋचा पर ग्रिफिथ का अनुवाद पादटिप्पणी।

४ ऋग्वेद १०।८७।२४

गये हैं।[1] ये अपने उपचारों से रोगों की शान्ति करते हैं।[2] अन्धों को पुनः दृष्टि दान करते हैं।[3] अश्विनी देवताओं के अमरत्व को बनाये रखने के लिये अमोघ रसायन हैं। वे अपने उपासकों के रोगों की चिकित्सा करते हैं अन्धे रोगियों तथा पशुओं के तो वे आश्रय हैं।[4]

अश्विनी के काय चिकित्सा और शल्य चिकित्सा सम्बंधी दोनों प्रकार के काय मिलते हैं। आयुर्वेद मे यही दो प्रधान अंग है, जिन पर शेष सभी सामयिक अंग आश्रित रहते हैं। इन प्रधान दो अंगो के मिश्रित होने से 'अश्विनी' एक उपाधि थी जो काय चिकित्सा ओर शल्य चिकित्सा दोनो मे दक्ष व्यक्तियो को प्रदान की जाती थी अथवा यह एक सज्ञा थी, जो दोनो अगो में निपुण वैद्य के लिये व्यवहृत होती थी।[5]

रुद्र

ऋग्वेद मे चिकित्सा से सम्बध रखने वाला दूसरा देवता रुद्र वर्णित है। रुद्र वद्यो के मुख्य है[6] उनकी सौख्यकारी औषधियो के द्वारा उनके उपासक सौ वर्षो पर्यन्त जीने की आशा करते है।[7] रुद्र म प्रार्थना की गई है कि वे अपने उपासको के परिवारो से व्याधियों को दूर रखें।[8] द्विपदो और चतुष्पदो के प्रति मधुर बने रहने का आग्रह है जिससे सभी ग्रामवासी सुपुष्ट और अनातुर बने रहे।[9] इसी सम्बध मे रुद्र को जलाष और जलाष भेषज दो असामान्य विशेषण दिये गये हैं।[10] ऋग्वद के एक सूक्त मे इस तथ्य का ज्ञान होता है कि यह विशेषता उनके स्वभाव का एक अटूट घटक है[11] प्रस्तुत सूक्त मे सभी देवों की विशेषतायें गिनाई गई हैं।

---

१ उत त्या दव्या भिषजा श न करतो अश्विना। ऋग्वेद ८।१८।८
२ नाभिर्नो म न् तूयमश्विना गत भिषज्यत यदातुरम। वही ८।२२।१०
तस्मा क्षी नासत्या वि चक्ष आ धत्त दस्रा भिषजावनर्वन्। वही १।११६।१६
४ अ न्धस्य चि नासत्या कृशस्य चिद् युवामिदाहुर्भिषजा रुतस्य चि[त्]।
वही १०।३९।३
५ अत्रिदेव विद्यालकार आयुर्वेद का बृहत इतिहास प० १७
६ उन्ना वीरां अपय भेषजेभिर्भिषक्तम त्वा भिषजा शृणोमि। वही २।३३।४
७ त्वादत्तेभी रुद्र शन्तमेभि शत हिमा अशीय भेषजेभि। वही २।३३।२
८ स हि क्षयेण क्षम्यस्य जन्मन साम्राज्येन दिव्यस्य चेतति।
अवन्नव तीरुप नो दुरश्चराऽनमीवो रुद्र जासु नो भव॥ वही ७।४६।२
९ इमा रुद्राय तवसे कपर्दिने क्षयद्वीराय प्र भरामहे मती।
यथा शमसद् द्विपदे चतुष्पदे विश्व पुष्ट ग्रामे अस्मिन्ननातुरम्॥ वही १।११४।१
१० गाथपति मधपति रुद्र जलाषभेषजम्। तच्छयो सुम्नमीमहे। वही १।४३।४
११ तिग्ममेको बिभर्ति हस्त आयुध शुचिरुग्रो जलाषभेषज। वही, ८।२९।५

(ख) किमीदिन

विभिन्न प्रकार के दानवो की टोलियाँ मानी जाती हैं किन्तु कभी कभी कुछ दानव युग्मों मे भी आ जाते हैं। इन युग्म रूपों का एक वर्ग किमीदिन् है जिसका उल्लेख ऋग्वेद मे किया गया है।

दशम मण्डल में किमीदिनों को युग्म रूप मे जाते हुए चित्रित किया गया है।[1] ग्रिफिथ ने किमीदिन् के लिये कहा है कि ये विश्वासघाती और द्रोही आत्मायें होती हैं। अन्यत्र[2] भी किमीदिनों का उल्लेख प्राप्त होता है। ऋग्वेद ७।१०४।२ की पाद टिप्पणी मे इनके विषय में ग्रिफिथ ने लिखा है कि ये बड़े नीच और विश्वासघाती है। किमीदिन् शब्द का प्रयोग दुष्टात्माओ के वर्ग विशेष के नाम के लिये होता है।[3] अग्निदेव को इनकी समाप्ति के लिये सम्बोधित और आमन्त्रित किया गया है।[4]

इन दुष्टात्माओ पिशाचो और राक्षसियो का काम मनुष्य को क्षति पहुचाना है और उनके वर्गविशेष विशेष प्रकार की क्षति पहुँचाते हैं। इस प्रकार ऋग्वैदिक काल मे भी इनका प्रभाव दृष्टिगत होता है। आर्यों ने इनके विनाश हेतु अपने आराध्य देवो का आह्वान किया है।

३ रोग और उनकी चिकित्सा

पाश्चात्य विद्वानो की धारणा है कि आयुर्वेद का प्रारम्भिक रूप केवल जादू टोना का था। ऋग्वेद मे भी आधिदैविक दृष्टिकोण से विभिन्न देवताओ की प्रार्थना रोग निवारण के लिये की गई है किन्तु मात्र यही प्राचीन चिकित्सा नही थी। देवव्यपाश्रय के अतिरिक्त औषधियो के द्वारा युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा भी होती थी। वैदिककाल मे लोक का जीवन वनस्पतिमय था। कृमियो तथा दोषो के अतिरिक्त विष भी रोगो के उत्पादक कारण है। अत निर्विषीकरण के सम्बन्ध मे भी अनेक ऋचायें उपलब्ध है।

ऋग्वेद मे प्रत्येक सूक्त का कोई न कोई देवता है। अग्नि अप इन्द्र रुद्र आदि के साथ अश्विनी भी देवता कहे गये हैं। यह प्रमुख रूप से चिकित्सा से सम्बन्ध रखते है और देवानां भिषजो के रूप मे स्वीकृत हैं। ऋग्वेद मे वर्णित चिकित्सा सम्बन्धी चमत्कारो से अनुमान किया जा सकता है कि तत्कालीन आयुर्विद्या की स्थिति अत्यन्त उन्नत थी।

अश्विनौ अश्विनी कुमार आरोग्य दीर्घायु शक्ति प्रजा वनस्पति तथा समृद्धि के प्रदाता कहे गये है। विपन्नो के सहायक होने से ही वे दिव्य भिषग कहे

---

१ प्र यन्ने मिथुन दह यातुधाना किमीदिना। ऋग्वेद १०।८७।२४

२ वही ७।१०४।२, २३

३ द्रष्टव्य प्रस्तुत ऋचा पर ग्रिफिथ का अनुवाद पादटिप्पणी।

४ ऋग्वेद १०।८७।२४

गये हैं।[१] ये अपने उपचारों से रोगों की शान्ति करते हैं।[२] अन्धों को पुन दृष्टि दान करते हैं।[३] अश्विनी देवताओं के अमरत्व को बनाये रखने के लिये अमोघ रसायन है। वे अपने उपासकों के रोगों की चिकित्सा करते हैं अन्धे, रोगियों तथा पशुओं के तो वे आश्रय हैं।

अश्विनो के काय-चिकित्सा और शल्य चिकित्सा सम्बन्धी दोनो प्रकार के काय मिलते है। आयुर्वेद मे यही दो प्रधान अग हैं, जिन पर शेष सभी सामयिक अग आश्रित रहते हैं। इन प्रधान दो अगो के मिश्रित होने से अश्विनौ' एक उपाधि थी जो काय चिकित्सा और शल्य चिकित्सा दोनो मे दक्ष व्यक्तियों को प्रदान की जाती थी अथवा यह एक सज्ञा थी, जो दोनो अगों मे निपुण वैद्य के लिये व्यवहृत होती थी।[५]

रुद्र

ऋग्वेद मे चिकित्सा से सम्बध रखने वाला दूसरा देवता रुद्र वर्णित है। रुद्र वैद्यो के मुख्य है[६] उनकी सौख्यकारी ओषधियो के द्वारा उनके उपासक सौ वर्षों पर्यन्त जीने की आशा करते है।[७] रुद्र से प्रार्थना की गई है कि वे अपने उपासको के परिवारो से व्याधियो को दूर रखें।[८] द्विपदो और चतुष्पदो के प्रति मधुर बने रहने का आग्रह है जिससे सभी ग्रामवासी सुपुष्ट और अनातुर बने रहे।[९] इसी सम्बध मे रुद्र को जलाष और जलाष भेषज दो असामान्य विशेषण दिये गये हैं।[१०] ऋग्वेद के एक सूक्त मे इस तथ्य का ज्ञान होता है कि यह विशेषता उनके स्वभाव का एक अटूट घटक है[११] प्रस्तुत सूक्त मे सभी देवो की विशेषतायें गिनाई गई हैं।

---

१ उत त्या दैव्या भिषजा शं न करतो अश्विना। ऋग्वेद ८।१८।८

२ नासिर्नो मक्षू तूयमश्विना गत भिषज्यत यदातुरम। वही ८।२२। ०

तस्मा अक्षी नासत्या वि चक्ष आ धत्त दस्रा भिषजावनर्वन्। वही १।११६।१६

४ अन्धस्य चि नासत्या कृशस्य चिद् युवामिदाहुर्भिषजा रुतस्य चि[त्]।
वही १०।३९।३

५ अत्रिदेव विद्यालकार आयुर्वेद का बृहत इतिहास प० १७

६ उन्ना वीरां अपर्प भेषजेभिर्भिषक्तमं त्वा भिषजा शृणोमि। वही २।३३।४

७ त्वादत्तभी रुद्र शंतमेभि शत हिमा अशीय भेषजेभि। वही २।३३।२

८ स हि क्षयेण क्षम्यस्य जन्मन साम्राज्येन दिव्यस्य चेतति।
अवन्नव तीरूप नो दुरश्चराऽनमीवो रुद्र जासु नो भव॥ वही ७।४६।२

९ इमा रुद्राय तवसे कपर्दिने क्षयद्वीराय प्र भरामहे मती।
यथा शमसद् द्विपदे चतुष्पदे विश्व पुष्ट ग्रामे अस्मिन्ननातुरम्॥वही १।११४।१

१० गाथपति मेधपति रुद्र जलाषभेषजम्। तच्छंयो सुम्नमीमहे। वही १।४३।४

११ तिग्ममेको बिभर्ति हस्त आयुध शुचिरुग्रो जलाषभेषज। वही ८।२९।५

रुद्र की रोग निवारिणी शक्ति का पुन पुन उल्लेख किया गया है, वे औषध देते हैं।[1] ये प्रत्येक ओषधि के शासक हैं[2] और सहस्रों औषधियां रखते हैं।[3] रुद्र को हाथ में भेषज लिये हुए और यशस्कर तथा पीयूषमय हाथ वाला[4] चित्रित किया गया है।

अश्विनो और रुद्रदेव के अतिरिक्त इन्द्र अग्नि, अप और मरुत् को भी चिकित्सा से सम्बन्धित माना गया है। देवताओं से सम्बन्धित रोगो और विकृतियो की रहस्यात्मक चिकित्सा को पहले वर्णित किया जा चुका है। पुनयु वाकरण और वन्ध्यात्व का निवारण आदि चमत्कारपूर्ण कृत्यों का उल्लेख भी किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त भी ऋग्वेद मे चिकित्सा सम्बधी ज्ञान की प्राप्ति किंचित् मात्रा मे होती है।

ऋग्वेद मे भेषज' शब्द आया है। इस शब्द से मिलने वाला ईरानी भाषा का शब्द बीसेजा (B.asaga) है या बसज्य' (Beasagya) है। बहुत से शब्द रोगवाचक और ओषधवाचक मिलते हैं।[5]

ऋग्वदिक काल मे वैद्यक एक व्यवसाय था। एक ऋचा मे परिवार के एक सदस्य के व्यवसाय रूप मे वद्यक का उल्लेख किया गया है। कहा गया है—' मैं कवि हूँ पिता वैद्य हैं और माता चक्की पीसने वाली है।'[7] चिकित्सक की परिभाषा करते हुए ऋग्वद मे कहा गया है कि जहाँ ओषधिया राजा की समिति सभा के समान एकत्रित होती हैं और जो मेधावी उनके गुण धर्म का ज्ञाता है वही चिकित्सक कहलाता है क्योकि वह रोगो को शमन करने वाले विभिन्न यत्नो को प्रयुक्त करता है।[8]

(घ) औषधि चिकित्सा—वदिक काल म लोक का जीवन वनस्पतिमय था। सामान्य रूप से छोटे पौधो के लिये औषधि' और बड़े वक्षो के लिये वनस्पति शब्द का प्रयोग प्रारम्भिक काल से होता रहा है तथा इनका युग्म रूप औषधि-

१ स्तुनस्त्व भेषजा रास्यस्मे। ऋग्वेद, २।३३।१२
२ तमुष्टहि य स्विषु सुधन्वा यो विश्वस्य क्षयति भेषजस्य। वही ५।४२।११
३ सहस्र ते स्वपिवात भेषजा मा नस्तोकेषु तनयेषु रीरिष। वही, ७।४६।३
४ हस्ते बिभ्रद् भेषजा वार्याणि शर्म वर्मच्छर्दिरस्मभ्य यसत्।।
वही १।११४।५
५ क्वस्य ते रुद्र मृळयाकुहस्तो यो अस्ति भेषजो जलाष। वही २।३३।७
६ शत ते राजन् भिषज सहस्रमुर्वी गभीरा सुमतिष्टे अस्तु। वही, १।२४।६
भिषक्तम त्वा भिषजां शृणोमि। वही, २।३३।४
७ कारुरह ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना। वही, ९।११२।३
८ यत्रौषधी समग्मत राजान समिताविव।
विप्र स उच्यते भिषग्रक्षोहामीवचातन ॥ वही, १०।९७।६

वनस्पति समस्त वानस्पतिक जगत् का पोषक रहा है। ऋग्वेद मे 'वानस्पत्य' शब्द नही मिलता इसके स्थान पर 'वनिन्' शब्द प्रयुक्त हुआ है।[1] सायण ने इसका अर्थ 'पलाश आदि वृक्ष' किया है। ऋग्वेद के ओषधि-सूक्त में कहा गया है कि ओषधियो के सैकडों उद्भवस्थान हैं।[2] ओषधि-सूक्त से ओषधियो के स्वरूप और उनके गुण-कर्म पर यत्किंचित् प्रकाश पड़ता है।[3] विभिन्न अवयवो के अनेक विकार निर्दिष्ट हैं, जिनमे ओषधियो का प्रयोग किया जाता था।

ओषधियों के प्रयोग से रोग दूर होते हैं, (ओषं रुजं धयति इति ओषधि) ओषधि का अर्थ है—वेदना को हरने वाली वस्तुविशेष।[4] ऋग्वेद मे ओषधि के लिये 'माता' शब्द आया है। इन्हे तेजस्विनी और मातृवत् कहा गया है।[5] पृथ्वी मण्डल पर सबसे पहले वनस्पतियाँ उत्पन्न हुइ क्योंकि कहा गया है जो ओषधि या वनस्पति देवो से तीन युग पहले उत्पन्न हुई थीं उन भरण पोषण करने वाले ओषधियो के सौ और सात स्थान या जातियाँ है।[6] इससे स्पष्ट है कि भू-मण्डल पर सबसे पहले ओषधियाँ उत्पन्न हुइ।

ओषधियाँ सोम से कहती हैं कि—'हे राजन्! जिस रोगी के लिये ब्रह्म का ज्ञान धारण करने वाला वैद्य हमारी योजना करता है हम उस रोगी को रोग से पार करा देती है।[7]

(क) ओषधियों से रोगों का नाश—ओषधियो से रोग का समूल विनाश हो जाता है। देवो से रोग को शान्त करने वाली ओषधियो की याचना की गयी है। कहा गया है—'कि हे मरुत्! जो तुम्हारी रोगनाशक ओषधियाँ हैं जो कल्याण करने वाले तथा जो सुख देने वाले औषध हैं उन रोगो को दूर करने वाले ओषधो को मैं चाहता हू।'[8]

---

१ तमोषधीश्च वनिनश्च गर्भं भूमिश्च विश्वधायस विभर्ति। ऋग्वेद, ७।४।५

२ शत वो अम्ब धामानि सहस्रमुत वो रुह।
अधा शतक्रत्वो यूयमिम मे अगद कृत। वही १०।९७।२

३ वही १०।९७।१ २३

४ वही १०।१६३।१ ६

५ ओषधीरिति मातरस्तद्वो देवीरुपब्रुवे।
सनेयमश्व गा वास आत्मानं तव पूरुष। वही, १०।९७।४

६ वही १०।९७।१

७ ओषधय स वदन्ते सोमेन सह राज्ञा।
यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तं राजन्पारयामसि। वही १०।९७।२२

८ या वो भेषजा मरुत शुचीनि या शतमा वृषणो या मयोभु।
यानि मनुरवृणीता पिता नस्ता शं च योश्च रुद्रस्य वश्मि। वही, २।३३।१३

अन्यत्र भी रोग शमनार्थक ओषधियों के लिये अभ्यर्थता स्पष्ट दिखाई देती है।[1] वीर्यवती ओषधियो के सेवन से रोग के बीजो का विनाश होता है। ओषधियो को ग्रहण कर रोगी की निबलता विनष्ट हो जाती है। जस मृत्यु को प्राप्त हुआ देहधारी मर जाता है, वसे ही रोग की आत्मा भी नष्ट हो जाती है।[2] ओषधियाँ बलवान् पुरुष की भाँति सर्वांग स्थित रोग को समूल विनष्ट कर देती हैं।[3] ओषधियो से निवेदन किया गया है कि जिस रोगी के लिये उसे ग्रहण किया जाए वह नाश को प्राप्त न हो।[4]

ओषधी को गुणवती बनाकर उसका प्रयोग अधिक लाभप्रद है। बहुत सी ओषधियो को परस्पर मिश्रित कर देने से वे अधिक गुणवती होकर उपकारी बन जाती हैं।[5]

इस प्रकार ओषधि सूक्त मे ओषधियो के स्वरूप स्थान वर्गीकरण और उन के कर्मों और प्रयोगो का उल्लेख किया गया है। एक ऋचा मे अश्वावती, 'सोमावती ऊर्जयन्ती और 'उदोजस् नामक ओषधियो का उल्लेख है।[6] ओषधियों के प्रयोग मे युक्तिव्यपाश्रय और दवव्यपाश्रय दोनो तथ्य सन्निहित थे। भिषक ओशधियो का ज्ञाता होता था जिसके द्वारा वह रोगो का निवारण करता था। इसीलिए वह रक्षोहा कहा जाता था।

ऋग्वेद मे त्रिदोषवाद (वात पित्त कफ) का भी सकेत प्राप्त होता है।[8]

(ख) अवयवो से रोग निस्सरण—ऋग्वद मे सर्वांग रोगनाशक सूक्त प्राप्त होता है जिसमे यक्ष्मा रोग से पीडित व्यक्ति के अगो से रोग निस्सरण की प्रार्थना की गई है। रोगी व्यक्ति की आँखो कानो, चिबुक सिर मस्तिष्क और जिह्वा से रोग को पृथक किये जाने का उल्लेख है।[9] कण्ठ की धमनियो अस्थियो की सन्धि, दोनो बाहुओ दोनो कन्धो और स्नायु आदि मे प्राप्त हुए रोग को बाहर

१ य नासत्या पराके अर्वाके अस्ति भेषजम्। ऋग्वद ८।९।१५

२ यदिमा वाजयन्नहमोषधीर्हस्त आदधे।
आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा जीवगृभो यथा। वही १०।९७।११

३ यस्योषधी प्रसर्पथाङ्गमङ्ग परुष्परु।
ततो यक्ष्म वि बाधध्व उग्रो मध्यमशीरिव। वही १०।९७।१२

४ मा वो रिषत्खनिता यस्मै चाह खनामि व।
द्विपच्चतुष्पदस्माक सर्वमस्त्वनातुरम्। वही १०।९७।२०

५ अन्या वो अन्यामवत्वन्यान्यस्या उपावत।
ता सर्वा सविदाना इद मे प्रावता वच। वही १०।९७।१४

६ अश्वावती सोमावतीमूर्जयन्तीमुदोजसम्। वही १०।९७।७

७ विप्र स उच्यते भिषग् रक्षोहामीवचातन। वही १०।९७।६

८ ओमान शयोममकायसूनवे त्रिधा शर्म वहत शुभस्पती। वही १।३४।६।

९ अक्षीभ्या ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्या छुबुकादधि।
यक्ष्म शीर्षण्य मस्तिष्काज्जिह्वाया वि वृहामि ते। वही १०।१६३।१

करने का वर्णन किया गया है।[1] इसी प्रकार सर्वांगों का मक्षन कराया गया है।[2] शरीर के प्रत्येक सन्धि-स्थल लोम आदि सर्वांग में जहाँ कहीं भी रोग की उत्पत्ति हो वहीं से रोग को निकालने का वर्णन है।[3] इस प्रकार अंगों से, लोमों से, पर्व-पर्व में से त्वचा में से रोग को निकालने का उल्लेख है।

(ग) अन्य रोग सम्बन्धी ज्ञान—गर्भाशय और योनि के रोगों को दूर करने के लिये ऋग्वेद मे अग्नि को बताया गया है। अग्नि राक्षसों का संहार करने वाले हैं। वे सब उपद्रवों को शान्त करें और जिन उपद्रवों से स्त्री रोगिणी बनी है उन सबको अग्निदेव दूर कर दें।[4] कहा गया है—जिन पिशाचों राक्षसों और रोग व्याधियों ने देह को आक्रान्त किया है उन सबको अग्निदेव विनष्ट करें।[5] जो रोग रूप पिशाच नारी के गर्भ को नष्ट करना चाहता है, उसे हम शरीर से दूर भगाते हैं।[6] जो रोग निश्चेष्ट कर तुम्हारे बल को खींच लेता है उसे हम शरीर से दूर करते हैं। जो रोग अनजाने या भूल से तुम्हें प्राप्त हुआ है और जो संतान नाश के लिये तत्पर हैं[8] जो व्याधि आलस्य रूप निद्रा के द्वारा प्राप्त हुई है वह गर्भस्थ शिशु को नष्ट कर देने को तत्पर है उसे हम तुम्हारे शरीर से दूर करते हैं।[9] प्रस्तुत सूक्त मे प्रसूति सम्बन्धी ज्ञान पर प्रकाश पड़ता है।

(घ) विष और उनका प्रतिकार—विषों म सर्प का विष सर्वाग्रणी है। मित्रावरुण से रक्षक बनकर घातक विषों से रक्षा करने का अनुरोध किया गया

---

१ ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्य कीकसाभ्यो अनूक्यात्।
यक्ष्म दोषण्यमसाभ्यां बाहुभ्यां वि वृहामि ते। ऋग्वेद १०।१६३।२

२ वही १०।१६३।३ ५

३ वही १०।१६३।६

४ ब्रह्मणाग्नि संविदानो रक्षोहा बाधतामित।
अमीवा यस्ते गर्भ दुर्णामा योनिमाशये। वही १०।१६२।१

५ यस्ते गर्भममीवा दुर्णामा योनिमाशये।
अग्निष्ट ब्रह्मणा सह निष्क्रव्यादमनीनशत्। वही १०।१६२।२

६ यस्ते हन्ति पतयन्तं निषत्स्नु य सरीसृपम्।
जातं यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि। वही, १०।१६२।३

७ यस्त ऊरु विहरत्यन्तरा दम्पती शये।
योनिं यो अन्तरारेळिह तमितो नाशयामसि। वही, १०।१६२।४

८ यस्त्वा भ्राता पतिर्भूत्वा जारो भूत्वा निपद्यते।
प्रजायस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि। वही, १०।१६२।५

९ यस्त्वा स्वप्नेन तमसा मोहयित्वा निपद्यते।
प्रजां यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि। वही, १०।१६२।६

है।[1] छिपकर चलने वाले सर्प ही सम्भवतया विषैले होते हैं क्योंकि उनसे बचाव के लिये देवो की प्रार्थना की गई है।[2] वक्षादि की ग्रन्थियो मे भी विष उत्पन्न होता है, जो पैरो के सँधि-स्थानों में सूजन उत्पन्न कर देता है।[3] शाल्मली वृक्ष को भी विष का आश्रय स्थल कहा गया है नदियो मे उत्पन्न होने वाली गुल्म एवं लता आदि मे उत्पन्न विष से रक्षा हेतु विश्वेदेवा को सम्बोधित किया गया है।

कुछ सप अत्यधिक विषैले और कुछ विष रहित होते है। कुछ जल मे रहने वाले साँप होते हैं परन्तु जब ये जलीय अथवा स्थलीय सप काटते हैं तो शरीर मे दाह उत्पन्न करते हैं और वह दाह सम्पूर्ण शरीर मे फल जाता है।[5] साँप अनेक स्थलो पर निवास करते हैं।[6] पशुओ और मनुष्यो की इन्द्रियाँ भी जब विश्राम करने लगती है तब ये रेंगने वाले जीव (सप) बाहर आते हैं।[7] सर्पों को सुई के समान छेदने वाला और महाविषला कहा गया है।[8] एक ऋचा मे बि छू को विषला कहा गया है।[9]

ऋग्वेद मे विष को दूर करने के लिये ओषधियो का प्रयोग बताया गया है और इनकी सख्या नि यानबे गिनाई गई है।[10] मधुला नामक औषधि विष को मीठा बना दती है उसे अमृत बनाती है।[11] मोरनियो और सात नदियो को विष का अपसारक बताया गया है।[12] बिच्छू के विष को भी दूर किया जा सकता है।[13]

---

१ आ मा मित्रावरुणह रक्षत कुलाययद्विश्वय मा न आ गन्।
अजकाव दुद शीक ति ो धे मा मा पद्येन रपसा वि त्सरु। ऋग्वेद ७।५०।१
२ वही ७।५।२ ३
३ यद्विजामनपरुषि व दन भुवदष्ठीवन्तौ परि कुल्फौ च दहत्। वही ७।५०।२
४ यच्छ नगौ भवति य नदीषु यन्नोषधीभ्य परि जायते विषम्। वही ७।५०।३
५ कङ्कतो न कङकतोऽथो सतीनकङ्कत।
द्वाविति प्लुषी इति यदृष्टा अलिप्सत। वही १।१९१।१
६ वही १।१९१।३
७ वही १।१९१।४ ५
८ ये अस्या ये अङग्या सूचीका ये प्रकङ्कता। वही १।१९१।७
९ वश्चिकस्यारस विषमरस वश्चिक ते विषम्। वही १।१९१।१६
१० नवाना नवतीना विषस्य रोपुषीणाम्। वही, १।१९१।१३
११ अस्ययो जन हरिष्ठा मधु त्वा मधुला चकार। वही, १।१९१।१० व
११ १२ १३
१२ त्रि सप्त मयूर्य सप्तस्वसारो अग्रुव।
तास्ते विष वि जभ्रिर उदक कुम्भिनीरिव। वही १।१९१।१४
१३ वही १।१९१।१६

सुबहु ने थोडे वाले सुम को विष को दूर करने वाला कहा गया है।[1]

ऋग्वेद मे इनके अतिरिक्त भी सौर चिकित्सा, जल चिकित्सा वायु चिकित्सा और मानस चिकित्सा आदि के सकेत मिलते हैं।

(आ) जल चिकित्सा

ऋग्वेद मे अन्य देवों के साथ अप को भी देवता माना गया है। उनसे आरोग्य की कामना भी गई है। जल मे सम्पूण ओषधियो को बताया गया है, वही सब ओषधियाँ देता है।[2] जल ओषधि रूप है यह सभी रोगो को दूर करने वाली ओषधि के समान गुणकारी है यही जल समस्त रोगो की दवा है यह जल तेरे लिये औषध बनाये।[3]

प्रस्तुत ऋचा मे जल को सब रोगो की ओषधि कहा गया है। अन्यत्र भी जल को श्रेष्ठ उपचारक कहा है।[4] योग शास्त्र मे जल नेति आदि अनेक ऐसे उपचार कहे गय है जिससे जल द्वारा बड-बडे रोगों का विनाश हो सकता है। जल का प्रयोग मुख से गुदा से उष्ण और शीत स्नान से, पट्टियाँ रखने से वाष्प और नाना ओषध के कषायो से किया जा सकता है। सम्भवत ऋग्वेद भी सुयोग्य जल चिकित्सा की योग्य रीति का ही परिचायक है।

(इ) सौर चिकित्सा

सूय किरणो द्वारा प्राप्त चिकित्सा को सौर-चिकित्सा कहा गया है। कृमि जिनक लिये रक्षस' निशाचर और यातुधान' शब्द आये हैं वे सूर्य से नष्ट होते है। सूय चराचर की आत्मा है।[5] मनुष्य पशु पक्षी वक्ष वनस्पति ओषधि तृण आदि सबका जीवन सूय के प्रकाश पर ही अवलम्बित है। सूय आयु को बढ़ाता है।[6] सूय बीमारी और प्रत्येक प्रकार के दुःस्वप्न का नाश करते है।[7] जीवन का अथ ही सूय उदय का दशन करना है।[8] सभी प्राणी सूय पर आश्रित

---

१ ऋग्वेद १।११६।१६ १० ११ १२

२ अप्सु मे सोमो अब्रवी दन्तर्विश्वानि भेषजा।
अग्नि च विश्वशंभुवमापश्च विश्वभेषजी। वही १।२३।२०

३ आप इद्वा उ भेषजीरापो अमीवचातनी।
आप सवस्य भेषजीस्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम्। वही १०।१३७।६

४ यूय हिष्ठ भिषजो मातृतमा विश्वस्य स्थातुर्जगतो जनित्री। वही, ६।५०।७

५ सूय आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। वही १।११५।१

६ सोम राजन् प्र ण आयू षि तारीरहानीव सूर्यो वासराणि। वही ८।४८।७

७ तेनास्ममद्विश्वामनिरामनाहुतिममामीवामप दु ष्वप्न्य सुव। वही १०।३७।४

८ ज्योकपश्यात्सूर्यमुच्चरन्तम्। वही, ४।२५।४
पश्येम नु सूयमुच्चरन्तम्। वही ६।५२।५

हैं ।[1] इसीलिये कहा गया है कि सूर्य के प्रकाश से हमारा कभी वियोग न हो ।[2] सूर्य सभी जन्तुओं को विनष्ट करते हुए पर्वतों से उदय होता है ।[3]

सूर्य हृदयरोग के चिकित्सक कहे गये हैं । कहा गया है—'हे हितकारी तेजस्वी सूर्य आज ऊन्य होते हुए तुम हृन्य रोग को नष्ट करो ।[4] आगामी ऋचाओं से स्पष्ट किया गया है कि— वह रोग जिससे रोगी का शरीर हरा सा हो जाता है तोते पेड़ आदि हरी वनस्पतियो मे ही रहे अर्थात् मनुष्यो को कष्ट न दें । शरीर के हरा बताने से ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त रोग आधुनिक भाषा मे पीलिया कहा जाने वाला रोग था जो सौर चिकित्सा से विनष्ट हो जाता है । वर्तमान समय मे भी पीलिया के रोगी के लिये सूर्य की किरणें लाभप्रद कही जाती हैं । इस प्रकार मनुष्य स्वस्थ होकर अपने से द्वेष करने वाले शत्रुओ पर अधिकार करे वह कभी भी अपने शत्रुओ के अधिकार मे न आये । ये शत्रु रोगो के जन्तु ही हैं, जिन पर सूर्य की दृष्टि रहती है अर्थात् जो सूर्य की किरणो का उत्तम उपयोग करता है वह कभी भी इन रोग जन्तुओ के अधिकार मे नही जाता ।

इस प्रकार विविध कृमियो और रोगो को सूर्य विनष्ट करता है । ऋग्वैदिक आर्य सौर चिकित्सा मे विश्वास रखते थे । आज भी सम्भवत सूर्य की किरणो से प्राप्त स्वास्थय लाभ को यथोचित रूप से प्राप्त करने के लिये ही निवास-गृहों का द्वार पूर्व दिशा मे बनाना ही अधिक उपयोगी मानते है ।

(ई) वायु चिकित्सा

वायु द्वारा भी शरीर से रोगो की निवृत्ति सम्भव है । ऋग्वेद मे वायु को गुणकारी ओषधि के समान कहा है । उनसे आयु को बढ़ाने की मगल कामना की गई है ।[6] वायु मे अमरत्व की निधि है जिससे यह अनुरोध किया गया है कि वह

---

१ सूर्यस्य चक्षु रजसस्यावृत्त तस्मिन्नार्पिता भुवनानि विश्वा । ऋग्वेद १।१६४।१४

२ आ ते पितमरुता सुम्नमेतु मा न सूर्यस्य सदृशो युयोथा । वही २।३३।१

३ वही १।१९१।६

४ उद्यन्नद्य मित्रमह आरोहन्नुत्तरां दिवम् ।
हृद्रोगं मम सूर्य हरिमाणं च नाशय । वही १।५०।११

५ शुकेषु मे हरिमाणं रोपणाकासु दध्मसि ।
अथो हारिद्रवेषु मे हरिमाणं निदध्मसि । वही १।५०।१२
उदगादयमादित्यो विश्वेन सहसा सह ।
द्विषन्तं मह्यं रन्धयन् मो अहं द्विषते रधम् । वही १।५०।१३

६ वात आ वातु भेषजं शम्भु मयोभु नो हृदे । प्रण आयूंषि तारिषत् ।
वही १०।१८६।१

हमारे शरीर को जीवन दे ।[1]

ऋग्वेद में प्राण अपान दोनों वायुओं का निर्देश किया गया है । प्राण से शरीर में बल भेजने और अपान से शरीर के पाप रोगों को बाहर निकालने के लिये कहा गया है—'वायु दो हैं एक सिंधु से अथवा समुद्र से आने वाला और दूसरा भूमि के ऊपर ही दूर से आने वाला है । इनमें से एक वायु तेरे पास बल लाता है और दूसरा दोष दूर करता है ।'[2] ये दो वायु-पुरोवात (प्राण) और पश्चाद्-वात (अपान) समुद्र से लेकर अथवा समुद्र से भी अधिक दूर से (सिर से लेकर पैर के नख तक सम्पूर्ण शरीर मे) चलती है । एक प्राण शरीर मे आकर वहाँ रक्त को शुद्ध करता है और शरीर को आरोग्य तथा बलशाली बनाता है दूसरा अपान जो शरीर से उच्छ्वास रूप मे बाहर निकलता है और शरीर का दोष दूर करता है । श्वास और उच्छ्वास ऐसे इनके नाम हैं । एक बल भरता है और दूसरा दोष दूर करता है ।

श्रीपाद दामोदर सातवलेकर जी ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि भूमि पर भी समुद्र से आने वाला वायु और भू प्रदेश पर से आने वाला वायु ऐसे दो वायु है । समुद्र पर से आने वाले वायु मे प्राण शक्ति का बल अधिक होता है और भूमि पर से आने वाले वायु मे दोष दूर करने की शक्ति अधिक होती है वायु चलना दैवी घटना है किन्तु वायु द्वारा आरोग्य प्राप्त करना मनुष्य के अधीन है ।

एक अन्य ऋचा मे कहा गया है—'हे वायो ! ओषधि गुण को यहाँ मेरे पास ले आ । जो दोष है उसे तू मुझसे दूर ले जा । तू सब ओषधियो का स्वरूप है तू दवो का दूत होकर इस जगत् मे घूम रहा है ।'[3] वायु एक स्थान की ओषधि गुणो को साथ लाता है और दूसरे स्थान पर पहुँचाता है और वहाँ के रोग बीजो को दूर करता है ।

जगलों और पर्वतो पर यह स्पष्ट हो जाता है कि—केवल ओषधि की सुगध से मनुष्य का पित्त बढ़ता है चक्कर आता है और कई स्थलो पर अपूर्व आह्लाद प्रकट होता है । यह केवल ओषधियो की सुगध से ही होता है । सम्भवत वायु के इसी गुण के कारण हवन चिकित्सा प्रचलन मे आई होगी । हवन मे नाना प्रकार की ओषधियाँ होती हैं । अग्नि उनके अणु बनाकर वायु को देता है । वायु चारो

१ यददो वात ते गृहे मतस्य निर्घिहित ।
ततो नो देहि जीवसे । ऋग्वेद १०।१८६।३

२ द्वाविमौ वातो वात आ सिन्धोरा परावत ।
दक्ष ते अन्य आ वातु परान्यो वातु यद्रप वही १०।१३७।२

३ आ वात वाहि भेषज वि वात वाहि यद्रप ।
त्व हि विश्वभेषजो देवाना दूत ईयसे ।। वही, १०।१३७।३

ओर उसे फैलाता है और आरोग्य उत्पन्न करता है। वनस्पतियों की नैसर्गिक सुगंधि से भी रोग के अकुर दूर हो जाते हैं। यथा—तुलसी और नीलगिरी आदि वृक्ष से हिम-ज्वर के बीज दूर होते हैं। इसी प्रकार उग्र गन्धी ओषधियों की गन्ध से ही काय होता रहता है।

ऋग्वेद मे भी वायु चिकित्सा का सकेत प्राप्त होता है। उपर्युक्त सम्पूर्ण विवरण वायु चिकित्सा की पुष्टि मे सहायक सिद्ध होता है ।

(उ) स्पर्श चिकित्सा

दशम मण्डल की एक ऋचा मे कहा गया है—'वाणी को प्रथम प्रेरणा करने वाली मेरी जिह्वा है तथा नीरोगिता करने वाले इन दस शाखाओं वाले हाथो से मैं तुम्हे स्पश करता हू।"[1] इसमे वसिष्ठ ऋषि कहते हैं कि उनके हस्त स्पश मे अत्यधिक प्रभाव है। शब्दों मे भी बडा सामर्थ्य है इनके प्रभाव से सब रोग दूर हो जाते है।

वर्तमान समय मे सम्भवत इसी को मस्मेरिज्म कहते हैं। मस्मर नामक एक यूरोपियन विद्वान् थ। उन्होने प्रयोगो के आधार पर यह निर्णय लिया कि हस्त स्पश और धीरज देने वाले शब्दो के प्रयोग करने से रोगी के रोग दूर हो सकते हैं। ऋग्वैदिक काल से ही वसिष्ठ इसके प्रवर्त्तक और प्रचारक प्रतीत होते हैं। इस ऋषि ने भी यही वाणी का प्रभाव तथा हस्त स्पश से रोग दूर करने की विद्या सिद्ध की थी। ऋग्वेद इस ओर सकेत करता है प्राचीन समय से ही यह विद्या (मैस्मेरिज्म) भारत मे विद्यमान थी।

(ऊ) मानस चिकित्सा

स्पश चिकित्सा की भाँति रोगी को न केवल स्पश करके वरन् कल्याणकारी विचारो के प्रभाव को उसके मन पर डालकर और स्थिर बनाकर भी रोग से निवृत्ति कराई जा सकती है। अत्रि ऋषि मानस चिकित्सा विषयक विचार प्रकट करते हुए कहते हैं— (हे रोगी) तेरे पास सुख करने वाले और आरोग्य बढ़ाने वाले बलों के साथ मैं आया हूँ। तेरे अन्दर कल्याण करने वाले बल को मैंने भर दिया है जो तुम्हारे अन्दर रोग था वह दूर कर दिया है।"[2]

यह मानस चिकित्सा है। इससे अन्दर ही अन्दर की मानस शक्ति से रोग दूर होते है। चिकित्सक के प्रति श्रद्धा भाव रोग को दूर करने का साधन बन जाता है। यह व्यक्ति विशेष योगी है अथवा इसकी रोग प्रशमन शक्ति अति तीव्र

१ हस्ताभ्या दशशाखाभ्य जिह्वा वाच पुरोगवी।
नामयित्नु या त्वा ताभ्या त्वोप स्पृशामसि। ऋग्वेद १०।१३७।७

२ आ त्वागम शन्तातिभिरथो अरिष्टतातिभि ।
दक्ष ते भद्रमाभाष परा यक्ष्म सुवामि ते। वही, १०।१३७।४

है। इसका योग सामर्थ्य बढ़ा हुआ है, इस प्रकार की बातों से रोगी श्रद्धा करने लगता है। यह मनुष्य मात्र ही नहीं अनेक स्थान विशेष भी यथा—देव देवता का स्थान मूर्ति तालाब अथवा वृक्ष आदि रोगी को आरोग्यता देने मे समर्थ होते हैं। जिसके विषय मे रोगी के मन मे श्रद्धा उत्पन्न होगी वही श्रद्धा उसका आरोग्य बढ़ायेगी। अत्रि ऋषि ने मानस चिकित्सा को बहुत महत्त्वपूर्ण कहा है। इसी को हम विचार अथवा भावना चिकित्सा का नाम भी दे सकते हैं।

उपर्युक्त अध्ययन यह प्रस्तुत करता है कि ऋग्वैदिक काल मे निसर्गोपचार का प्राधान्य रहा। विविध ऋषियों के विविध विचार उनकी तत्सम्बंधी धारणा का परिचय देते हैं। ऋग्वेद में चिकित्सा सम्बन्धी प्राप्त ज्ञान बीज रूप में हमे मिलता है।

परिशिष्ट
सन्दर्भ-ग्रंथ-सूची

वैदिक साहित्य

अथर्ववेद संहिता (मूल)	वैदिक यन्त्रालय अजमेर।
अथर्ववेद संहिता भाष्य	सायण वैदिक शोध संस्थान होशियारपुर १९६ ।
ऋग्वेद संहिता (मूल)	वैदिक यन्त्रालय, अजमेर सं० २०१०।
ऋग्वेद संहिता भाष्य	स्वामी दयानन्द सरस्वती वैदिक यन्त्रालय अजमेर।
ऋग्वेद संहिता भाष्य	सायण वैदिक संशोधन मण्डल पूना।
ऋग्वेद संहिता	जयदेव शर्मा हिन्दी भाष्य आर्य साहित्य मण्डल अजमेर म १९६२।
ऋग्वेद संहिता	सातवलेकर सुबोध (हिन्दी भाष्य) स्वाध्याय मण्डल पारडी प्रथम भाग १९६ द्वितीय भाग १९७०, तृतीय भाग १९७८ चतुर्थ भाग १९८ ।
मैत्रायणी संहिता	सातवलेकर स्वाध्याय मण्डल आैंध संवत् १ ९८।
तैत्तिरीय संहिता	सायण भाष्य आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली पूना।
वाजसनेयी संहिता	महीधर भाष्य सहित निर्णय सागर संस्करण बम्बई १९१२।
ऐतरेय ब्राह्मण	सायण भाष्य हाग द्वारा सम्पादित बम्बई १८६३।
तैत्तिरीय ब्राह्मण	सायण भाष्य आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली पूना।
शतपथब्राह्मण	सायण भाष्य वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई।
बृहद्देवता	हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस कैम्ब्रिज १९०४।
निरुक्त (सनिघण्टु)	(दुर्गाटीका) बाम्बे संस्कृत और प्राकृत सीरिज।
निरुक्त	(ब्रह्ममुनि टीका सहित) आर्य साहित्य मण्डल अजमेर।
आपस्तम्ब धर्मसूत्र	चौखम्बा संस्कृत सीरीज बनारस १९३६।
गौतम धर्मसूत्र	अड्यार लायब्रेरी सीरीज मद्रास १९४८।
बौधायन धर्मसूत्र	चौखम्बा संस्कृत सीरीज बनारस १९३४।
वसिष्ठ धर्मसूत्र	गवर्नमैंट सैन्ट्रल बुकडिपो बम्बई १८६३।
आश्वलायन गृह्य सूत्र	आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली १९३६।
बौधायन गृह्यसूत्र	संपा० आर शामशास्त्री मैसूर १९२०।
मानव गृह्यसूत्र	संपादक, एफ० नॉवर सैण्ट पीटर्सबर्ग १८९७।
अत्रि स्मृति	गुरु मण्डल ग्रन्थमाला कलकत्ता १९५२।
पराशर स्मृति	बाम्बे संस्कृत एण्ड प्राकृत सीरीज।

मनुस्मृति	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई १९२९।
याज्ञवल्क्य स्मृति	आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज पूना, १९०४।
महाभारत	भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना।
गीता	गीता प्रेस, गोरखपुर, संवत् २००१।

अन्य संस्कृत ग्रन्थ

कालिदास	अभिज्ञान शाकुन्तलम् (एम० आर० काले का संस्करण) गोपाल नारायण एण्ड को, बम्बई १९३४।
दण्डी	काव्यादर्श चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१, १९५८।

संस्कृत-कोश

आदर्श हिन्दी संस्कृत कोश	रामस्वरूप शास्त्री, चौखम्बा वाराणसी १९५७।
ऋक् सूक्त वैजयन्ती कोश	सं० हरि दामोदर वेलणकर, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना १९६५।
वैदिक कोश	डा० सूर्यकान्त वाराणसी १९६३।
शब्द कल्पद्रुम कोश	मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली १९६१।
संस्कृत हिन्दी कोश	वामन शिवराम आप्टे मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली १९६६।

अन्य ग्रंथ

आचार्य बलदेव उपाध्याय	वैदिक साहित्य और संस्कृति शारदा संस्थान वाराणसी १९६७।
डा० कृष्णदेव उपाध्याय	हिन्दू विवाह की उत्पत्ति और विकास भारतीय लोक संस्कृति शोध संस्थान वाराणसी १९७४।
उपाध्याय भगवतशरण	प्राचीन भारत का इतिहास ग्रन्थमाला कार्यालय पटना १९४९।
गुप्ता मोतीलाल	भारतीय सामाजिक संस्थाये राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर।
घाटे	घाटे द्वारा ऋग्वेद पर व्याख्यान संस्कृत विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली, १९७६।
चन्द्र राय गोविन्द	वैदिक युग के भारतीय आभूषण चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, १९६५।
जोशी लक्ष्मण शास्त्री	(अनुवादक डा० मोरेश्वर दिनकर पराडकर मराठी) वैदिक संस्कृति का विकास हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर प्रा० लि० बम्बई-१९५७।
ठाकुर प० आद्यादत्त	वेदों में भारतीय संस्कृति हिन्दी समिति, सूचना विभाग उ० प्र० लखनऊ, १९६७।

दीक्षित लक्ष्मीदत्त — वेद मीमांसा ईस्टर्न बुक लिंकर्स दिल्ली १६८० ।
देवराज (डा०) — भारतीय संस्कृति हिन्दी समिति सूचना विभाग उ० प्र० लखनऊ १६६६ ।
, — संस्कृति का दार्शनिक विवेचन हि ी समिति सूचना विभाग उ० प्र० लखनऊ १६७२ ।
पाण्डेय प० राजबली (डा०) — हिन्दी संस्कार चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी १६५७ ।
भगवद्दत्त (प०) — वदिक वाङमय का इतिहास १६७८ ।
भट्टाचाय डा० रमाशकर — पुराणगत वेद विषयक सामग्री का समीक्षात्मक अध्ययन हि दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, १६६५ ।
भीमदेव मुनीश्वरदेव ब्रजन दन सायुज्यभाषा ऋग्वेदपदपाठानुक्रमणिका ।
राय म मथ — प्राचीन भारतीय मनोरजन भारतीय विद्याभवन इलाहाबाद ।
रेउ प० विश्वेश्वरनाथ — ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दष्टि मोतीलाल बनारसी दास दिल्ली वाराणसी पटना १६६७ ।
विद्यालकार अत्रिदव — आयुर्वेद का वहद् इतिहास इण्डियन यूनिवर्सिटीज प्रेस इलाहाबाद १६७६ ।
विद्यालकार डा० निरूपण — भारतीय धर्मशास्त्र मे शूद्रो की स्थिति साहित्य भण्डार मेरठ १६७१ ।
विद्यालकार सत्यकेतु — प्राचीन भारतीय इतिहास का वदिक युग श्री सरस्वती सदन मसूरी १६७६ ।
वेद्यालकार प्रशा त कुमार — वदिक साहित्य मे नारी वासुदव प्रकाशन दहली १६६४ ।
शर्मा डा० गणेश दत्त — ऋग्वेद मे दार्शनिक तत्त्व विमल प्रकाशन, गाजियाबाद १६७७ ।
शर्मा डा० मु शीराम — वदिक संस्कृति और सभ्यता ग्रन्थम रामबाग कानपुर १६६८ ।
शर्मा प० रघुन दन — वैदिक सम्पत्ति शेठ शूर जी बल्लभदास वर्मा, मुम्बई वि० २००८ ।
शास्त्री अलगूराय — ऋग्वेद रहस्य अधिष्ठाता कासीराम प्रकाशन विभाग लखनऊ १६५१ ।
शास्त्री डा० शिवराज — ऋग्वेद में पारिवारिक सम्बन्ध लीला कमल प्रकाशन मेरठ १६६२ ।
शास्त्री आचार्य वद्यनाथ — वैदिक इतिहास विमर्श आर्य साहित्य मण्डल, लि०

	अजमेर, १९६१।
शास्त्री चारुचन्द्र	(अनुवादक) ए० ए० मैक्डॉनल संस्कृत साहित्य का इतिहास प्रथम भाग, वैदिक युग चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९६२।
स्वामी दयानन्द	सत्यार्थ प्रकाश गिरिजाचन्द्र वैदिक संस्थान दिल्ली, सं० २०१३।
सातवलेकर स० दामोदर	भारतीय संस्कृति स्वाध्याय मण्डल, पार्डी, १९६६।
सूर्यकान्त (डा०)	वैदिक देवशास्त्र (हिन्दी अनुवाद) ए० ए० मैक्डॉनलकृत वैदिक माइथोलोजी भारत भारती लि० दिल्ली १९६२।
,, ,,	वैदिक धर्म और दर्शन (हिन्दी अनुवाद) ए० बी कीथ कृत (दी रिलीजन एण्ड फिलास्फी आफ द वेद एण्ड उपनिषदाज) मोतीलाल बनारसीदास देहली १९६३।
रणजीत सिंह	धर्म की हिन्दू अवधारणा सैन्ट्रल बुक डिपो इलाहाबाद १९७७।
राहुल सांकृत्यायन	ऋग्वैदिक आर्य किताब महल इलाहाबाद दिल्ली, १९५७।
डा० रमाशंकर त्रिपाठी	प्राचीन भारत का इतिहास मोतीलाल बनारसीदास १९६५।

अंग्रेजी ग्रंथ

1 Aguilar H	The Sacrifice in the Rgveda, Bhartiya Vidya Prakashan Varanas, 1976
2 Altekar A S	The Position of Women in Hindu Civilization, Benaras Hindu University 1935
3 Apte Usha M	The Sacrament of Marriage in Hindu Society Ajanta Publication (India) Delhi 1978
4 Bhagwandar Dr	The Science of Social Theosophical Publishing House Madras, 1932
5 Bhatt G K	Vedic Theams Ajanta Publications, Delhi 1978
6 Buddha Prakash	Rigveda and the Indus Valley Civilization, Vishveshvaranand Institute Hoshiarpur 1966
7 Chakraverty Chanda	Common Life in Rgveda and Atharvaveda Punthi Pustak Calcutta, 1977

8 Chandra A N	The Rgvedic Culture and Indus Civilization Ratna Prakashan Culcutta 1980
9 Chatterjee Hemberi Shastri	The Social Background of the forms of Marriage in Ancient India Sanskrit Pustak Bhandar Calcutta 1972 (Vol i)
10 Chaub y B B	Tr atment of Nature in the Rg Veda Vedic Sahitya Sadan Hoshiarpur 1970
11 Das A C	Rigvedic India R Cambray and Co Cal cutta 1927
12	Rigvedic Culture R Cambray & Co Cal cutta and Madras 1925
13 Deshmukh P S	Religion in Vedic Literature Oxford Univer sity Press London Newyork Bombay 1933
14 Dutt N K	Origin and Growth in India Calcutta 1951
15 Griffith R T H	The Hymns of the Rigveda Chowkhamba Sanskrit Series Varanasi 1971
16 Kaegi Adolf	Life in Ancient India (Translated by R Arrowsmith) Sushil Gupta Ltd Calcutta 1950
17	The Rigveda Amarco Book Ageney New Delhi 1972
18 Kane P V	History of Dharmshastra Vol I to V Bhan darkar Oriental Research Institute Poona 1941
19 Kapadia K M	Marriage and Family in India III Edition Oxford University Press 1966
20 Keith A B	The Religion and Philosophy of the Vedas and Upanishads Vol I II Hamphrey Milford London 1925
21 Ludwik Sternback	Indian Riddles Vishveshvaranand Vedic Research Institute Hoshiarpur 1975
22 Macdonell A A	A History of Sanskrit Litarature Motilal Binarsidass New Delhi Banaras Patna 1962
23	A Vadic Reader Clarendon Press Oxford 1917
24	Vedic Mythology K G Tubner Strassburg 1897

25 Majumdar D N — Marriage and Culture of India Asia Publishing House Bombay 1961

26 Majumdar R C — An Advanced History of India Machillan & Co Ltmited London 1953

27 Majumdar R C (General Editor) — The Vedic Age (The History and Culture of the Indian culture) George Allen & unwin Ltd London 1951)

28 Maxmullar Fr drick — The Vedas Sushil Gupta (India) Limited, Culcutta 1956

29 Maxmullar — India What can Teach us Longmans Green & Co Bombay New York 1899

30 Mitra Priti — Life and Society in the Vedic Age Sanskrit Pustak Bhandar Calcutta 1966

31 Muir J — Original Sanskrit Texts (I to V Volumes) Tribner & Co London 1884

32 Mukhopadhyaya Girindranath — History of Indian Medicine University of Calcutta 1926

33 Parab B A — The Miraculous and Misterious in the Vedic Literature Popular Book Depot Bombay 1952

34 Prabhu P H — Hindu Social Organisations Popular Prakashan Bombay 1979

35 Bakha Krishanan S — The Hindu View of Life Ellen and Unwin London 1927

36 — History of Indian Philosophy Vol 1 & 2 Ellen and Unwin London 1927

37 Ragozin Z A — Vedic India T Fisher Unwin Ltd London 1915

38 Renu Lui — Vedic India Indological Book House Delhi 1971

39 Sen N B — Glorious Thoughts of Vedas New Book Society of India New Delhi 1966

40 Thomas P — Indian Women Through the Ages Asia Publishing House, New York 1964

41 Thomas P — Hindu Religion Customs and Manners D B Taraporevala Sons & Co Ltd

42 Upadhyaya B S — Women in Rigveda S Chand & Co (Pvt.) Ltd New Delhi 1974

43. Westermark E — History of Human Marriage Vol I III Mecmillan London 1926
44 Wilson H H — Rigveda Samhita (7 Volumes) Ashtekar & co Poona 1927
45 Winternitx M — A History of Indian Literature Calcutta 1926

आकर-ग्रन्थ

46 Benton Willam — Encyclopaedia Britannica (23 Vol.) London 1768
47 Buck Corl Darling — A Dictionary of Selected Synonyms in Principal Indo European Language The University of Chicago Press Chicago
48 Dandekar R N — Vedic Bibliography (Ist Vol) Karnataka Publishing House 1946
Vedic Bibliography (2nd Vo) University of Poona 1961
49 Hastings James — Encyclopaedia of Religion and Ethics (12 Vol) Edinburgh T & T Clark New York 1959
50 Macdonell A A & Keith A B — Vedic Index of Names and Subjects Vol I & II Motilal Banarsidas Delhi Patna Varanasi 1967
51 Maxmullar Fredrict — Biographies of Words Longmans Green & Co London 1884
52 Monier Williams — A Sanskrit English Dictionary Motilal Banarsidas Delhi 1979
53 Roth — St Petersburg Dictionary
54 Seligman Edwin R A — Encyclopaedia of the Social Sciences Vol VI The Macmillan Company New York 1949

पत्र और पत्रिकायें

अमर ज्योति — एम० एम० एच० कॉलेज पत्रिका, गाजियाबाद १९७७ ७८ ।
न्यूज एण्ड व्यूज् — मेरठ यूनिवर्सिटी जरनल मेरठ १९७८ ।

Annals of Bhandarker Oriental Research Institute Vol xx Poona 1939 Proceedings and Transactions of All India Oriental Conference (15th Session Bombay 1949)